महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
श्रीभागवत विवृति

सुबोधिनी

हिन्दी भावानुवाद

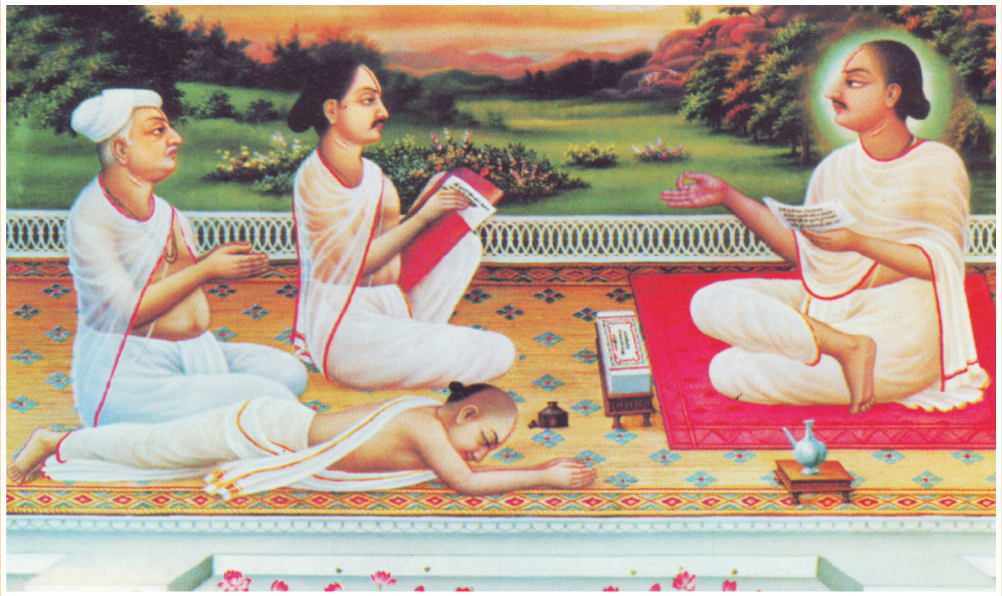

तृतीय स्कन्ध

अध्याय १–७

खंड ४/क

जय श्रीकृष्ण

श्रीवल्लभाधीशो जयति

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित

श्रीभागवत विवृति

'सुबोधिनी' तृतीय स्कन्ध

हिन्दी भाषानुवाद

प्रथम खंड, अध्याय १–१४

(कुल दो खंड)

अनुवादक:

गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु(पुष्करणा), जोधपुर

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

... तब व्यासजीने भागवतपुराण प्रकट किया जिसके अभ्यास (श्रवण–स्मरण–कीर्तन) से लोग मुक्त हो सकते हैं, बशर्ते भागवतका आजीविकार्थ उपजीवन न किया जाय. यह श्रीमद्भागवत एक श्रेष्ठ साधन है. अतः प्रयत्नपूर्वक, किसी लौकिक हेतु या दम्भ के बिना, आदरके साथ इसका पठन करना चाहिये. भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कण्ठमृ ही क्यृ न अटक जायें परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं ही करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके अन्य किसी भी उपायसे अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध.२।६७, २४३, २५४).

जो लोग भगवद्गुणगानको अपनी आजीविकाका साधन बनाते हैं ऐसे गुणगानकर्ता गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये जमीनमृ खोदे गये गहरे गढ्ढेकी तरह होते हैं. (जलभेद.५)

मुंह–हाथ–पांव आदि धोनेमृ प्रयुक्त गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमृ जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे अधम होते हैं दक्षिणा लेकर कथा करनेवाले ...आशय यह है कि गढ्ढेमृ भरे हुवे प्रक्षालनोच्छिष्ट गंदे जलकी तरह इन गानोपजीविअृका भाव सत्पुरुषृकेलिये ग्राह्य नहिं होता ... पौराणिकृके भावृका निरूपण करनेके बाद जो गायकृका निरूपण किया गया है वह यह दिखलानेकेलिए कि (आजीविकार्थ पुराणृका उपयोग करनेवाले) पौराणिक भी ऐसे गायकृके तुल्य नीच ही होते हैं.

(श्रीकल्याणरायविरचित जलभेदविवृति ५).

।। प्रासंगिक ।।

यह ज्ञापित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीभागवतकी विवृति 'सुबोधिनी'के हिन्दी अनुवादका पुनः प्रकाशन किया जा रहा है.

यह तो सुविदित है कि मूल संस्कृत सुबोधिनीका पुनः प्रकाशन पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीके सम्पादकत्वमॅ श्रीवल्लभविद्यापीठश्रीविट्ठलेश-प्रभुचरण आश्रम ट्रस्ट, कोल्हापुर द्वारा किया गया है.

सुबोधिनीके गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी, गो.वा.श्रीमग्नलाल शास्त्री तथा गो.वा.श्रीव्रजलाल सांकळीया आदि विद्वानॅ द्वारा लिखित गुर्जरभाषानुवादका पुनः प्रकाशन श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी द्वारा किया जा चुका है.

इसी तरह श्रीरामानुजमतानुयायी किन्तु सुबोधिनीके परम प्रेमी श्रीटी. रामनन्ने सुबोधिनीका अंग्रेजी अनुवाद करके उसे सद्गुरु पब्लिकेशन्स, दिल्ली द्वारा मूल संस्कृत सहित प्रसिद्ध करवाया है, जो २४ खंडॅमॅ उपलब्ध होता है. यह अंग्रेजी अनुवाद श्रीरामन्ने श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर द्वारा प्रकाशित, सम्प्रति अनुपलब्ध, सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका ही किया है. वे लिखते हैं:

> "I owe a deep debt of gratitude to Sri Subodhini Parakashan Mandal (Jodhpur). My traslation is, to a very large extent, based on this book and I am, indeed, very grateful for this Mandal".

सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका प्रकाशन ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल''(जोधपुर) नामकी संस्थाको स्थापित करके उसके द्वारा गो.वा. श्रीनन्दलालजी मानधना,जोधपुर ने करवाया था. इनको इस भगीरथ कार्यमॅ गो.वा.श्रीरामचन्द्र(नन्ददास) वर्मा का साथ मिला. इन दोनॅ महानुभावॅकी निष्ठा प्रेरणा उत्साह और समर्पण से पुष्टिमार्गके अनेक विद्वानॅने मिल-जुलकर सुबोधिनीका अनुवाद तैयार किया. इनमॅ उल्लेखनीय हैं:

गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु (जोधपुर)

दशमस्कन्धके नब्बे अध्यायोमॅसे चोहत्तर अध्याय;

तृतीय स्कन्धके १ से २१ अध्याय.

गो.वा.श्रीआनन्दीलालजी शास्त्री (श्रीनाथद्वारा)

प्रथम स्कन्धके १ से ९ अध्याय

गो.वा.श्रीनारायणप्रसाद व्यास(कोटा)

प्रथमस्कन्धके १० से १९ अध्याय.

गो.वा.पं.गोरधनजी शास्त्री(कोटा)

दशमस्कन्धके चौदह अध्याय,

गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी(नाथद्वारा)

द्वितीय स्कन्धके १ से ४ अध्याय. तृतीय स्कन्धके २२ से ३३ अध्याय .

गो.वा.श्रीरमानाथ शास्त्री(कांकरोली)

द्वितीय स्कन्धके ५ से १० अध्याय.

इस अनुवादके संशोधन तथा सम्पादन कार्यमॄ पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला), गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी (श्रीनाथद्वारा) तथा गो.वा.श्रीरणछोड कलाधर भट्ट(मुम्बई) का भी योगदान रहा है. पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला) तो ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर'' के संरक्षक भी हैं.

इस श्रीभागवत-सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादके पुनःप्रकाशनका एकमेव उद्देश्य यही है कि श्रीवल्लभवाङ्मय कभी भी किसी भी जिज्ञासुकेलिए अलभ्य न रहे. हमॄ विश्वास है कि इस पुनःप्रकाशनसे सुबोधिनीके अध्येताओंको अवश्य लाभ होगा.

अन्तमॄ सुबोधिनीके हिन्दी भाषानुवादके पूर्व प्रकाशक, अनुवादक, संशोधक, सम्पादक, द्रव्यसहायक आदि सभीके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं तथा इस कार्यमॄ निःस्वार्थ भावसे सहयोग करनेवाले सभी वैष्णवॊंका भी सादर स्मरण करते हैं.

सुबोधिनी स्वाध्याय मंडल

क्या आप पुष्टिमार्गी हैं?

एक बार श्रीवल्लभाचार्यके ये आदेश पढ़ृ.

सोचृ, क्या आप श्रीवल्लभके मार्ग पर चल रहे हैं?

परब्रह्म श्रीकृष्णको ही अपना आश्रय-रक्षक जानृ. मन-वचन-कर्मसे अन्याश्रय कदापि न करृ.

भगवानने पुष्टिजीवृको अपनी स्वरूपसेवाकेलिये भूतल पर प्रकट किया है. कृष्णसेवा ही पुष्टिजीवका स्वधर्म है. अतः कृष्णसेवाको जो स्वधर्म समझता है वही पुष्टिजीव है और वही पुष्टमार्गमृ प्रवेशके योग्य है.

भगवत् शास्त्रको अच्छी तरहसे समझकर, आत्मनिवेदित होकर अपने तन-धनसे अपने घरमृ श्रीकृष्णकी सेवा करृ.

घरमृ बिराजते ठाकुरजीको ही अपना सर्वस्व समझृ जो खास आप ही के उद्धारार्थ कृपा करके आपके घर पधारे हैं. उनको छोडकर अन्य ठाकुरजीके दर्शन-सेवा केलिये भटकना अपने सेव्यप्रभुका तिरस्कार है.

अपनी सभी वस्तु-व्यक्ति-व्यवहारका समर्पण अपने घरमृ बिराजते ठाकुरजीकी सेवामृ ही करृ. वे ही उनके सच्चे स्वामी हैं.

अपने ठाकुरजीको सर्वस्व समर्पित करके उस समर्पित महाप्रसादसे ही खान-पान-दान आदि सभी लौकिक-शास्त्रीय कार्य करृ. असमर्पित पदार्थके उपयोगका सर्वथा त्याग करृ.

हवेली-मन्दिरृमृ भृट-सामग्री देकर कराये जाते सेवा-मनोरथ पुष्टिसिद्धान्तके अनुसार सेवा-भक्ति है ही नहीं; वो न केवल सेवा-भक्तिके नामपर पाखंड है अपितु परम पवित्र भगवत्सेवाको धंधा बनानेवाले दुष्टृको पोषित करना है.

भगवत्सेवा-मनोरथ-कीर्तनके निमित्त भृट-सामग्री मांगना-स्वीकारना उनको व्यापार-धंधा बनाना है. ऐसा पाप करनेवालेका नर्कमृ पात होता है.

अतः भगवत्सेवा–मनोरथ–कीर्तनके निमित्त किसीको कुछ भी न दृ.

अनजानेमृ भी यदि कोई अवैष्णव सेव्य ठाकुरजीका दर्शन कर लेता है तो हमारी एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. ऐसा हो जाने पर श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराकर शुद्ध करना चाहिये.

भगवत्सेवा अपने ही घरमृ करृ. सार्वजनिक हवेली–मन्दिरमृ सेवा–मनोरथ करना पुष्टिसिद्धान्तके अत्यन्त विरुद्ध है.

दर्शनको कभी भक्ति न समझें. दर्शनका आग्रह उसीका रखृ जो कृपा करके आपके घरमृ आपकेलिये आपके माथेपर बिराज रहे हैं, जिनकी सेवा आप स्वयं कर रहे हैं.

मंदिर–हवेलियृमृ दिया जाता या वहांसे खरीदा जाता प्रसाद–पातल महापातकी देवद्रव्य होता है. ऐसा प्रसाद खानेवाला नर्कमृ ही जाता है.

प्रसादका नहीं किन्तु घरके ठाकुरजीने जो अङ्गीकार किया है उस <u>समर्पित महाप्रसादको</u> लेनेका आग्रह रखृ.

भगवत्सेवाकी ही तरह भागवतका पाठ भी स्वयं ही करें. भक्तिभावकी वृद्धिके अलावा दूसरे किसी भी हेतुसे भागवतका पाठ न करें.

प्राण निकल जायृ तो भले ही निकल जायृ परन्तु दक्षिणा लेकर भागवतकी कथा–कीर्तन कभी भी न करृ.

दक्षिणा लेकर कथा–कीर्तन करनेवालृके मुखसे कथा–कीर्तन सुनना गटरका पानी पीनेके समान हीन कृत्य है. व्यावसायिक कथावक्ताओृके संगको दुष्टसंग समझकर उनका त्याग करो.

।। अनुक्रमणिका ।।

भागवतार्थ निबन्धानुसार सारणी

भागवतार्थ निबन्ध तृतीय स्कन्ध

श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रस्तोत्र (तृतीयस्कन्धके नाम)

तृतीय स्कन्ध(सर्ग लीला)

प्रकरण १

प्रकरण.१: बन्धसृष्टि प्रकरण (१-१९)

अध्याय १. उद्धवजी और विदुरजीकी भृट १

अध्याय २. उद्धवजी द्वारा भगवान्‌की बाल लीलाओंका वर्णन ४५

अध्याय ३. भगवान्‌की अन्य लीलाओंका वर्णन ८२

अध्याय ४. उद्धवजीसे विदा होकर विदुरजीका मैत्रेयजीके पास जाना. ११०

अध्याय ५. विदुरजीके प्रश्न और मैत्रेयजीका सृष्टिक्रमका वर्णन १५३

अध्याय ६. विराट् शरीरकी उत्पत्ति २०७

अध्याय ७. विदुरजीके अन्य प्रश्न २४१

अध्याय ८. ब्रह्माजीकी उत्पत्ति २७४

अध्याय ९. ब्रह्माजी द्वारा भगवान्‌की स्तुति ३१६

अध्याय १०. दस प्रकारकी सृष्टिका वर्णन ३६४

अध्याय ११. मन्वन्तरादि कालविभागका वर्णन ३८८

अध्याय १२. सृष्टिका विस्तार ४१५

अध्याय १३. वराह अवतार ४५३

अध्याय १४. दितिका गर्भ धारण करना ४९३

भागवतार्थ निबन्धानुसार प्रकरणादि विभाग

तृतीयस्कन्ध

(सर्गलीला)

तृतीयस्कन्धके प्रकरणोंका विभाग:

प्रकरण१: बन्धसृष्टि प्रकरण अध्याय १-१९.

प्रकरण२: मुक्तसृष्टि प्रकरण अध्याय २०-३३.

प्रकरण.१: बन्धसृष्टि प्रकरण (१-१९)

१.गुणातीत सृष्टि	अ.१-६
२.सगुण सृष्टि	अ.७-८
३.काल/तत्त्व सृष्टि	अ.१०-११
४.मुक्तजीवसृष्टि उपोद्घात	अ.१२
५.मुक्तजीव सृष्टि	अ.१३-१९

प्रकरण.२: मुक्तसृष्टि प्रकरण (२०-३३)

६.तत्त्व मुक्ति	अ.२०-२४
७.काल मुक्ति	अ.२५
८.गुणातीत मुक्ति	अ.२६-२७
९.सगुण मुक्ति	अ.२८
१०.जीव मुक्ति	
पुरुष मुक्ति	अ.२९-३१
स्त्री मुक्ति	अ.३२-३३

भहाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित तत्वार्थदीपनिबन्धका

।। भागवतार्थ प्रकरण ।।

तृतीय स्कन्ध

(अध्याय १-१४)

अधिकारिषु साङ्गं हि श्रवणं सुनिरूपितम् ।
स्कन्धद्वयेन शेषेषु क्रियते विषयाभिधा।।१।।

(पिछले स्कन्धोमृ संगति बनाते हुए कहा है कि) प्रथम स्कन्धमृ अधिकार (वक्ता श्रोताके हीन मध्यम उत्तम अधिकार) तथा दूसरेमृ भागवतके श्रवणमृ अंग सहित विधिका भली प्रकारसे निरूपण किया गया है, अब शेष १० स्कन्धोमृ (तृतीयसे आरंभ कर द्वादश तक) जो श्रवण करनेका विषय है वह अब कहा जाता है।।१।।

त्रयस्त्रिंशद् अथाध्यायास्तृतीये सर्गवर्णने ।
स्वाभिप्रेते सविशेषे स्वोपयुक्तार्थसंयुते।।२।।

तीसरे स्कन्धमृ ३३ अध्यायामृ सर्ग (सृष्टि) का वर्णन है. सर्ग कहते हैं 'कारणाकी उत्पत्तिको' अतः सब ३३ अध्यायामृ कारणाकी उत्पत्तिका वर्णन है. सर्ग दो प्रकारका होता है. लौकिक और अलौकिक. लौकिक सर्गमृ २८ तत्व, प्राणियाके चार बीज और काल इस प्रकार तैतीस अध्यायामृ सर्ग है और अलौकिकमृ ३३ देवता हैं. (८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य इन्द्र और प्रजापति) अतः लौकिक और अलौकिक दोना प्रकारसे ३३ सर्ग हैं अतः सर्गलीलामृ ३३ अध्याय हैं. कारिकामृ सर्गके तीन विशेषण दिये हैं. १. स्वाभिप्रेत, २. सविशेषे और ३. स्वोपयुक्तार्थ संयुते. स्वाभिप्रेतका अर्थ है ''अपना चाहा हुआ'' जो लौकिक और अलौकिक भेदवाला है. सविशेष इसलिए है कि इसका विशेष गुण यह है कि इस सर्गमृ दो भेद होते हुवे भी इस सर्गमृ रचे हुए सब पदार्थ भगवद्रूप है. स्वोपयुक्तार्थ संयुते इसलिए है कि यह सर्ग अपने उपयोगी होना चाहिए यहां तक कि मोक्ष फलदायक हो जैसा कि गृहस्थी कर्दम और देवहूतिको हुआ. भगवानके संतोषसे मोक्ष प्राप्त होता है, भगवत् संतोष, भक्ति ज्ञान, योग और आज्ञापालनसे होता है यह सब सर्गमृ है इसलिए स्वोपयुक्तार्थ है।।२।।

लोके सर्गविसर्गो हि यादृशौ नेह तौ मतौ ।
किन्तु तौ सार्थकौ वाच्यौ तेन स्कन्धद्वयं ततम्।।३।।

दूसरे पुराणमृ सर्ग और विसर्गको एक ही मानकर मुक्तिकी सामर्थ्यवाला माना है इसलिए भागवतमृ भी दोनाको एक ही मानना चाहिए परंतु भागवतमृ तृतीय स्कन्धमृ सर्ग और चतुर्थ विसर्गका वर्णन है यह लोकप्रसिद्धिके विरुद्ध है इस शंकाके

उत्तरमृ कहते हैं कि जैसा सर्ग और विसर्ग लोकामृ प्रसिद्ध है वैसा यहां नहीं है क्यामृकि भागवतमृ सर्ग और विसर्ग दोनामृ ही पुरुषार्थ प्राप्त करनेवाले माने गए हैं, ये दोनामृ भगवान् की स्वतन्त्र लीलाएं हैं इसलिए दोनामृको पृथक्-पृथक् एक-एक स्कन्धमृ कहा है।।३।।

लीलाद्वयस्य श्रवणासिद्धः क्षत्ताऽधिकारतः।
किं पुनः सकलश्रोतेत्यतस्तस्य कथा तता ।।४।।

इन दोनामृ सर्ग और विसर्ग लीलाआमृ मृ मैत्रेय और विदुरका संवाद है. इनमृ विदुर श्रवणमृ अधिकारी था इसलिए इन दोनामृ लीलाआमृके श्रवणसे उसको मोक्ष प्राप्त हो गया तो फिर सारी भागवत दशामृ लीलाआमृके श्रवणसे मोक्ष प्राप्त हो जाय तो उसमृ सन्देह ही क्या है।।४।।(२७. तथा.)प्रकाश : सर्गलक्षणमाह तत्रेति.

तत्र सर्गो रजोभाजो लीला कारणजन्मदा।
देवस्य तु द्विरूपत्वात् कारणानां त्रिरूपतः।
पञ्चधा सा स्वतो द्वेधा बन्धमोक्षविभागतः।।५।।

भागवत स्कन्ध २ अध्याय १० श्लोक ३ मृ सर्गकी व्याख्या यामृ की गई है. ''भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः, ब्रह्मणो गुणवैषम्यात्'' अर्थात् ब्रह्म (परमात्मा) के गुणामृ विषमता होनेसे पंचमहाभूत पंच तन्मात्रा १० इन्द्रियामृ और बुद्धिका जन्म होता है इसको सर्ग कहते हैं. सृष्टि करनेवाला रजोगुण होता है (अर्थात् सृष्टि रचना रजोगुणसे होती है) इस रजोगुणसे गुणामृ विषमता होती है. भगवानमृसे कारण रूप और कार्य रूप दो प्रकारकी सर्ग लीला हुई. प्राणियामृके देहामृ पंचमहाभूत आदि होते हैं वे कार्य रूप होते हैं और कारण रूप महाभूत आदि होते है वे कारण रूप है, यहां सर्ग लीलामृ कारण रूप महाभूत आदि ही है. अतः सर्ग लीलाका अर्थ हुआ रजोगुणवाले भगवान्से जगतके कारणामृको जन्म देनेवाली लीला कारणजन्मदाका अर्थ हुआ कारणामृ अर्थात् जीवामृके जन्मको (हानि) नाश करनेवाली अर्थात् मोक्ष देनेवाली भी एक प्रकारकी सर्ग लीला है।।५-५ ।।

प्रकरणामृका विभाग करते हैं. देवता दो प्रकारके गुणातीत और सगुण और कारण जीवामृके तीन प्रकारके भेद हैं इसलिए सृष्टि पांच प्रकारकी है और प्रत्येक सृष्टि बन्ध और मोक्ष भेदसे दो प्रकारकी होती है अतः सृष्टिके दश प्रकार हुए.

गुणातीतात् सृष्टिरेका सगुणाद् ब्रह्मणोऽपरा।।६।।
कालो जीवस्तथा नाम तत्राऽपीशेच्छया भवः।

एक सृष्टि गुणातीत देवसे होती है (अध्याय ५-६) दूसरी सृष्टि सगुण ब्रह्मसे होती है (अध्याय ७-९) तीसरा सृष्टि कालकी (अध्याय १०-११) चौथी सृष्टि

जीवाृकी (अध्याय १२ मुक्त जीवाृकी सृष्टि) पांचवी सृष्टिका नाम सृष्टि. प्रथम दो सृष्टि रचनेमृ देव स्वतन्त्र है परंतु तीसरी, चौथी और पांचवी सृष्टि (काल, जीव और नाम) स्वतन्त्र नहीं है, ये तीनाृ सृष्टि ईशकी इच्छासे होती है।।६-६ ।।

सर्वाधारस्वरूपा या तदर्थं भुव उद्धृतिः।।७।।

मुक्तोऽपि जायते जीव इति शापकथा तता।।७ ।।

(अध्याय १८ व १९ मृ) भूमिंके उद्धारकी कथा है अर्थात् भगवानने वाराह अवतार लेकर और हिरण्याक्षका वध कर भूमिका उद्धार किया. यह सर्ग सम्बन्धी कथा है क्याृकि भूमिका उद्धार सब प्रकारकी सृष्टिमृ उपयोगी है क्याृकि वह सर्व सृष्टिका आधार रूप है. मुक्त जीवाृका भी जन्म होता हैं ऐसा बतानेके लिए जय-विजयके सनकादि द्वारा शाप दिए जानेकी कथा है (अध्याय १५) वास्तवमृ भगवानके भक्त वैकुण्ठमृ रहनेवाले जय-विजय मुक्त ही थे परंतु भगवानकी इच्छासे ही संसारमृ उनका जन्म हुआ।।७-७ ।।

उपपत्तिरनेनोक्ता फलार्थं प्रक्रियान्तरम्।।८।।

मतान्तरेण हि फलं राजसत्वाद् निरूप्यते ।

इस प्रकार मुक्त जीवाृकी उत्पत्ति कही परंतु इस प्रकारकी उत्पत्ति भगवानको अभिष्ट नहीं इसलिए उन जीवाृके फल (मोक्ष) के लिए दूसरा प्रकरण अर्थात् सांख्य प्रकरण कहा. जय-विजयको शापके कारण आसुर भाव प्राप्त हुआ फिर क्रोध करके ही भगवानको प्राप्त हुवे इस प्रकार राजस भावसे उनको मतान्तरके अनुसार फल (मोक्ष) मिली।।८-८ ।।

फले हि नास्ति वैषम्यम् इतीशस्योद्भवाभिधा।।९।।

उपपत्तौ फले चैव तेनावतरणद्वयम् ।

क्रियाज्ञानविभेदेन कर्माधीनाऽन्यथा भवेत्।।१०।।

मुक्त जीवाृके मुकित पाने योग्य जीवाृके फलमृ कोई भेद नहीं ऐसा बतानेके लिए ही सांख्य प्रकरणमृ दो स्थानाृ पर भगवानके अवतारका वर्णन हुआ है भगवान् अवतार लेकर ही दोनाृको फल देते हैं. भगवानके क्रिया शक्तिवाला अवतार 'वाराहरूप' मृ हुआ और ज्ञान शक्ति रूप कपिल अवतार हुआ. यदि सर्ग प्रकरणमृ भगवानका अवतार न हो तो यह मान लिया जावृ कि जीवाृका जन्म-मरण कर्मोके अधीन है परंतु वास्तविकता यह है कि भगवानकी इच्छासे ही सृष्टि होती हैं।।९-१०।।

मुक्तेपि यदि नोत्पत्तिरुत्पन्ने मुक्तिरेव वा ।

तदा कृष्णेच्छया सृष्टिरित्यर्थो हि विरुध्यते।।११।।

यदि मुक्त जीवाृकी उत्पत्ति न हो अथवा उत्पन्न जीवाृकी मुक्ति न हो

''भगवानकी इच्छासे ही सृष्टि होती है'' यह बात झूठी हो जाय (तब तो फिर ईश्वरका ईश्वरपना ही नहीं रहे) सृष्टि ईश्वरकी इच्छाके अधीन है यह बतानेके लिए ही मुक्त जीवाृकी उत्पत्ति और उत्पन्न जीवाृकी मुक्तिका वर्णन इस सर्ग लीलामृ हुआ है।।११।।

स्त्रीपुंसमुक्तिकथनात् तदर्थं सृष्टिकृद्धरिः ।
ऐहिकामुष्मिकफलं मोक्षं प्रीतः प्रयच्छति।।१२।।
तस्मात्सृष्ट्यवतीर्णस्तु भजेत हरिमादरात् ।

इस सर्गमृ स्त्री (देवहूति) और पुरुष (कर्दम) की मक्तिका कथन किया गया है, स्त्री और पुरुष दोनाृको मुक्ति प्राप्त हो इसलिए भगवानने सृष्टि रची है. भगवान् प्रसन्न होवे तब इस श्लोकका फल (धन, पुत्र आदि) पर लोकका फल (स्वर्ग आदि) तथा मोक्ष भी देते हैं. इसलिए भगवानकी स्त्री हुई सृष्टिमृ जो उत्पन्न होवे उसको प्रेमसे भगवानका भजन करना चाहिए।।१२-१२ ।।

साङ्ख्येन मुक्तिकथनात् सृष्टिः सामान्यतोदिता।।१३।।
तामसी राजसी चैव सात्त्विकीति क्रमात्रिधा ।
गुणसृष्टेस्तन्मतत्वाद् गौणत्वाद् न विरुध्यते।।१४।।

(सामान्यतः उदिताकी सन्धि सामान्यतोदिता इस प्रकारकी सन्धि पाणिनी व्याकरणके अनुसार नहीं है परंतु ऋषिवाक्यका होनेसे दोष नहीं है.) सामान्यतया सृष्टिका वर्णन होना ही चाहिए परंतु सांख्यमतके अनुसार सृष्टिका वर्णन किया जाय तो उसके अनुसार मुक्तिका वर्णन होगा. तब प्रश्न उठता है कि क्या सृष्टिके वर्णनसे मुक्तिका वर्णन नहीं होता तो उत्तर है कि यहां पर सृष्टिका वर्णन हुआ है उसमृ तासी, राजसी और सात्त्विकी है तीन प्रकारकी सृष्टिका वर्णन और सांख्य मतमृ भी गुणाृसे ही सृष्टि होती है इसलिए यहां कही हुई सृष्टि गुणाृसे होनेवाली कही गई है इसलिए यह गौण होते हुए भी सांख्यमतके विरुद्ध नहीं है।।१३,१४।।

ज्ञानस्य पूर्वसिद्धत्वाद् मुक्तिर्भोगादिसंयुता ।
उपदेशेन च परा चतुर्भिर्निवभिः क्रमात्।।१५।।

कर्दमजीको ज्ञान पहिले हीसे था इसलिए भोग आदिसे मुक्त होते हुए भी उनको मुक्ति प्राप्त हो गई परंतु देवहूतिको (कपिलदेवजी द्वारा) ज्ञानोपदेश होनेसे मुक्ति मीली. इसका (कर्दमजीका) वर्णन क्रमसे चार (अध्याय २१से २४ तक) तथा (देवहूतिका) नौ अध्यायाृ (२५से ३३ तक) मृ हुआ है।।१५।।

चतुःप्रकरणी स्थौल्ये सौक्ष्म्ये तु दशधा मता ।
अधिकारस्तथा सृष्टिरुपपत्तिः फलं तथा।।१६।।

इस स्कन्धमृ स्थूल रूपसे चार प्रकरण हैं और सूक्ष्मरूपसे दश है. स्थूलरूपसे

चार प्रकरण हैं १. अधिकार, २. सृष्टि, ३. उत्पत्ति और ४. फल (अर्थात् मोक्ष) सूक्ष्मरूपसे जो दश प्रकरण हैं उनका वर्णन उपर पांचवे श्लोकमॅ हो चुका है और अगले १७ वॅ श्लोकमॅ फिर होगा. वास्तवमॅ इन चारसे ही १० सूक्ष्म प्रकरण बनते हैं।।१६।।

पञ्चधा सृष्टिरुक्ता हि तृतीया तु द्विधा मता।
चतुर्थी तु त्रिधा प्रोक्ता दशैते सृष्टिसङ्गताः।।१७।।
अधिकारस्ततो भिन्नः स्कन्धद्वययुतः परः।।१७।।

सृष्टि पांच प्रकारकी होती है और तीसरी (उत्पत्ति) दो प्रकारकी होती है और चौथी (मुक्ति) तीन प्रकारकी होती है इस प्रकार सृष्टि उत्पत्ति और मुक्ति दश प्रकारकी हुई. अधिकार प्रकरण एक भिन्न प्रकरण है क्यॉकि यह तीसरे और चौथे स्कन्धॉमॅ उपयोगी है क्यॉकि ये दोनॉ स्कन्ध एक प्रकरण जैसे हैं. इस स्कन्धके ३३ और चौथे स्कन्धके ३१ मिलकर ६४ अध्याय होते हैं जिनसे भगवानकी ६४ कलाओंका निरूपण होता है।।१७-१७।।

प्रतिबन्धो गृहासक्तिः शुद्धिस्तीर्थाटनं मता।।१८।।
बाह्या हरिकथाश्रुत्या तथा चाभ्यन्तरी मता।
कृष्णप्रसादयुक्तश्चेद् अधिकारी परः स्मृतः।।१९।।

इस स्कन्धके प्रथम चार अध्यायॉमॅ अधिकार की बात है. मोक्षका अधिकारी होने के लिए चार बातॅ चाहिए. प्रथम तो प्रतिबन्ध हटना चाहिए, फिर बाह्य शुद्धि होनी चाहिए, तत्पश्चात् आभ्यान्तरी शुद्धि चाहिए, फिर भगवान् कृष्णकी कृपा चाहिए. घरमॅ आसक्ति होना बहुत बडा प्रतिबन्ध है इसलिए विदुरजीने घरका त्याग कर दिया. तीर्थाटन करके विदुरजीने बाह्यशुद्धि प्राप्त कर ली फिर हरिकथा सुनकर आभ्यन्तरी शुद्धि प्राप्त की और अन्तमॅ इन तीनॉके कारण उन पर भगवानकी कृपा हो गई. इस प्रकार प्रथम चार अध्यायॉके क्रमसे इन चारॉका वर्णन किया गया है. इन चारॉ गुणॉके कारण विदुरजी अति उत्तम अधिकारी हो गए।।१८,१९।।

शतं वर्षाणि शूद्रत्वं पश्चाद् राजन्यताऽस्य हि।
तावत् क्षत्ता ततो मन्त्री तस्मात् कृष्णसभोज्यता।।२०।।
अतोऽधिकारस्तस्याऽत्र यथायुक्तं तु जीवनम्।

यमराजको १०० वर्षों तक शूद्र होनेका शाप था परंतु आयु अधिक हुई. आयुमॅ वह धृतराष्ट्रके समान था धृतराष्ट्रके ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन के समान आयुवाला भीम था. भीमका छोटा भाई अर्जुन था जो कृष्णके समान आयुवाला था. श्रीकृष्ण भूतल पर १२५ वर्षों तक विराजे और उनके स्वधाम गमनके कुछ समय पश्चात् तक विदुरजी जीवित रहे. अतः विदुरजीकी आयु अनुमानतः १५० वर्ष की हुई जिसमॅसे

प्रथम १०० वर्ष वे शूद्र होकर रहे. ब्रह्मबीज (वेद व्यासजीके बीज) होनेके कारण वे मुख्य शूद्र तो थे नहीं. अतः १०० वर्षकी आयु पूरी कर लेनेके पश्चात् वे क्षत्रिय होकर रहे. इसी कारण धृतराष्ट्रने उनसे मन्त्रणा की और वे भगवान् श्रीकृष्णके साथ अपने घर पर भोजन करने लगे. (म.भा उद्योगपर्व अध्याय ६३) इसलिए वह भागवत् श्रवण और मोक्षके अधिकारी हुए. विदुरजीका जीवन काल तो युक्तिसे सिद्ध है कि १०० वर्षसे अधिक था।।२०-२० ।।

अपमानाद्धि निर्विण्णो विशुद्धस्तीर्थसेवया।।२१।।
क्षत्ता सत्सङ्गतः प्रीतः प्रश्नत्रितयकृद्धरेः।
सामान्येन विशेषेण कुशलं चरितं तथा।।२२।।

धृतराष्ट्रने विदुरको मन्त्रणाके लिए बुलाया तब दुर्योधनने विदुरका अपमान किया जिससे विदुरको वैराग्य हो गया. (कदाचित् अपने आप वैराग्य हो तो कदाचित् पीछे गृहस्थमृ आ जावे) वैराग्य होने पर भी किसी दूसरे स्थान पर जावे तो कदाचित् फिर संसारमृ आसकित हो जावे अतः विदुरजी तीर्थोंमृ गए तीर्थोंमृ भी देवता बुद्धि हो तो तीर्थ सेवन लाभकारी होता है, विदुरजीकी तीर्थोंमृ वैसी ही बुद्धि थी इसलिए के विशुद्ध बुद्धिवाले अर्थात् कामना रहित हो गए इन्द्रियाृ पर तो विदुरजी पहले ही विजय प्राप्त कर चुके थे अब उनको तीर्थोंमृ उद्धवजीका सत्संग प्राप्त हो गया जिससे उनको बहुत आनंद मिला. वहां फिर उन्हाृने उद्धवजीने तीन प्रश्न किये. १. भगवानका विशेष कुशल प्रश्न, २. सबके कुशलके बहानेसे भगवानका सामान्य कुशल प्रश्न और ३. भगवानके चरित सम्बन्धी प्रश्न।।२१,२२।।

अन्तिमं मध्यतः कृत्वा द्वयोः सम्बन्धकारणात्।
मारणे प्राप्तदोषस्य भक्तोद्धारेण वारणम्।।२३।।

विदुरजीने इन तीनाृ प्रश्नाृका उत्तर क्रमसे नहीं दिया परंतु भगवानके विशेषकुशल सम्बन्धी प्रश्नका उत्तर देकर बीचमृ भगवानके चरित्र सम्बन्धी अंतिम (तीसरे) प्रश्नका उत्तर दिया, क्याृकि भगवानके चरित्रका दूसरे दो प्रश्नाृके साथ सम्बन्ध है, (बात यह है कि भगवानके चरित्रका वर्णन किये बिना दूसरे दो प्रश्नाृका उत्तर नहीं दिया जा सकता) भगवानके चरित्र वर्णनमृ उनके भक्त और बन्धुजनाृके वध करनेकी बात आती है. ऐसे वर्णनसे तो दोष लगता है इस प्रकारकी शंका समाधान याृ है कि कृष्ण तो ईश्वर है इसलिए भक्त और बंधुआृके वध करानेसे उनको दोष नहीं लग सकता फिर भी वध करानेसे लोक सृष्टिसे दोष माना जाय तो कहना होगा कि भक्ताृका संसारमृसे उद्धार कराया इसलिए दोषकी निवृत्ति हो जाती है।।२३।।

सेवनात् कृष्णदेवस्य तदाज्ञाकरणादपि।

माहात्म्यस्य श्रुतत्वाच्च श्रेष्ठ उत्तमतो ह्ययम्।।२४।।

अतस्तस्य कथा प्रोक्ता कृष्णविश्वासदायिनी।।२४।।

परीक्षित् उत्तम अधिकारी है परंतु विदुरजीको परीक्षित्से भी श्रेष्ठ माना है प्रथम कारण तो यह है कि विदुरजीने पहले भगवानकी बहुत सेवा की थी. दूसरा यह कि विदुरजीने भगवानकी आज्ञाका पालन कर पांडवोकी रक्षा की थी और तीसरा यह कि विदुरजीने भगवानका माहात्म्य बहुत सुना था. ये तीन गुण परीक्षितमृ नहीं थे इसलिए विदुरजी परीक्षितसे भी उत्तम (श्रेष्ठ) थे. परीक्षितसे भी विदुरजीका उत्तम होनेकी बात यहां क्या उपयोग है यह बतानेके लिए कहा है कि श्रीकृष्णमृ विश्वास बतानेवाली विदुरजी की कथा यहां कही है क्यृकि श्रीकृष्णमृ विश्वास रखकर निःशंक होकर विदुरजीने तीर्थ यात्रा की थी।।२४-२४ ।।

अब दूसरे अध्यायका अर्थ कहा जाता है.

द्वितीये तु तथाऽध्याये सामान्योत्तरमुच्यते।।२५।।

तदर्थं हरिमाहात्म्यम् आर्थिकं कृतमेव च।

दूसरे अध्यायमृ सामान्य प्रश्नका उत्तर कहा गया है. उसमृ स्वयं भगवानका ही माहात्म्य कहा गया है यदि यह माना जाय कि यह (सबका सामान्य कुशल) जीव सम्बन्धी प्रश्न था तो भगवानका माहात्म्य भी सामान्य माहात्म्य हो जाय क्यृकि और लोगृका कुशलको उनका नाम लेकर पूछा गया था तब तो भगवानको दूसरृके अधीन मानना पड़ेगा. विदुरजीको भगवानमृ विश्वास हो इसलिए उद्धवजीने आरंभमृ भगवानका महात्म्य बताया और तत्पश्चात् भगवानका चरित्र कहा।।२५-२५ ।।

कृतं यद्यप्युत्तराङ्गं साम्यात् सम्बन्धतोऽपि तत्।।२६।।

अत्रोक्तं फलसिद्ध्यर्थम् उद्धवप्रेम चोच्यते।

यद्यपि भगवानके किये हुए काम अर्थात् चरित्रका वर्णन तीसरे अध्यायमृ है परंतु इस (दूसरे) अध्यायमृ कहा हुआ चरित्र इस तीसरे अध्यायमृ कहे हुए चरित्रके समान हो जैसा ही है तथा उससे सम्बन्धवाला भी है इसलिए यहां कहा गया है. विदुरजीको विश्वास हो जाय इसलिए पूतना आदिको प्राप्त कराये गए फलका वर्णन किया गया है. इस अध्यायमृ उद्धवमृ भगवानका प्रेम (भक्ति) का भी वर्णन किया गया है क्यृकि भक्त न हो तो उसके द्वारा कही गई कथामृ विश्वास न होवे।।२६-२६ ।।

अब तीसरे अध्यायका वर्णन किया जाता है.

षड्भिस्तथैकेन पुनर्दशयुक् सप्तभिस्तथा।।२७।।

दशभिश्च क्रमादत्र चत्वारोऽर्था निरूपिताः।।२७।।

तृतीयेऽष्टाविंशतिभिश्चरित्रं केवलं कृतम्।।२८।।

तीसरे अध्यायमॄ २८ श्लोकॄसे चार विषयॄका वर्णन किया गया है जो इस प्रकारसे है. श्लोक १से ६ मॄ उद्धवका भगवानके प्रति प्रेम. केवल श्लोक ७से कुशल सम्बन्धी सामान्य प्रश्नका उत्तर. (१० और ७) श्लोक ८से २४ तकमॄ भगवानके माहात्म्यका वर्णन है. श्लोक २५से ३४ (१० श्लोकॄ) मॄ भगवानके चरित्रका वर्णन है।।२७,२८।।

विशेषस्योत्तरं तुर्ये श्लोकाभ्यां विंशतिः पुनः ।
भक्तोद्धारेऽविद्यमाने चत्वार्येकं वियोजकम्।।२९।।
द्वयोराज्ञाप्रसिद्ध्यर्थं पञ्च सन्देहवारणे ।
चतुर्भिः सङ्गमश्चेति षडर्थाः क्रमतोदिताः।।३०।।

चौथे अध्यायके प्रथम दो श्लोकॄसे विदुरजीने विशेष प्रश्न (यादवॄका नाम लेकर पूछे गए कुशल प्रश्न)का उत्तर दिया. फिर बीस श्लोकॄसे (श्लोक ३से २२ तक) भक्त और बांधवॄका संहार करानेके दोषका परिहार कराते हुए भक्तॄका उद्धार करनेका वर्णन किया है. उस समय जो भक्त नहीं था उस विदुरका उद्धार करनेके सम्बन्धमॄ चार श्लोकॄ (श्लोक २३से २६ तक) मॄ कहा है. फिर एक श्लोकसे (श्लोक २७) भगवानकी आज्ञाको प्रसिद्ध करनेके लिए विदुर और उद्धवका वियोग कहा है. तत्पश्चात् पांच श्लोकॄसे श्लोक २८से ३२ तक) राजा परीक्षितके संदेह (ब्राह्मणॄके शापसे सारे यदुकूलका नाश हो गया तो उद्धव कैसे बच गया और उसका निवारण किया गया है) फिर अगले चार श्लोकॄसे विदुर और मैत्रेयके संगमका वर्णन किया गया है. इस प्रकार चौथे अध्यायमॄ क्रमसे छः विषयॄका वर्णन हुआ है।।२९,३०।।

मैत्रेयस्यापि वक्तृत्वं श्रवणाज्ञापनान्मतम् ।।
अत एव हरिस्तस्य सङ्गं चक्रे स्वसिद्धये।।३१।।

यहां तक तो विदुरका श्रवण करनेका अधिकार बताया गया है. अब यह बताया जाता है कि भगवानकी लीलाॠका विदुरके लिये कहनेका अधिकार मैत्रेयको कैसे प्राप्त हुवा. श्रीभगवानने उद्धवको जो उपदेश दिया उसको मैत्रेयने भी सुना था और भगवानने मैत्रेयको आज्ञा दी कि यह उपदेश विदुरको सुनाना. उद्धवको उपदेश देते समय मैत्रेयको भगवानने कार्यकी सिद्धिके लिए अपने पास (संगमॄ) रखा था कि वह परमभक्त विदुरको वह उपदेश सुना देवॄ भाव यह है कि भगवानने मैत्रेय पर कृपा करके उपदेशके समय अपने पास रखा सो बात नहीं है अपितु विदुर पर कृपा करके मैत्रेयको अपने पास रखा क्यॄकि नियम यह है कि भगवानके मार्गमॄ भक्त ही श्रेष्ठ होता है दूसरा कोई नहीं. इस प्रकार चार अध्यायॄसे अधिकारका निरूपण किया गया. अब अध्याय ५ और ६ का वर्णन किया जाता है।।३१।।

अधिकारेऽथ संसिद्धे द्वाभ्यां सृष्टिर्निरूप्यते।
तत्त्वकार्यविभेदेन गुणातीता द्विधा हि सा।।३२।।

अधिकार सिद्ध हो जाने पर अब दो अध्याय (अ.५ और ६)से सृष्टिका निरूपण किया जाता है गुणातीत सृष्टि दो प्रकारकी होती है एक तो तत्व तथा दूसरी कार्य. पांचवे अध्यायमें तत्वकी और छट्ठेमें कार्य (पुरुषके शरीर) की उत्पत्तिका वर्णन है।।३२।।

समष्टेः कारणत्वं हि कर्माणि प्रति वर्णिनाम्।
प्रश्नत्रयं तृतीये तु द्वैविध्यं प्रथमे पुनः।।३३।।
षड्भेदा नाऽवतारे हि साधनेनोपसंहृतिः।
द्वयोरपि विभेदेन प्रकटे ह्येक एव तु।।३४।।
जन्मादयः प्रवेशश्च प्रकारद्वयमेव च।

(तत्वोंसे जगतकी उत्पत्ति होती है इसमें तो कोई सन्देह भी नहीं है) परंतु समष्टि (जीव मात्रमें स्थान रूप) पुरुषका स्वरूप भी जगतका कारण है क्योंकि वर्णोंके कर्म उसमेंसे ही उत्पन्न होते हैं।।३२ ।।

अब पांचवे अध्यायमें विदुरजीने मैत्रेयजीसे तीन प्रश्न पूछे. प्रथम प्रश्न यह है कि १. मनुष्यको क्या कर्म करना चाहिए, २. भगवद् भजन भी ऐसा करना चाहिए कि जिससे भगवानमें पेम हो और ३. भगवानके चरित्र सम्बन्धी. तीसरे प्रश्नमें भी दो प्रकार है एक तो भगवान् अवतार लेकर चरित्र करे और दूसरा यह कि भगवान् अवतार लिये बिना ही चरित्र करे. अवतार सम्बन्धी तो एक कर्म है और अनवतार सम्बन्धी कर्म के छः भेद है जो यों हैं १. उत्पत्ति २. स्थिति ३. प्रलय ४. नानात्व(विचित्रपन) ५. पृथक्-पृथक् तत्वसे बने हुए पृथक्-पृथक् कार्य और ६. सब कार्योंमें पृथक्-पृथक् प्रकार करनेका कारण. इस प्रकार अवतार चरित्र समेत सात प्रश्न हुए. इतना होने पर भी तीन ही प्रश्न रहते हैं १. प्राणियोंको क्या करना चाहिए २. भगवद् भजन भी कर्म है सो ऐसा होना चाहिए कि जिससे भगवानमें प्रीति उत्पन्न हो और ३. अवतारचरित्र।।३३,३४।।

हेतूक्त्या शास्त्रनिर्धारो भक्तत्वज्ञापनाय हि।।३५।।
स्वरूचिश्चापि तत्रैव षट्सु सर्वं प्रतिष्ठितम्।

भगवानके कर्मो (अवतार चरित्र) का प्रश्न कर लेने पर प्रथम दो प्रश्नोंका कर्म करना चाहिए और उसको किस प्रकार किया जाना चाहिये के उत्तरकी अब आवश्यकता नहीं रही इसलिए विदुरजीने हेतु बनकर स्वयंने ही उत्तर दे दिया. स्वयं प्रश्न करके स्वयं ही उसका उत्तर अपना भक्तपना बतानेके लिए दिया क्योंकि भक्त कर्मोंकी असारताको जानकर भगवद्धर्मोंमें रमण करते हैं इसलिए भक्तके द्वारा कर्मोंका प्रश्न ही

उचित नहीं फिर विदुरजीने अपनी रुचि भी यह कहकर बताई कि मेरे लिए भगवानके कर्म कहो. अब प्रश्न उठता है कि यहां अवतार चरित्र भी तो उत्तरमृ नहीं कहा है इसका कारण यह है कि अनवतार दशाके जो छः प्रश्न पूछे गये थे उनके उत्तरमृ अवतार दशामृ किये कर्मोंका समावेश हो जाता है।।३५-३५ ।।

इष्टे प्रसिद्धान्यहेतोर्भगवत्प्रीणनेऽपि च।।३६।।
उत्तमे पथि सम्प्रश्न आद्यावेतौ यथोत्तरम् ।

लोकमृ दो बातृ प्रसिद्ध है और जो चाही जाती है. सुखका होना और दुःखका न होना. उनको प्राप्त करनेके लिए और भगवानको प्रसन्न करनेके लिए कोई प्रयोजन बताया हुआ नहीं होनेसे कोई दूसरा प्रयोजन ढूंढना चाहिए. इसलिए इस अध्यायके आदिमृ श्लोक २ और श्लोक ४ मृ जो प्रश्न किये गये हैं. लोकॄ पर उपकार करना और अपने स्वार्थके लिए प्रयास करना (जो मनुष्य मात्रमृ सामान्य है) और जो उत्तममार्ग भक्तिमार्गमृ करे जैसे ही ये ही प्रश्न विदुरजीने लोकोपकारके लिए ये प्रश्न उचित ही किये हैं और वैसा ही उनको आगे उत्तर मिलेगा।।३६-३६ ।।

उत्तरत्वेन कथनादुत्तरं कर्मणि स्थितम्।।३७।।
अतः सभाजनं तस्य तेनैवोत्तरमाद्ययोः ।

मैत्रेयजीने उत्तर देना प्रारंभ करते ही विदुरजीकी प्रशंसा करते हुए कहा कि आपने लोकॄ पर कृपा करके ही ये प्रश्न किये हैं. तीसरे प्रश्नके उत्तरमृ ही प्रथम दो प्रश्नॄका उत्तर आ जाता है. प्रश्नॄके उत्तरमृ मैत्रेयजीने विदुरजीको भगवानका चरित्र कहा क्यॄकि भगवानकी कथा सुननेसे ही १. सुख प्राप्त होता है २. दुःख मिटता है और ३. इसीसे भगवानकी प्रसन्नता प्राप्त होती है।।३६-३६ ।।

कार्यसृष्टौ स्वतन्त्रत्वं तेषां वारयितुं स्तुतिः।।३८।।
विशेषतस्तु कथनं ब्रह्मणोपि सुदुष्करणम् ।
श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं किञ्चिदुक्तमिति स्थितिः।।३९।।

जिस प्रकार पौत्र उत्पन्न करनेमृ पुत्र स्वतन्त्र होता है उसी प्रकार सृष्टि रचनामृ तत्त्व स्वतन्त्र नहीं है इसलिए (अध्याय ५ श्लोक ३८-५० मृ) तत्त्वॄने भगवानकी स्तुति की. जिससे भगवान् तत्त्वॄको सृष्टि रचनाकी शक्ति प्रदान करे.

सामान्यतया यह माना जाता है कि तत्त्व ही जगतकी रचना करते हैं और महाभारत आदि ग्रन्थॄमृ भी ऐसा ही कहा गया है और उससे अधिक विस्तार पूर्वक कहनेमृ तो ब्रह्मा आदि समर्थ नहीं होते तत्त्वॄके द्वारा सृष्टि रचना कहनेका प्रयोजन तो यह है कि यह बात चालू प्रसंगमृ उपयोगी है. भगवानके गुणॄका स्मरण और कीर्तन करनेमृ यह उपयोगी है इसलिए यह बात कही गई है।।३८,३९।।

सर्वावतारबीजत्वात्पुरुषेणैव तत्कथा।
गुणातीतात्सृष्टिलीला द्वयेनैवं निरूपिता।।४०।।

पुरुषमृ ही सब अवतार हुए हैं अतः सब अवतारृका बीज यही पुरुष है इसलिए (छट्ठे अध्यायमृ) पुरुषका निरूपण होनेसे सब अवतारृके कर्मोंकी कथा इसमृ आ गई है.

इस प्रकार पांचवे और छट्ठे अध्यायमृ गुणातीत भगवानकी हुई सृष्टि लीला कही गई.

सगुणां तु त्रयेणाऽऽह पूर्वपक्षाधिकत्वतः।
ततः कारणसम्भूतिः स्तुतिस्तस्य फलावधिः।।४१।।
एतद्विभूतिरूपत्वादन्येषां न विसर्गता।
साधारण्येन कथनं प्रकृते नोपयुजयते।।४२।।
अतो विभूतिरूपेण सर्वेषां विनिरूपणम्।
यादृशो हि विसर्गोऽत्र स चतुर्थे विविच्यते।।४३।।

सातवृसे नवमृ अध्याय तक इन तीन अध्यायृमे सगुण (देव) मृसे प्रकट हुई सृष्टिका निरूपण किया गया है (वास्तवमृ सगुण सृष्टिका इन अध्यायृमृ उपोद्घात ही किया है) और दसवृ अध्यायसे सगुण सृष्टिका निरूपण आरंभ करृगे. उपोद्घातमृ आठवृ अध्यायके थोड़े ही (१३से १५ श्लोक) श्लोकृमृ सगुण सृष्टि कही गई है. गुणातीत सृष्टिका पांचवे और छट्ठे अध्यायृमृ कही गई है और तीन अध्यायृमृ सगुण सृष्टि कहते हैं. क्यृकि इस सगुण सृष्टिमृ सृष्टि और भगवानमृ गुणृकी (सृष्टि रचनेकी) सत्ता कहनेकी हैं. इन प्रसिद्ध गुणृका निरूपण पूर्व पक्षके रूपमृ मतान्तर भाषासे सातवृ अध्यायमृ की हुई है. इसके बाद 'कारण'की उत्पत्तिमृ और 'कार्य'की उत्पत्ति आठवृ और नवृ अध्यायृमृ कही गई है. इसमृ 'ब्रह्मा' कारण है और सर्व जगत् 'कार्य' है. इस कार्यका वर्णन कालके अंगके रूपमृ (दसवृ अध्यायसे प्रारंभ कर) आरंभ करनेका होनेसे नवमृ अध्यायमृ ब्रह्माने भगवान (ब्रह्म) की, की हुई स्तुति ही कही है यह स्तुति सफल हुई अर्थात् इस स्तुतिसे ब्रह्माको जगत् रचना करनेका उपाय बताया और वे जगतकी रचना कर सके. इन सातवृसे नवमृ तीन अध्यायृका सामान्य अर्थ (पूर्व पक्ष, कारण) की उत्पत्ति और कार्यकी उत्पत्ति है.

आठवृ अध्यायमृ प्रथम सृष्टिका स्वरूप जिसमृसे हुआ है उस पुरुषके स्वरूपका वर्णन किया है उस सगुण ब्रह्मा स्वरूप इसके बाद ब्रह्मा आदि जिनकी उत्पत्ति कही वे इस स्वरूपकी विभूति है उस स्वरूपकी विभूति रूप हैं और ब्रह्मा इत्यादिका विसर्गमृ भी (दूसरे पुराणृमृ) गणना की है अन्य पुराणृमृ सामान्य रीतिसे विसर्गका

वर्णन है जो श्रीमद्भागवतमृ नहीं कहा गया है श्रीमद्भागवतमृ तो सभी पुराणृका सार निकाल कर कहा गया है और वह उत्तर अधिकारवालेके लिये हैं अन्य पुराणृकी तरह विसर्गका वर्णन नहीं किया है किन्तु श्रीमद्भागवतमृ विसर्गके विषयमृ कहनेका है वह चौथे सर्गमृ कहृगे जो कि विभूति रूप होना. संभव नहीं है।।४१-४३।।

कृष्णोक्तं तु पुराणं हि श्रीभागवतमुच्यते ।
अयमर्थस्त्वन्यमुखान्नोद्भविष्यति कर्हिचित्।।४४।।

पुराण सब भगवान् कृष्णके कहे हुए हैं अतः इसे भागवत् कहते हैं अन्यके मुखसे ऐसा अर्थ प्रकट हो ही नहीं सकता।।४४।।

भगवानके द्वारा जो कहा जाता है उसे भागवत कहते हैं. यद्यपि गीता आदि भी भागवत ही हैं क्यृकि गीताको भी भगवान् श्रीकृष्णने ही कहा है परंतु उसमृ पुराणता नहीं है. अयमर्थः का अभिप्राय यह है कि भगवानकी लीलाको अन्य कोई जान ही नहीं सकता अतः भगवान् ही को स्वयं कहना पड़ता है।।४४।।

शंका होती है कि परंपरामृ भी पाराशरजीसे मैत्रेयजीने अध्ययन किया था ऐसा विष्णु पुराणमृ कहा है और ऐसी प्रसिद्धि भी है. अतः इसको भगवानके द्वारा कहा गया न होनेसे भागवत नहीं कहा जा सकता इस शंकाका समाधान 'वैष्णवादिपुरणानि' निम्न कारिकासे करते हैं.

वैष्णवादिपुराणानि तच्छेषाणीनि निश्चितम् ।
सर्वतोमुखमेतद्धि तदर्थं शेषतः कथा।।४५।।
अर्थमात्रप्रधानत्वान्न दूषणमिहाऽण्वपि ।

वैष्णवादि पुराण इस भागवतके अंग है यह निश्चित है यह तो सर्वतोमुख है इसलिए शेषजीने भागवतको कहा है. इसमृ अर्थ मात्र ही प्रधान है अतः इसमृ अणुमात्र भी दोष नहीं है।।४५ ।।

विष्णु पुराण तेबीस हजार श्लोकाृका है. यह पुराण भागवत्से भिन्न ही है और उसे व्यासजीने बनाया है. क्यृकि अठारह पुराण व्यासजीकी कृति है यह पराशर संहिता तो अलग ही है. पराशरजीने भागवतको सुनकर मैत्रेयजीको उसका उपदेश दिया था. अतः उसे भागवत् कहा जाय तो उसमृ किसी प्रकारका विरोध नहीं है यदि यह शंका हो कि भिन्न परंपरा होनेसे इसे भागवत् कैसे कह सकते हैं इसका उत्तर देते हैं कि 'सर्वतोमुखम्'. यद्यपि भगवानका स्वरूप भगवानको ही भागवतमृ कहना चाहिए. इसलिए कभी तो स्वयं भगवान् ही कहते हैं और कभी 'तत्त्वमतः परस्य'से श्रीसंकर्षण वासुदेवका ही तत्त्व कहते हैं. शंका होती है कि भगवान् स्वयं जो कहृगे और संकर्षण जो कहृगे उन वाक्यृमृ परस्पर सादृश्य होगा, नहीं तो, फिर इनकी एकता कैसे होगी

उसका उत्तर 'अर्थमाः प्रधानत्वात्'से दिया है. अर्थात् वाक्य परस्पर भले ही अलग-अलग है किन्तु उनका अर्थ तो समान ही होगा. सर्ग आदि अर्थ जिस प्रकारसे भागवतमृ कहे हैं वे ही पराशरकी तरह कृष्णमृ भी है इसलिए किसी तरह की कोई शंका नहीं है।।४५ ।।

कुछ लोगृका कहना है कि भगवान् और ब्रह्माजीके संवादका परंपरासे आया हुआ भागवत् द्वितीय स्कन्ध मात्र ही सूक्ष्म भागवत है और दशम स्कन्ध पर्यन्त जो भागवत् प्राप्त होती है वह तो स्थूल भागवत् है इस पक्षको 'स्थूल सूक्ष्म' इस श्लोकसे दूषित करते हैं.

स्थूलसूक्ष्मविभेदेन केचिदाहुर्मृषैव तत्।।४६।।
पञ्चमादन्यवत्कृत्वा तथा शास्त्रविरोधतः ।

कुछ लोगृने (बोपदेव आदिने) भागवतमृ स्थूल सुक्ष्मका भेद किया है वह झूठा है. उसी तरह जो पंचम स्कन्धसे आगेका भागवत है वह भी मुख्य नहीं है ऐसा कहना भी शास्त्र विरुद्ध है।।४६ ।।

पंचम स्कन्धमृ जितना भी भागवत है उसे न तो पराशरजीने कहा है ओर न ही व्यासजीने पराशरसे सुनकर पंचम स्कन्धादि कहे हैं यदि ऐसा मान लेते हैं तो ''कस्मै येन पुरेति'' यह श्लोक जो समाप्तिमृ कहा गया है वह परंपराके विरुद्ध पड़ेगा और बीचमृ मैत्रेयजीका प्रवेश भी व्यर्थ हो जायेगा अतः भागवत् सर्वतोमुख है इस बातकी प्रसिद्धिके लिए शेष कथाका निरूपण किया है यह बात निश्चित है।।४६ ।।

इस प्रकार दूषणका समाधान कह कर 'गुणातीताम्' कारिकाके प्रकरणकी संगति कहते हैं.

गुणातीतात्सृष्टिकथा स्वत उक्ताऽतिगोप्यतः।।४७।।
कृष्णाज्ञया तन्मुखतः श्रुतत्वान्न स्वतन्त्रता।।

गुणातीतसे ही सृष्टि होती है यह गोप्य है अतः इस कथाको स्वयं भगवानने ही कहा है. मैत्रेयजीने जो पराशरजीके मुखसे कथा सुनी है वह कृष्णकी आज्ञासे ही सुनी है अतः कृष्ण ही कथाके वक्ता है, स्वतन्त्र रूपने पराशर उसके वक्ता नहीं है।।४७।।

मैत्रेयने इस भागवतको पराशरके मुखसे नहीं सुनी इसमृ प्रमाण क्या है उत्तर है 'कृष्णाज्ञयातन्मुखत्तः' कृष्णकी आज्ञासे पराशरके मुखसे भागवत सुनी इसमृ तो यह स्पष्ट है कि मैत्रेयने कृष्णके मुखसे ही भागवत सुनी है. भगवानने आदिरूपसे यह भागवत ब्रह्माजीको कही और ''अवतार लेकर मैत्रेयजी तथा उद्धवजीको कही'' उद्धवजीके आगेकी परंपरा स्पष्ट नहीं है. मैत्रेयजीने विदुरजीसे कहा।।४७ ।।

यह भागवत् अत्यन्त शुद्धचित्तवालेको ही सफल होती है. विदुरजी अत्यन्त शुद्धचित्त नहीं थे. यह 'अत्यन्त शुद्धचित्तस्य' इस श्लोकसे कहते हैं.

अत्यन्तशुद्धचित्तस्य युक्तिर्नाऽपेक्ष्यते क्वचित्।।४८।।
इति वक्तुर्न सन्देहः श्रोतुस्त्वस्तीति संशयः।

जो अत्यन्त शुद्धचित्तवाला होता है उसके लिए कहीं भी मुक्तिकी उपेक्षा नहीं रहती. इसलिए वक्ता (मैत्रेयजी) को तो कोई संदेह नहीं है किन्तु श्रोता (विदुरजी) की तो संदेह है।।४८ ।।

उक्त कथनसे भागवत बहुत है ऐसा जाना जाता है. जो कोई भगवदीय भगवान्से कही हुई को कहता है वही भागवत है ऐसा भागवतका सामान्य लक्षण है।।४८ ।।

युक्तिसे पदार्थका निश्चय किया जाता है वह लौकिक होता है. भागवतार्थ तो अलौकिक है इसलिए उसका निर्णय युक्तिसे नहीं होता. परंतु अधिकारके अभावमृ वह अर्थ समजमृ नहीं आता. इसलिए संदेह जब होता है तो उसका निराकरण करना भी आवश्यक है. अतः वहां जिस तरह जो मानता है उसके लिए उसी तरहसे निरूपण करना चाहिए मैत्रेयजी विदुरजीकी समजके अनुसार ही उसका समाधान करते हैं. उसमृ पूर्व पक्ष और सिद्धान्तको 'गुणातीतात्' इस कारिकासे कहते हैं.

गुणातीतात्सृष्टिकथा सर्वथा नोपपद्यते।।४९।।
कार्यकारणवैजात्याल्लोकहेतोरभावतः।
निरूपाधिकरूपे हि सन्देहद्वयमीरितम्।।५०।।

गुणातीतसे सृष्टि होती है ऐसा कथन किसी भी तरह युक्तिसंगत नहीं है. क्यृकि गुणातीत अर्थात् निर्गुण कारणसे सगुण कार्य (सृष्टि) विजातीय होनेसे कैसे होगा इस प्रकारके कार्य कारणमृ लौकिक युक्तिका अभाव है. अतः निरूपाधिक रूपमृ संदेह कहे गए हैं।।५०।।

पुरुषकी उत्पत्ति निषेक (वीर्याधान) के द्वारा होती है उसे बालक जैसे नहीं जानता है वह बालक तो केवल भोजन और मल-मूत्र त्यागको ही देखता है और उसे ही पुरुषकी उत्पत्तिके कारण मानता है परंतु जब वह विचार करता है तो उसे भोजन तथा मल-मूत्र त्यागसे पुरुषकी उत्पत्तिमृ संदेह होता है तब उसे वक्ता जैसे-तैसे समजाता है परंतु ऐसा समजना वास्तविक नहीं होता किन्तु 'भगवानेक आसेदम्' इस श्लोकमृ भगवान्से ही सृष्टि होती है ऐसा कहा है अतः यही वास्तविक सिद्धान्त है. विदुरजीको क्यृ संदेह हुआ ? इसका कारण कार्य कारण वैजात्यात् है अर्थात् सृष्टिका कारण भगवान् है वह तो है गुण रहित और कार्य जो सृष्टि है वह है सगुण तो ऐसी कार्य और

कारणकी विजातीयता तो देखी नहीं है. लौकिकमृ सृष्टिका हेतु काम है. इस प्रकार गुणातीतमृ दो संदेह होते हैं।।५०।।

गुणातीत ब्रह्मसे सृष्टि मानने पर जो दो संदेह होते थे उनके परिहारके लिए यदि ब्रह्मको सोपाधिक मान लृ और सोपाधिक ब्रह्म ही जगतका कर्त्ता है ऐसा निरूपण करृगे तो पूर्वोक्त दोषका परिहार हो जाएगा. परंतु वैसा हो नहीं सकता क्यृकि जो ब्रह्म पूर्ण ज्ञानवाला है उसका विशेषण सोपाधिकत्व कैसे होगा. अतः यह तृतीय दोष और ब्रह्ममृ आ जायेगा उसे 'सापाधित्वे' कारिकासे कहते हैं.

सोपाधित्वे परीहारस्तदेव न भवेदिति।
तृतीयो ब्रह्मगः सिद्धो जीवेऽप्येवमभेदतः।।५१।।

ब्रह्मको सोपाधिक मानकर उससे जगतकी सृष्टि होती है ऐसा मानृगे तो भी दोषका परिहार न होगा और यह सोपाधिकत्व तृतीय दोष ब्रह्ममृ सिद्ध हो जायेगा और जीव ब्रह्ममृ अभेद होनेके कारण जीवमृ भी यह दोष हो जायेगा।।५१।।

सोपाधिक मानने पर इस दोषका तो समाधान नहीं होगा उल्टा तीसरा दोष और हो जायेगा और वह दोष ब्रह्ममृ आयेगा और यही दोष जीव भावापन्न ब्रह्ममृ भी रहेगा।।५१।।

ब्रह्ममृ मायाका सम्बन्ध है ऐसा निरूपण करृगे तो ब्रह्ममृ दुर्भगत्वादि दोषृका भी संभव होगा इस तरह कार्य कारणका समाधान करृगे तो जैसे मायाका सम्बन्ध कारणमृ है, उसी तरह कार्यमृ भी उसके सम्बन्धका निरूपण करना पड़ेगा.

मायासम्बन्धकार्ये हि परिहार्ये तयोः क्रमात्।
प्रथमस्य परीहारः षष्ठ्या नित्यतयोदितः।।५२।।

इस तरह जीव स्वरूप और ब्रह्म स्वरूपमृ जो संदेह है उनका ब्रह्ममृ मायाका संदेह उस क्रमके कार्य जीवमृ उक्त दोषृका परिहार करना चाहिए उसमृ प्रथम जो ब्रह्म है उसमृ तो मायाका सम्बन्ध षष्ठीके द्वारा नित्य कहा गया है।।५२।।

इस तरह एक शंका ब्रह्मके विषय और दूसरी शंका जीवके विषयमृ होती है इस प्रकार पूर्वपक्षका निरूपण करके सिद्धान्त पक्षका प्रथमस्य परिहारसे करते हैं. भगवानका मायासे नित्य सम्बन्ध है यह ''सेयं भगवतो माया यन्न येन विरुद्धेयेते'' यहां भगवतः इस षष्ठृसे निरूपित किया है।।५२।।

शंका होती है कि मायाके सम्बन्धसे भगवान् सृष्टि कर सकते हैं इससे तो भगवत्वकी ही हानि होगी इस आशंकाका समाधान 'भगवत्वाविरोधित्वं' इस कारिकासे कहते हैं.

भगवत्त्वाविरोधित्वं प्रकृत्यैव च सूचितम्।

असमासात् प्रधानत्वं तेन नोपाधिसम्भवः।।५३।।

भगवान् इस पदसे ही गुणातीतके साथ कोई विरोध नहीं आता और सम्बन्ध षष्ठी तो प्रशंसापरक है. 'भगवतो माया' इस प्रकार समासके बिना जो रखा गया है उससे ब्रह्मकी प्रधानता सूचित होती है ब्रह्मके साथ मायाका सम्बन्ध तो उसी प्रकार है जैसे आकाशमृ बहुत दूर रहनेवाले सूर्यका सम्बन्ध अनेक रंगके दर्पण ओर जलके साथ होता है अतः ब्रह्मके साथ शुद्ध है उसमृ उपाधिका संभव नहीं है।।५३।।

शंका होती है कि विशेषपक्षसे भी भगवत्वका अविरोध युक्तिसंगत हो सकता है उसका उत्तर देते हैं कि 'भगवतो माया' इस प्रकार असमस्त पदसे ही भागवतका अविरोध हो जायेगा असमस्त (अलग-अलग) होनेसे ही एकार्थता नहीं होगी. इसलिए भगवान् माया विशिष्ट नहीं है. किन्तु माया भगवान्से अलग है और वह इस दासीकी तरह आज्ञाकारिणी होकर रहती है।।५३।।

इस प्रकार भगवानमृ दोषका परिहार कहकर जीवमृ दोषका परिहार 'द्वितीयस्य' इस कारिकासे कहते हैं.

द्वितीयस्य परिहारे विरोधात्कार्यबाधनम्।
विरोधमात्रमाहोस्विदाद्ये सेयं दृशिर्यतः।।५४।।

भगवानमृ माया सम्बन्धके दोषका परिहार करके द्वितीय अर्थात् जीवमृ जब विरोधका परिहार किया जायेगा उस समय दो विकल्प होते हैं कामनाके द्वारा ही कर्तव्य आता है ब्रह्म तो गुणातीत है तो उसमृ कामनाके अभावसे ब्रह्मसे कार्य (जगत्) की उत्पत्ति कैसे हुई. दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि कार्य तो दृश्यमान है तो कार्य बिना कर्त्ताके हो नहीं सकता तब उसका कर्त्ता अवश्य है और कर्त्ता जब है तो उसे कार्य करनेकी कामना (इच्छा) अवश्य होनी ही चाहिए और ब्रह्ममृ कर्तव्य तो मानते हैं किन्तु कामनाका अभाव भी मानते हैं तो यह दोनृ साथ कैसे रह सकते हैं. उसमृ प्रथम विकल्पका उत्तर 'सेयं दृशिर्यतः'से दिया, अर्थात् कार्य (जगत्) जब प्रत्यक्ष दीखता है तो नियमके बलसे कर्तव्य तो आ ही जायेगा और अब रहा कामनाका अभाव कैसे उसका उत्तर है यह कर्तृता ऐसी है कि जिसमृ कामनाका अभाव होते हुवे भी कर्तृता है।।५४।।

भगवतो माया इन दो पदृके अलग-अलग होनेसे प्रथम (ब्रह्मके दोषका तो) परिहार हो गया. अब द्वितीय (जगत्) पक्षमृ दो विकल्प होते हैं पहला विरोध होनेसे कार्यका नहीं होना अथवा कार्यमृ विरोध मात्रका कथन. प्रथम विकल्पका समाधान तो 'सेयं दृशिर्यतः'से किया जाता है कार्यका बोध तो कर नहीं सकते क्यृकि संसार असिद्ध है. यदि कहृ कि संसार असिद्ध क्यृ है तो उसका कारण यह है कि भगवानकी मायासे ही उसकी उत्पत्ति होती है।।५४।।

तथापि युक्ति विरोध होगा इसलिए द्वितीय पक्षमृ 'द्वितीय भूषण' इस कारिकासे समाधान करते हैं.

द्वितीये भूषणं तस्या विरोधो न तु दूषणम् ।
विरुद्धकार्यसम्बन्धस्तत्कृतस्तेन वर्ण्यते।।५५।।

कर्तव्य होते हुए भी कामनाका अभाव इनकी सहस्थिति जिसको दूषण बताया था वह तो वास्तवमृ भूषण हैं. इससे तो स्वभावका उत्कर्ष तथा सामर्थ्य विशेषका बोध होता है. माया विरुद्ध कार्य करनेवाली है अतः मायाके द्वारा विरुद्ध कार्यका सम्बन्ध जीवमृ वर्णित है।।५५।।

ऐसा कथन भूषण कैसे है उसका उत्तर विशेष कार्य सम्बन्धमृ देते हैं. मायासे विरुद्ध कार्य देखे जाते हैं जैसे सिर काट देते हैं और जीवित रहता है. आंत निकाल ली जाती है. फिर भी स्वरूप रहता है।।५५।।

शंका होती है कि इसमृ युक्ति क्या है इसका उत्तर 'विरोधोऽपि प्रतीत्यैव' आदि कारिकासे देते हैं.

विरोधोपि प्रतीत्यैव न वस्तुनि यतो बृहत् ।
दर्शनं ज्ञानिनोप्येवं जीवे सर्वस्य नेश्वरे।।५६।।
इति दृष्टान्ततस्तस्य सत्ये भेदो निरूपितः ।
तन्निवृत्तिप्रतीकारो दुर्लभस्तेन तत्कथा।।५७।।

विरोध जो दिखाई देता है वह भी प्रतीतिमात्रसे ही है वस्तुमृ नहीं है क्यृकि जीव भी तो ब्रह्म ही है जो ज्ञानी जीवमृ जीव स्वरूपको जानता है. जीवका स्वरूप सभी अवस्थामृ भासित होता ही है केवल ईश्वरका स्वरूप भासित नहीं होता है. स्वप्नके दृष्टान्तसे सत्य जो भगवत्स्वरूप है उससे देहका भेद निरूपित किया है. इस अनर्थकी निवृत्ति दुर्लभ है अतः उसका उपाय कहा जा रहा है।।५७।।

जिस प्रकार ब्रह्म सर्वरूप हो सकता है माया जो भगवानका रूप है वह भी सर्व रूप हो सकती है. यह आत्मविपर्यय कार्पण्य आदि ईश्वरके स्वरूपको जान लेने पर नहीं ह्रृगे इस आशंकाके लिए 'दर्शनज्ञानिनोऽप्येवम्' यह कहा जो ज्ञानी जीवमृ जीवके स्वरूपका अनभिज्ञ (अजानकार) है उसके लिए जीवका स्वरूप सभी अवस्थामृ भासित होता ही है. केवल ईश्वरका स्वरूप ही भासित नहीं होता है. इसीलिए स्वप्नके दृष्टा भगवान् ही है उन भगवानके साथ अपना अभेद ज्ञान है इसलिए स्वशिरच्छेद स्वप्नमृ भासित होता है. वास्तवमृ जो जीवके स्वप्न शरीरका शिरच्छेद ईश्वरको दीखता है किन्तु ईश्वरके साथ अभेद होनेसे स्वयंको भी शिरच्छेद दीखता है भेद तो सुषुप्ति और उत्क्रांतिमृ ही दीखता है. शरीर प्राज्ञ आत्मासे मिला हुआ है इसलिए

उनका भेदसे निरूपण है. और ब्रह्मज्ञानीको वहां भेदसे ही अनुभव होता है ब्रह्मवेत्तासे अतिरिक्तको उसका भेद ज्ञान नहीं होता. स्वप्न दृष्टान्तसे सत्य भगवत्स्वरूपमॄ देहके भेदका निरूपण किया है वहां दृष्टा भगवान् ही है. तब सिर जीवका है इसमॄ क्या प्रमाण है वहां द्वितीय दृष्टान्त जलमॄ चन्द्रमाको देते हैं. जैसे जलमॄ हिलता हुआ चन्द्रबिम्ब दीखता है तो वह कंपन आकाशमॄ स्थित चन्द्रमॄ नहीं है. किन्तु कम्पन्न तो जलमॄ है उसी तरह यह अहन्ता देहादिरूप संसारमॄ है. इसलिए ब्रह्मके साथ जीवका अभेद होने पर भी वह सिर जीव ही का है. इस अनर्थकी निवृत्ति स्वतः तो हो नहीं सकती इसलिए उसकी निवृत्तिका उपाय तन्निवृत्ति प्रतीकार इस पदसे कही है।।५६-५७।।

अनर्थकी निवृत्ति भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग इन दोनॄसे होती है. मैत्रेयजीका अभिप्राय यह है कि भक्तिमार्गसे अनर्थका तिरोभाव 'शनैः शनैः' होता है. सबका तिरोभाव तो भगवत्साक्षात्कारसे होता है. उस समय स्वप्न दर्शन नहीं होता एवं जाग्रत् अवस्थामॄ भी देह आदिमॄ आत्मा बुद्धि नहीं होती किन्तु सुषुप्तिकी तरह सर्वदा ब्रह्मानन्दका अनुभव होता है.

निदर्शनं सुलभं साधनं च गूढा सूक्तिस्तेन वै तत्प्रकाशः ।
तदुक्तं वै दर्शनं यन्न भेद्यं सेवाहेतुः शास्त्रनिष्ठेयमाद्या।।५८।।

मैत्रेयजी ''अशेषसंक्लेशमविद्यते गुणानुवाद श्रवणं मुरारेः'' इस श्लोकसे भक्तिमार्गमॄ मुक्ति कहनी चाहिए इसको कैमुत्तिक न्यायसे कहते हैं. इसमॄ दृष्टान्त भी सुलभ है और साधन भी सुलभ है. सबके अनर्थकी निवृत्ति तो इसलिए नहीं होती कि भगवच्चरित्रका कथन गुप्त है इसलिए भगवान् सबके लिए प्रकट नहीं है अतएव सबकी मुक्ति नहीं होती. भक्तिमार्गके दुर्लभ होनेसे ज्ञानमार्ग कहा. परंतु ज्ञान मार्गसे भी आत्माका भेद ज्ञात न हो सका. इसलिए दोनॄ मार्गोंमॄ सेवाको ही हेतु बताया वह सेवा भी शास्त्र (पंचरात्र) के द्वारा बताई हुई ही पहले करनी चाहिए।।५८।।

प्रथम पक्षमॄ मुक्ति कहनी चाहिए इसलिए मैत्रेयजीने कैमुत्तिकन्यायसे ''अशेष संक्लेशशमम्' इस श्लोकसे उसका निरूपण किया. इसमॄ दृष्टान्त भी सुलभ है. भगवद्गुणानुवादमॄ सभी को परमानन्दका अनुभव होता है. साधन भी सुलभ है कारण कि सर्वत्र भगवद्भक्त भगवानके गुणॄका कीर्तन करते ही हैं इसमॄ किसी देश विशेषकी अपेक्षा नहीं है. जब साधन सुलभ है तो सबके अनर्थोंकी निवृत्ति क्यॄ नहीं होती. उसका कारण यह है कि भगवच्चरित्रकी उक्ति उत्तम है परन्तु गुप्त है और भगवच्चरित्रोक्तिसे ही भगवान् प्रकाशमॄ आते हैं किन्तु भगवच्चरित्रोक्तिके गूढ़ होनेसे सबकी मुक्ति दुर्लभ है. इसीलिए भक्तिमार्ग दुर्लभ है ऐसा कहा. ज्ञानमार्ग कहा परंतु उसमॄ भी आत्माका भेद समजमॄ नहीं आता. इस तरह दोनॄ ही मार्गमॄ सेवा ही को हेतु (कारण) माना है

भगवत्सेवासे दोनॄकी प्राप्ति होती है. वह सेवा भी शास्त्र (पंचरात्र) मॄ बताई गई रीतिसे करनी चाहिए. अपनी इच्छाके अनुसार जैसे तैसे नहीं करनी. सबसे पहले सेवा ही करनी चाहिए, बादमॄ जब भगवानकी प्रसन्नता होगी तो भगवानके द्वारा बताए हुए प्रकारसे अपनी इच्छासे भी सेवा हो सकती है।।५८।।

यह सिद्धान्त जानना चाहिए ऐसा सोचकर ही सब प्रश्न किये हैं.

तदर्थमेव सकलं पृष्टं दुर्लभसङ्गतः।
अतोऽपि न विसर्गत्वमन्यशेषाद्यवीयसाम्।।५९।।

सर्गके लिए ही पूछा था क्यॄकि ऐसा सर्ग बहुत दुर्लभ है. इससे भी ब्रह्मा आदिमॄ विसर्गता नहीं है क्यॄकि ब्रह्मा आदि भगवानके विभूत्तिरूप हैं.

उक्त कथनसे तो सर्गलीलाका कथन है विसर्गका नहीं. ब्रह्मा आदि तो सृष्टि कर्ता भगवानके विभूतिशेष हैं. इस प्रकार पूर्व पक्षके अध्यायमॄ विभूतिज्ञानके लिए ही प्रश्न था उसका समर्थन है।।५९।।

विभूतिज्ञान भागवत्से ही होता है. उसकी प्रस्तावना 'श्रीभागवत मेवात्र' यह कारिका है.

श्रीभागवतमेवाऽत्र श्रोतव्यं नान्यदस्ति हि।
स्वज्ञानख्यापनार्थं हि तदुपाख्यानमीरितम्।।६०।।

विभूतिका ज्ञान करनेके लिए अन्य कोई श्रवणीय नहीं है, भागवत् ही सुनना चाहिए. अपने ज्ञानको कहनेके लिए उसका उपाख्यान यहां कहा गया है।।६०।।

पुराणांतरोसे विभूतिज्ञान नहीं हो सकता इसलिए उनको नहीं सुनना चाहिए।।६०।।

ब्रह्मा विभूतिरूप कैसे है इस आशंकाके समाधानके लिए 'तदुद्भवः तदाज्ञप्तः' कारिका कही है.

तदुद्भवस्तदाऽऽज्ञप्तस्तपसा तोषिते हरौ।
स्तुते सम्प्रार्थिते चैवं बोधितः सर्वमेव हि।।६१।।
चतुर्मुखश्चकारेदं यथापूर्वं तदाज्ञया।
इति दर्शयितुं पृष्ट उपोद्घातं त्रिभिर्जगौ।।६२।।

चतुर्मुख ब्रह्माकी उत्पत्ति भगवान्से है. उन्होने तपस्यासे भगवानको प्रसन्न किया तो भगवानने उनको सृष्टिकी आज्ञा दी. ब्रह्माजीने भगवानकी स्तुति की और प्रार्थना की, तब भगवानने ब्रह्माजीको सब बात समजाई. तब चतुर्मुख ब्रह्माने भगवानकी आज्ञासे यथापूर्व सृष्टि की, इसे बतानेके लिए पूछा था उसका उपोद्घात तीन अध्यायोसे कहा है।।६१,६२।।

सात प्रकारसे जो भगवत्सम्बन्धी होता है वह भगवानकी विभूति होती है. किन्ही का कहना है कि जो सात प्रकारसे भगवत्सम्बन्धी होता है वह आवेशी होता है. इस सृष्टि प्रकरणमॅू गुणातीतसे सृष्टि कही, अब सगुणसे सृष्टि कही जायेगी वह भी 'विरिञ्चौऽपितथाचक्रे' ब्रह्माने भी वैसी ही सृष्टि की, यह दशमाध्यायमॅू कही जायेगी. बीचमॅू सगुणसे सृष्टि कैसे हुई, ऐसी आशंका की. उसके निरूपणमॅू तीन अध्यायॅूसे उपोद्घात किया. इससे यह स्पष्ट है कि ब्रह्म विभूति रूप है, इसका निरूपण विस्तारसे किया और ब्रह्मासे होनेवाली सृष्टिका निरूपण अष्टमाध्यायके केवल दो श्लोकॅूसे ही किया है।।६१,६२।।

पद्मकल्पका विशेष रूपसे जो वर्णन है उसमॅू क्या हेतु है यह 'पद्मकल्प' इस कारिकासे कहते हैं.

पद्मकल्पः सात्त्विकानां श्रेष्ठस्तं तत उक्तवान्।
पूर्वस्य प्रलयं शिष्टं हेतुं चाह विशुद्धये।।६३।।

पद्मकल्प सात्त्विकॅूका है, अतः श्रेष्ठ होनेसे उसे कहा. पद्मकल्पसे पूर्वका कल्प था उसका प्रलय और उसमॅू बचे हुए शेषशायी भगवान् उनको अग्रिम (पाद्म) कल्पका हेतु बताया इससे पद्मकल्प अत्यन्त शुद्ध है, ऐसा सिद्ध होता है।।६३।।

पद्मकल्पसे पहला कल्परूप तामस हो सकता है. इसलिए उसके प्रलयका निरूपण है. उस कल्पमॅू बचे हुए शेषशायी भगवान् वे ही आगेके कल्पके हेतु हैं इसलिए उनका निरूपण है. इसलिए पद्मकल्प अत्यन्त शुद्ध है।।६३।।

यहां कल्प भेदॅूमॅू पदार्थोंसे जो अन्यथात्व है वह दोषयुक्त नहीं है, इसे बतानेके लिए 'जघनाब्जपृथग्रूपैः' इस कारिकासे पृथ्वीके तीन रूप कहे हैं.

जघनाब्जपृथग्रूपैस्त्रिधा भूमेर्निरूपणम्।
ब्राह्मे पाद्मे वराहे च तेन नाऽन्योन्यदूषणम्।।६४।।

ब्रह्मकल्पमॅू भूमिका निरूपण जघन रूपसे पद्मकल्पमॅू नाकिपद्मरूपसे और वाराह कल्पमॅू प्रथम रूपसे किया है इसलिए इनके पृथक्-पृथक् होने पर भी कल्पभेदके कारण कोई दोष नहीं है।।६४।।

ब्रह्मकल्पमॅू पृथ्वी विराट् प्रभुके जघनरूपी थी. पाद्मकल्पमॅू उसी विराट् प्रभुके नाभिपद्मरूप थी और वाराह कल्पमॅू तो उस विराट् प्रभुसे अलग रूपवाली थी वहां भी आदि वाराह कल्पमॅू ब्रह्मने अतल आदि पांच लोकॅूका हाथसे उद्धार किया था और कमलपत्र पर उन्हॅू स्थापित किये थे वही पृथ्वी फिर डूब गयी थी इसका भगवानने वाराह कल्पमॅू उद्धार किया वह तो श्वेत वाराह कल्प हैं यह तो उससे भी अलग है इसलिए इसमॅू जो कोई दृष्ट अथवा श्रुत है उसमॅू विरोध नहीं मानना चाहिए।।६४।।

शंका होती है कि बहुतसे कल्प जब विद्यमान है तो भगवानमृ केवल इन तीन ही कल्पृका वर्णन क्यृ है उसका समाधान 'प्राकृतं त्रयमेतत्' इस कारिकासे करते हैं.

प्राकृतं त्रयमेतत्स्यादन्येष्वेकं यथोचितम्।
अतस्त्रिधा भागवते भुवो रूपनिरूपणम्।।६५।।

ब्राह्म, पाद्म और वाराहमृ तीन कल्प ही प्राकृत (मुख्य) हैं अन्य कल्पृमृ पृथ्वीका रूप इन्हीं तीन कल्पृमृ वर्णितमृसे कोई हो जाता है. अतएव भागवतमृ पृथ्वीके तीन प्रकारके रूपृका निरूपण किया है।।६५।।

अन्य कल्प इन तीन कल्पृके विकार रूप है इसलिए इन कल्पृमृ इनमृसे कोई एक रूप पृथ्वी आदिका होता है इसी बातको बतानेके लिए 'अतस्त्रिविधा भागवते' ऐसा कहा है अर्थात् भागवतमृ पृथ्वीके इन तीन रूपृका ही वर्णन है।।६५।।

उन कल्पृमृ अन्य धर्मोका विवेचन 'पुरुषावयवैः' इस कारिकासे करते हैं.

पुरुषावयवैः सर्वं यदा तस्य पृथङ्न हि।
पृथिवी वा समुद्रा वा परिखामध्यवत्पुरम्।।६६।।
तदा सर्वं हरिर्मानी न मानीत्यपरे विदुः।।

ब्राह्म कल्पमृ विराट् पुरुषके अवयवृसे सबकी उत्पत्ति होती है अतः पृथ्वी आदि अलग नहीं रहते. यह पृथ्वी ये समुद्र सब परिखा (खाई) के अंदर जैसे नगर होता है उस तरहसे रहते हैं उस समय सब भगवत्रूप ही होता है. अन्य विद्वान ऐसा जानते हैं कि ये भगवानके अवयव रूप नहीं है।।६६-६६ ।।

यह ब्रह्म कल्पकी व्यवस्था है. उस समय भगवान्से पृथ्वी आदि अलग नहीं रहते ब्रह्म कल्पमृ एक ही विराट् रूप आवरण जलके मध्यमृ परिखा (खाई) के मध्यमृ रहनेवाले नगर की तरह स्थित रहता है. उस कल्पमृ सबका सब भगवत् शरीर रूप होनेसे हरि ही रहता है ऐसा मानते हैं. दूसरे कहते हैं कि विराट् शरीरको भगवान् नारायणने लीलाके लिए करण (असाधारण कारण) के रूपमृ ग्रहण किया था उस पक्षमृ यह विश्व भगवानका क्रिड़ा भाण्डका भगवत्स्वरूप नहीं था. ब्रह्म समवाय सम्बन्धसे कारण होते हुए भी कामधेनु आदिके दृष्टान्तृसे वहां आत्मस्फूर्ति नहीं मानते हैं किन्तु वास्तवमृ तो यह विश्व आत्मीयत्व रूपसे ही स्फूरित होता है।।६६ ।।

ब्रह्मकल्पमृ होनेवाली विराट् व्यवस्थाको कहकर अब द्वितीय पक्ष (पद्म कल्प) की व्यवस्थाको कहते हैं.

यदा पद्मात्सर्वमिदं तदा पूर्वकथा न हि।।६७।।
जलं च मध्यतः सृष्टमथवाऽण्डस्य मध्यगम्।।६७।।

जिस समय पद्मकल्पमृ सृष्टि हुई थी उस समय यह सब कुछ नहीं था अर्थात्

प्रलयका जल भी नहीं था, जल की भी सृष्टि कमलके मध्यमृ की अथवा अण्डके मध्यमृ की।।६७ ।।

पद्मकल्पमृ प्रलय जल भी नहीं था. किन्तु तिरोहित नारायण थे और स्थल कमलकी तरह केवल नाभि कमल ही था. जलकी भी उस कमलके मध्यमृ बादमृ सृष्टिकी. अथवा अण्डके मध्यमृ सृष्टिके विराट् तो तिरोहित थे और कमल मात्र ही प्रकट था. उस समय कमलसे ही सृष्टि हुई उस कल्पमृ सभी भगवानके अंश थे और भगवानकी मायाके सहित थे।।६८ ।।

'कदाचिज्जलवद्भूमिः' इस कारिकासे तृतीय कल्पका वर्णन करते हैं.

कदाचिज्जलवद्भूमिः पृथगेव विनिर्मिता।।६८।।
कटाहमूले गमनं तदा तस्या निरूप्यते ।
न समुद्रास्तदा सप्त न तथा विस्तृता च भूः।।६९।।

पद्मकल्पमृ जैसे जलका निर्माण किया था उसी तरह वाराह कल्पमृ भूमिका अगलसे निर्माण किया. वह भूमि कटाहमूल (रसातल) मृ चली गई थी उसका निरूपण है. उस समय न तो सात समुद्र थे और न उस समय पृथ्वी भी इस प्रकार विस्तृत थी।।६८,६९।।

जिस तरह पद्मकल्पमृ जलका निर्माण किया उसी तरह वाराह कल्पमृ पृथ्वीका निर्माण किया कटाह मूलका अर्थ यहां रसातल है. उस समय सात समूद्र थे इसमृ कोई प्रमाण नहीं मिलता. पचास करोड़के विस्तारवाली यह पृथ्वी थी ऐसा कथन अप्रमाणिक है इसमृ ज्योतिष शास्त्रसे विरोध आता है।।६९।।

'न शेते' इस कारिकासे वाराह कल्पमृ और भी विलक्षणता हैं उसे कहते हैं.

न शेते प्रथमे कल्पे तिरोभावस्तु तस्य हि ।
द्वितीये शयनं तस्य तृतीयेपि क्वचिद्भवेत्।।७०।।

पहला जो ब्रह्म कल्प है उसमृ विराट् शयनका वर्णन नहीं है क्यृकि उस समय भूगोल ऊपर था अतः उस समय नारायणके तिरोभावका ही वर्णन है. द्वितीय जो पद्मकल्प है उसमृ नारायणके शयनका वर्णन है और तृतीय वाराह कल्पमृ भी कहीं शयन होता है।।७०।।

ब्राह्म कल्पसे अतिरिक्त कल्पृमृ यह सारा जगत् भग्नमूलक कैसे था इसका उत्तर 'तदुद्धारात्त' कारिकासे देते हैं।।७०।।

तदुद्धारात्तदाधारात्तन्मूलं सर्वमत्र हि ।
अयं नारायणः शेते पूर्वसृष्टं निपीय तु।।७१।।

उस पृथ्वीका उद्धार नारायणने किया है और पृथ्वीका आधार भी वही है

अर्थात् इस पृथ्वी आदिका सब कुछ मूल भगवान् ही है और यह नारायण पूर्वकी सृष्टि (जल) को पीकर सोते हैं।।७१।।

भगवानने ही पृथ्वीका उद्धार किया है पद्मकल्पमॅ पद्मका आधार वे ही भगवान् हैं. इसलिए इसके मूल वे ही हैं. इस प्रकार कल्प भेदसे विरोधका परिहार कर 'उदप्लुतं विश्वमिदम्' इससे किसीके शयनका निरूपण है. वहां पूर्वपक्षके परिहारके लिए ये नारायण सोते है ऐसा कहा. विराट्का शयन कैसा हो सकता है इस शंकाका समाधान यह है कि उस समय गोल तिरछा था इस (वाराह) कल्पके पहले पाद्म कल्प ही था क्यॉकि 'अनेनलोकान् प्राग्लीनान्' इससे यह स्पष्ट हो जाता है।।७१।।

'स्वाधारे' इस कारिकासे शयनका स्थान कहा है.

स्वाधारेऽण्डकटाहे वा जलमध्ये तु तत्स्थितिः।
उदरस्थं जगत्सर्वं रजोरूपेण वर्तते।।७२।।

भगवानकी उस समय अपने ही आधारमॅ स्थिति की अथवा अण्डकटाहमॅ या जल मध्यमॅ ही स्थिति थी और रज रूपसे सारा जगत् उनके उदरमॅ स्थित था।।७२।।

अपने ही अंदर जलकी कल्पना करके उसमॅ आप शयन करते हैं दैनदिन प्रलय वैसा भी होता है अन्यथा नारायणका शयन संभव नहीं हो सकता. अथवा जैसा सुना है उसीके अनुरोधसे पाक्षन्तरकी कल्पना कर लेनी चाहिए अर्थात् अण्डकटाहमॅ उनने शयन किया उस समय जो तीनॅ लोकॅका प्रलय हुआ था वह निद्राके कारण हुआ था. उस समय नारायण तो केवल दृष्टा थे और उस समय अलग ही थे. या तो पूर्वोक्त पुरुषसे वे भिन्न थे अथवा अन्तर्यामी रूपसे थे. दोनॅ ही स्थितिमॅ जलके मध्यमॅ ही स्थिति थी. जितना जिनका संभव है उन सब पदार्थोंका नाश और उत्पत्ति करनी है इसमॅ विरोधकी आशंका करके फिर 'उदरस्थु जगत्सर्वं' इससे इस शंकाका परिहार करते हैं. पहले तो यह निरूपण किया कि यह सारा जगत् जलमॅ डूबा हुआ था इसका निरूपण कर फिर 'अन्तःशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्म' इससे फिर अन्तः जगतका निरूपण किया है. उसमॅ आधिभौतिक तो नष्ट हो गया है और आध्यात्मिकको अन्तःप्रविष्ट कर दिये ऐसी व्यवस्थाकी उसीको ''जगत्सर्व रजोरूपेण वर्तते''से कहा है।।७२।।

''न मूढं न प्रकाश'' इस कारिकासे राजसत्वमॅ हेतु देते हैं.

न मूढं न प्रकाशं च कृष्णदृष्ट्या तदुद्गमः।
समोचश्च विकाशश्च नाऽन्यथेति तथोद्गमः।।७३।।

भगवानके उदरमॅ जगत् स्थित था वह तामस अथवा सात्त्विक न था उस जगतका भगवानके विचारसे उद्गम हुआ. उद्गममॅ राजसत्व ही कारण हैं अन्यथा इस जगतका संकोच विकास नहीं होता।।७३।।

जगतके निर्गमनमृ कृष्ण दृष्टि भगवद्विचारको ही हेतु माना है विचारात्मक दृष्टिमृ भी संकोच विकास हेतु हैं. अन्यथा संकोच विकास नहीं हो सकता.

इस कल्पमृ तत्वृका नियम नहीं है इसको बतानेके लिए विश्वकी जिससे अभिव्यक्ति होती है उसकी उत्पत्तिको कहते हैं.

प्रथमे तु महत्तत्त्वं यथा पद्मं तथाऽपरे।
परिपालकरूपेण प्रविष्टो वेदरूपतः।।७४।।
ब्रह्मा स्वयमभूद् द्वेधा स्वयमर्थोन्तरः पृथक्।
अनन्तर्दृष्टितो भ्रान्तस्तद्दृष्ट्या तस्य दर्शनम्।।७५।।

पूर्व कल्पमृ जैसे महत्व था उसी तरह इस कल्पेमृ पद्मका भगवानने वेद रूपसे परिपालक रूप ब्रह्ममृ प्रवेश किया और ब्रह्माने अपने रूपके दो विभाग किये उसमृ एक तो अर्थरूप स्वयं चतुर्मुख हुए और द्वितीय शब्द ब्रह्मरूप हुए. अन्तर्दृष्टि न होनेसे ब्रह्माजीको भ्रम हुआ और जब उनकी अन्तर्दृष्टि हो गई तो उनको भगवानके दर्शन हो गये।।७४,७५।।

इस कल्पमृ महत्तत्वके स्थानमृ पद्म था वही पद्म जगतका आधार था इस पद्मसे ब्रह्माकी उत्पत्ति कैसे हुई ऐसी आशंका करके उसका समाधान करते हैं कि भगवानने ही वहां प्रवेश किया और ब्रह्माके रूपमृ उत्पन्न हुए. परंतु ब्रह्ममृ भगवानने शब्द (वेद) रूपसे प्रवेश किया था इसलिए ब्रह्माके पुरुष स्थानीय होते हुए भी इनको भगवान्से न्यून रूपवाला कहते हैं. पद्म कल्पमृ ये ब्रह्मा ही विराट्के स्थानापन्न हैं. ब्रह्माजी शब्द ब्रह्मात्मक रूप है उनके दो कार्योंकी सिद्धिके लिए दो रूप हो गये. उनमृ एक तो अर्थरूप था वह तो स्वयं चतुर्मुख ही हुआ जिससे यह रूप प्रपञ्च (जगत्) उत्पन्न होता हैं दूसरा शब्द ब्रह्मरूप हुआ उससे वेदृकी उत्पत्ति हुई. यद्यपि दोनृ एक ही हैं. परंतु अर्थसे शब्दात्मक अलग है. कमलसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्माजी तो महान् हैं फिर उन्हृ क्यृ अपना कारण ढूंढनेमृ भ्रम हुआ. उसका समाधान करते हैं कि ब्रह्माजीकी जब अन्तर्दृष्टि नहीं थी उस समय उनको भ्रम हुआ और जब उनकी अन्तर्दृष्टि हो गई तो उन्हृ अपने कारणका दर्शन हो गया।।७४,७५।।

ब्रह्माजीने अन्तर्दृष्टिसे जैसा देखा था ब्रह्मका स्वरूप वैसा ही है उसे कहते हैं.

साकारमेव तद्ब्रह्म कारणं च तदेव हि।
इति तद्वर्णनं स्तोत्रं तद्ब्रह्मात्वाय वर्ण्यते।।७६।।

ब्रह्माजीने अन्तर्दृष्टिसे देखा तो उन्हृ साकार ब्रह्मके दर्शन हुए वह साकार ब्रह्म ही सबका कारण है. ब्रह्माजीने उसी ब्रह्मका वर्णन किया तथा उसको स्तुति की उसमृ ब्रह्मका ही वर्णन है।।७६।।

इस कल्पमॄ कमल तथा ब्रह्मा ही थे इसके अतिरिक्त और कोई नहीं था. इसका जो कारण है वह यदि साकार है तो वह ब्रह्म ही हैं. कारणको ढूंढनेवालेको कारण ही दिखाई देता है इसलिए वह ही कारण है ऐसा जानकर भगवानका वर्णन तथा स्तुति की. इस स्तुतिमॄ भगवानके स्वरूपका निर्णय है।।७६।।

नवमा अध्याय

स्तोत्रके कारिकाओंकी संख्या २५ है वो भी ब्रह्मके निर्णयके लिए है.

एकविंशतिभिर्नित्यं भजनं जन्मनः फलम्।।
चतुर्भिः प्रार्थ्यते तावत्संसारे तद्धि दुर्लभम्।।७७।।

इक्कीस कारिकाओंसे नित्य भजन करना चाहिए इसका वर्णन है और चार कारिकाओंसे फलकी प्रार्थना हैं वह फल संसारमॄ दुर्लभ हैं।।७७।।

इक्कीसवां पुरुष होता है दस उसके हाथकी उंगलियां हैं और दस पैर की और आत्मा यह इक्कीसवां इससे क्या सिद्ध होता है इसकी आकांक्षा होगी उसका समाधान है नित्य भजन और वही जन्मका फलम् उस फलकी चार कारिकाओंसे प्रार्थना है वास्तवमॄ तो भगवानकी प्रसन्नता ही प्रार्थनीय है. उस प्रसन्नताका भी यह कारण है इसलिए प्रार्थना की जाती है. यही तो संसारमॄ दुर्लभ है. भजनकी सिद्धिके लिए उसमॄ चार अर्थोंकी प्रार्थना की है. उसीसे भजनकी सिद्धि होती है।।७७।।

उन्हीं चार प्रयोजनोंको गिनाते हैं.

सात्त्विकत्वं गुणासक्तिर्वाचकाविस्मृतिस्तथा।
अनुद्वेगश्च सर्वत्र कृष्णतस्तद्धि नाऽन्यथा।।७८।।

१. सात्त्विकता, २. गुणाशक्ति, ३. वाचकाविस्मृति, ४. सर्वत्र अनुद्वेग, ये चार कृष्ण के द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं. अन्य प्रकारसे नहीं।।७८।।

शंका हो सकती है कि इन चारका साधन प्रमाणसे ही करना चाहिए उसका उत्तर है कि नहीं, ये कृष्णके द्वारा प्राप्त होते हैं।।७८।।

शंकां होती है कि जब प्रार्थना की तो सिद्धकी तरह फल क्यों नहीं दे दिया साधनका उपदेश क्यों किया उसका उत्तर देते हैं.

प्रेम्णा न सेवनं यस्मादुपदेशस्ततः कृतः।
आद्ये तपस्ततो ज्ञानं तेनाऽन्यस्तत्फलं ततः।।७९।।
द्विरूपं हृदयोत्साहस्तेनैवाविस्मृतिस्ततः।

ब्रह्माजीने प्रेमसे सेवा नहीं की थी इसलिए उपदेश किया था सात्त्विकताकी प्राप्तिके लिए तप आवश्यक है और उसके द्वारा उनको ज्ञान प्राप्त हुआ और उस ज्ञानके द्वारा भगवद्गुणोंमॄ आसक्ति हुई और उसके द्वारा वेदोंका स्मरण और उसके

अनन्तर उसका फल अनुद्वेग सिद्ध होता है और भगवल्लीलाका परिज्ञान यह अन्य फल भी इनके द्वारा होता है. ये सब जब सिद्ध हॄगे हृदय उत्साह और वेदका अविस्मरण ये दोनॄ ही सिद्ध हॄगे।।७९ ।।

भगवानने प्रार्थनाके अनुसार तो उत्तर नहीं दिया किन्तु ''तुम फिर तप करो'' ऐसा भिन्न ही उपदेश दिया इसका क्या कारण है और इस आशंकाका उत्तर 'अद्येतयः'से दिया है उपदेश तो साधनका ही दिया जाता है सात्त्विकत्व तपके द्वारा ही होता है और भगवद्गुणॄमॄ आसक्ति ज्ञानसे होती है और ज्ञानके द्वारा ही वाचका स्मृति (वेदॄको नहीं भूलना) होती है. जब ये तीनॄ हो जाते हैं तो उनका फल अनुद्वेग सिद्ध होगा. और भी फल जैसे भगवल्लीलाका परिज्ञान यह भी सिद्ध होता है उसके सिद्ध होने पर हृदयमॄ उत्साह और वेदॄकी अविस्मृति भी ठीक तरहसे सिद्ध हो जायेगी।।७९ ।।

अनुद्वेगमॄ दुसरा हेतु भी देते हैं.

कृष्णसक्त्या त्वनुद्वेगः प्रीतो भक्ते हरिः सदा।।८०।।
अतोऽष्टभिर्वचस्तेन तिरोभावाच्च नित्यता।

कृष्णमॄ जब आसक्ति होती है और भगवान् भक्तिसे जब प्रसन्न हो जाते हैं तो अनुद्वेग प्रसन्नता होती है इसे आठ श्लोकॄसे कहा है और उसी रूपसे भगवानका तिरोभाव होनेसे नित्यता भी है।।८० ।।

यदि भगवानमॄ आसक्ति हो और उनकी यदि प्राप्ति न हो तो और उद्वेग होगा उद्वेगकी निवृत्ति कैसे होगी इसके लिए कहा है कि भगवान् भक्तिसे सदा प्रसन्न रहते हैं तो उनकी अप्राप्तिका कोई कारण नहीं इसलिए प्रीतियुक्त भक्तिसे भगवान् प्रसन्न होकर अनुद्वेग (प्रसन्नता) को देते हैं. इसी बातको बतानेके लिए आठ श्लोकॄसे भगवानके वचनका निरूपण है और उसी रूपसे तिरोहित होनेसे उनकी नित्यता भी है. इसी तरह नवम् अध्यायसे ब्रह्माके पिताकी ब्रह्मरूपता सिद्ध की है।।८० ।।

शंका होती है कि नवमे अध्यायमॄ ही सगुणसे सृष्टि कहनी चाहिए और उसका प्रश्न भी करना चाहिए तो फिर इस नवम अध्यायमॄ न कहकर कमल प्रकरण दशम अध्यायमॄ इसका प्रश्न तथा उत्तर क्यॄ कहा.

चरित्रपरचित्तत्वादग्रे पृष्टं न पूर्वतः।।८१।।
अत एव गुरुः प्रीतः क्रमेणैवाऽऽह नाऽन्यथा।

चरित्रमॄ तन्मय होनेके कारण उस चरित्रके पूर्णं न होने तक कोई प्रश्न नहीं किया उसके पूरे होनेके अनन्तर ही आगे प्रश्न किया. इससे गुरुको प्रसन्नता हुई और उन्हॄने क्रमसे ही उत्तर दिया प्रश्नकी अपेक्षासे उत्तर नहीं दिया।।८१।।

उपोद्घातरूपसे भगवच्चरित्र बीचमॄ प्रस्तुत किया था किन्तु भगवच्चरित्रमॄ

तन्मय हो जानेसे जब तक उसकी पूर्ति न हुई तब तक कुछ नहीं पूछा. जब प्रश्न पूछा ही नहीं तो उत्तर भी कैसे देते. आगे कहा जायेगा वह भी पूर्वका ही अंग हो जायेगा यह इसका आशय है. इससे यह सूचित होता है कि भगवद्भक्तृके लिए प्रसंगसे भी भगवत्कथाका वर्णन हो जाय तो अपने भवन उपक्रमके विषयमृ वे उदासीन हो जाते हैं तभी तो उनमृ भक्ति होती है. इसकी परीक्षाके लिए ही गुरुने 'प्रीतः प्रत्याह' इस वाक्यसे वैसा कहा. भगवच्चरित्रके अनन्तर प्रश्न करनेसे गुरुको प्रसन्नता हुई इसका गुरु शब्दसे बताया, क्रमसे कहना ही प्रसन्नता की पहचान है पूर्व सम्बन्ध रूपसे ही प्रश्नोत्तर कहा भिन्न रूपसे नहीं. यदि प्रसन्नता न होती तो पूर्वसे ही सम्बन्ध रहित प्रश्नृका ही उत्तर देते।।८१ ।।

यदि एक ही पद्मकल्प होता तो ''अनेन लोकान् प्राग्लीनान्'' ऐसा वाक्य कैसे कहते. अतः उसके समर्थनके लिये कहते हैं.

पद्मकल्पाश्च बहवस्तेन ज्ञानं तथोदितम्।।८२।।
पद्मतः सर्वसम्भेदं ब्रह्मभेदं तथोक्तवान्।

पद्मकल्प तो बहुत है इसलिए वैसा ज्ञान कहा गया है. सब कार्यमृ कमलका मिश्रण है अतः जिस तरह पद्मकल्प बहुत है उसी तरह ब्रह्मका भेद है।।८२।।

पद्मकल्प बहुत हैं इससे क्या सिद्ध होता है उसका उत्तर है कि 'पद्मजः सर्वसम्भेदम्'. सब कार्यमृ पद्मका मिश्रण है. कदाचित् शंका हो की ''तस्यैव चाऽन्ते कल्पोऽभूत'' उसके अंतमृ ही कल्प (पद्म कल्प) हुआ यह कथन विरुद्ध होगा यदि पद्मकल्प बहुत होते तो 'कल्पोऽभूत' मृ कल्पमृ एक वचनका प्रयोग क्यृ किया बहुवचनका प्रयोग करना चाहिए इसका उत्तर 'ब्रह्मभेद तथोक्तवाण'से देते हैं दूसरे ब्रह्माण्डमृ ब्रह्मा इस ब्रह्माण्डसे भिन्न है इसलिए 'पूर्वार्ध' और 'परार्ध' पक्षमृ दोष नहीं होता है. तथा ब्रह्माका भेद भी इससे सूचित होता है।।८२ ।।

अथवा 'तस्यैवचाऽन्ते' का अन्त शब्द वर्षके अभिप्रायसे कहा है तब तीन सौ आठ ब्रह्मकल्प होते है इसीको कहते हैं.

सामान्यतो विभागोयं सर्वेषामुक्तमेव हि।।८३।।
सृष्टिर्द्विधापि सम्पूर्णा कारणानामतः कथा।

यह सामान्यरूपसे सबका विभाग कहा है. सृष्टि दोनृ ही प्रकारकी अब सम्पूर्ण होती है अब यहांसे कारणृकी बात कही जा रही है अन्तका अर्थ अन्तिम दिवस नहीं है इससे अन्य कल्पृका विभाग भी सूचित होता है सो जानना चाहिए, अथवा सगुण ब्रह्मसे सृष्टि विशेष प्रकारसे क्यृ नहीं कही इस आशंकाकी निवृत्तिके लिए सामान्यतः ऐसा कहा अर्थात् सामान्यरूपसे सब विभाग कहा यह ही सारा जीवलोक है.

''अब सृष्टि द्विधापि'' इससे उपसंहार करते हैं सृष्टि मृ यहां विभूति मुख्य है अब कालके द्वारा सृष्टि कही जाती है इसे 'कारण नामतः' कथासे कहते हैं।।८३ ।।

कालो जीवश्च वै रूपे नाम्नि वैदिकमुच्यते।।८४।।
कालस्य कार्यतो जन्म तदुपाधिवशादपि ।
अव्यक्तत्वात्कृष्णभावान्नोत्पत्तिः कापि तस्य तत्।।८५।।
तथापि कारणत्वाद्धि प्रश्नो युक्तं तथोत्तरम् ।

यद्यपि सर्गके लक्षणमृ भूत आदि पदृसे तत्व ही कहे गए हैं तो कारण सम्भूति वाक्य मृ भी उन्हींका ग्रहण होना चाहिए तो फिर काल और जीव सृष्टिके कथनका क्या अभिप्राय है उसका उत्तर यह है कि काल और जीव नाममृ और रूपमृ वैदिक कहे गये हैं. कालका जन्म कार्यसे होता है अथवा कार्योपाधिवशसे कभी उसका (कालका) जन्म होता है. कालके अव्यक्त होनेसे तथा उसमृ कृष्ण भाव होनेसे उसकी कोई उत्पत्ति नहीं है तथापि कालका कारणत्व अनुभवमृ आता है अतः उसके विषयका प्रश्न तथा उत्तर दोनृ उचित है.

वहां कालका दो अध्यायृसे निरूपण है यह कहते हुए भेद कहते हैं कि कालकी कार्यसे उत्पत्ति होती है. स्वभावसे उसका जन्म इसलिए नहीं होता कि काल अव्यक्त है. जन्म शब्द 'जनि प्रादुर्भावे' इस धातुसे बनता है वह अर्थ यहां नहीं है और दूसरा कारण यह है कि काल भगदानतार रूप है इसलिए उसमृ तीन प्रकारकी उत्पत्ति नहीं है अर्थात् अव्यक्त होनेसे प्राकट्यरूपा उत्पत्ति नहीं है और भगवत्व होनेसे समागमरूपा उत्पत्ति भी नहीं है एवं अवतारता होनेसे उत्पत्तिरूपा उत्पत्ति भी नहीं है तो फिर सृष्टिमृ उसकी बात क्यृ कही इसका उत्तर यह कि कालके कारणत्व अनुभव सिद्ध है जिसके भयसे वायु बहती है जिसके भयसे सूर्य तपता है अतः उसका प्रश्न और उत्तर उचित ही है।।८५ ।।

लक्षणं च स्वरूपं च तस्य कारणताऽपि च।।८६।।
सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वात्परिच्छेदकरः स्वयम् ।

कालका लक्षण और स्वरूप तथा उसकी कारणता भी और सबके ब्रह्मरूप होनेसे वह काल ही स्वयं परिच्छेद कहे गये अर्थात् कालसे ही परिच्छिन्न (सीमित) है।।८६ ।।

काल कारण है इसमृ निमित्त है उसे सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वात्से कहा है काल हीसे परिच्छिन्न (सीमित) है और काल हीसे किया जाता है अर्थात् काल ही उपादान कारण है कर्तृक्रित्या व्याप्त समवायी कारण ही उपादान कारण कहा जाता है।।८६ ।।

कालकी सामर्थ्य ऐसी क्यृ है इसके लिए कालका स्वरूप बताया जाता है.

इदं कालस्य कालत्वमाविर्भावादिकं स्वतः।।८७।।

कार्यतः कालकथनात्सामान्येन निरूपणम्।

कालका कालत्व यही है कि कालके आविर्भावादि स्वतः ही होते हैं. कार्यके निरूपणसे ही सामान्य रूपसे कारणका निरूपण होता है.

इसका अभिनय करनेवाला नट जैसे केवल हाथसे ही सब पदार्थ चेष्टा विशेषसे प्रदर्शित करता है. अतः काल ही ब्रह्मके सर्वभावसे आविर्भाव परिच्छेदका कारण है कुछ लोगको भगवानके आविर्भावका हेतु बताते हैं किन्तु ऐसा नहीं है आविर्भाव सो स्वतः होता है किन्तु काल उसका परिच्छेदक होता है. अब कालका निरूपण सामान्य और विशेष प्रकारसे दो अध्यायॄसे किया जा रहा है. शंका हो सकती है कि कार्यके निरूपणका उपयोग कहा (?) होगा उसके लिए कहते हैं कि कार्य निरूपणसे सामान्य रूपसे कालका निरूपण हो जाता है।।८७।।

शंका करते है इस प्रकारकी गणना किसलिए की सामान्य रूपसे कालका कार्य होनेसे सारे जगतका ही वर्णन करना चाहिए इसका समाधान करते हैं.

कञ्चित्प्रकारमाश्रित्य बुद्धिसौकर्यसिद्धये।।८८।।

खगानां गणना प्रोक्ता भल्लूके लोमपक्षता।

पक्षिजातिविशेषो वा तच्छब्देन तथोदितः।।८९।।

इस प्रकारकी गणना यदि न करते तो सम्पूर्ण कार्य ज्ञात नहीं हो सकता था इसलिए बुद्धिकी सोकर्यकी सिद्धिके लिए गणनाकी गई है. पक्षियॄकी गणनासे भालू (रींछ) की भी गणना की है इसका कारण यह है कि उसके बाल पंखकी जगह मान लिए है अथवा यह भल्लूक कोई पक्षी जाति विशेष हो सकता है इसलिए उसे पक्षी कहा है।।८८।।

गणना करनेसे ही सब कार्य जाना जा सकता है. इसलिए बुद्धि सोकर्यके लिए गणनाकी गई है. उस गणनामॄ भल्लूक (भालू) को पक्षियॄमॄ गिना है परंतु वह तो मृग विशेष है और लोकमॄ प्रसिद्ध है तथा वह जाम्बवानकी जातिका है. अतः उसकी पक्षियॄमॄ गणना उचित नहीं है उसका समाधान 'लोकपक्षता'से किया है उसके बाल पंखकी जगह मान लिये हैं अथवा यह कोई पक्षी जाति विशेष हो सकती है।।८९।।

शंका करते हैं कि 'अर्वाक् स्रोतस्तूनवमः'से मनुष्यॄकी सृष्टि एक ही प्रकारकी कही किन्तु मनुष्यॄमॄ तो उत्तम मध्यम आदि भेद गिने गए हैं यह बात ''मध्यमा मानुषा ये तु'' इत्यादि वाक्यॄसे स्पष्ट है उसका समाधान करते हैं.

अकृत्रिमनराणां च त्रैविध्यं गुणतोपि हि।

ते जायस्व म्रियस्वेति मार्गगा एव कीर्तिताः।।९०।।

कालके कार्य रूपमॄ कृत्रिम मनुष्याॄकी गणना है. अकृत्रिम मनुष्य तो गुणॄसे तीन प्रकारके होते हैं. यहां तो जायस्व (जन्मो) और म्रियस्व (मरो) इस मार्गके मनुष्याॄका कथन है.

कालके कार्यरूप कृत्रिम मनुष्याॄकी यहां गणना की गई है. अकृत्रिम अर्थात् सहज जो तीन प्रकारके हैं. सात्त्विक उत्तम है, वैज्ञानिक अथवा भक्तिनिष्ठ होते हैं. अन्याॄको इसी तरह जानना चाहिए. वे कर्मके अधीन हैं उन्हींको यहां जायस्व म्रियस्वसे कहा है अर्थात् जो कर्माधीन होते हैं वे तो जन्ममरणके चक्करसे छूटते ही नहीं हैं।।९०।।

भगवान् स्वयं (आत्मा) की ही सृष्टि करते हैं इसका अभिप्राय बताते हैं.

अनेकविधसृष्टिश्चेद्वैषम्यादि हरेर्भवेत् ।
आत्मानं हि स्वयं चक्रे तेन नाऽत्रोक्तदूषणम्।।९१।।

अनेक प्रकारकी सृष्टि जब देखी जाती है अर्थात् कोई सुखी कोई दुःखी है ऐसा भेद दृष्टि गोचर होनेसे भगवानमॄ वैषम्य दोष आयेगा अर्थात् भगवान् ऐसी विषम (असमान) सृष्टि करते हैं तो भगवानमॄ विषमता है ऐसा दोष आ सकता है किन्तु जब स्वयं भगवान् ही अनेक प्रकारके हो गये हैं, तो उसमॄ वैषम्य कैसा ? जैसे भगवान् ही यदि चोर रूपमॄ हो और भगवान् ही दण्ड देनेवाले हैं तो विषमता कैसी ? सिर भी हमारा है और हाथ भी हमारा है यदि हम अपने हाथ सिरहाना (तकिया) लगाकर सोते हैं तो क्या हमारेमॄ विषमता हो जायेगी।।९१।।

क्या इस प्रकार सर्वदा कालसे उत्पन्न होते हैं अथवा एक ही बार उत्पन्न होते हैं ऐसी शंका करके एक ही बार कारणतासे उत्पन्न हुए हैं इसे कारिकासे बताते हैं.

तत्तदुत्पत्तिहेतुत्वाद्भेदानां तत्कथा तता ।
कार्यनाशोऽणुपर्यन्तं परमस्तेन स स्मृतः।।९२।।

उन-उनकी उत्पत्तिमॄ हेतुके (कारण) होनेसे भेदाॄमॄ कालका वर्णन है. जब अणुपर्यन्त कार्यका नाश हो जाता है तब जो परम अणु रहता है वह परमाणु कहा जाता है।।९२।।

तत्कथाका अर्थ है कालकी कथा परमाणुपदका निर्वचन करते है 'कार्यनाशो अणु पर्यन्तम्' स्थूलताके अभावमॄ जो सूक्ष्मता है उस सूक्ष्मताका पर्यवसान (अन्त) जहां होता है अर्थात् जिससे कोई सूक्ष्म न हो उसे परमाणु कहते हैं।।९२।।

मानसोत्तरभूमेस्तु स्पृशः सूर्यरथेन हि ।
यावता क्रम्यते कालः परमाणुः स उच्यते।।९३।।
सर्वं नभोमण्डलं हि यावता क्रम्यते स तु ।

मानसकी उत्तर भूमिका वह अंश जो सूर्य रथसे जितने समयमॄ पार किया

जाता है वह परमाणु काल कहा जाता है, और सारे आकाश मण्डलको जितने समयमॅू पार किया जाता है वह संवत्सर कहलाता है. उस संवत्सरकी जब आवृत्ति होती है तो उसके साठ भेद होते हैं. बृहस्पतिकी वाराह आरावाला कालचक्र बारह वर्षमॅू भ्रमण करता है साठ वर्षमॅू पांच बार घूमता है इसलिए वह पंचात्मा कहा गया है।।९३ ।।

कालकी परमाणुतामॅू युक्ति देते हैं.

संवत्सरः परः प्रोक्तस्तदावृत्तिरतः परम्।।९४।।

षष्टि भेदा द्वादशात्मा तेन पञ्चात्मकः स्मृतः ।

संवत्सर परिवत्सर आदि पांच भेदॅूकी उत्पत्ति कहते हैं 'सृष्टि भेदाः' बार्हस्पत्यमानने प्रभव विभव आदि साठ भेद प्रसिद्ध हैं. बृहस्पतिमॅू वारह अंशवाला कालचक्र बारह वर्षोंमॅू घूमता है. उसीकी साठ वर्षोंमॅू पांच बार आवृत्ति हो जाती है इसलिए संवत्सर परिवत्सर आदि होते हैं।।९४ ।।

संख्या तो परार्ध्य पर्यन्त ही है उससे अधिक नहीं है इसलिए संवत्सर गणनासे ब्रह्मका दिन गिनना अशक्य है इसलिए युग कल्पनाकी है इसको बताते हैं.

यत्रावृत्तिर्न चैवास्ति परार्धानधिकत्वतः।।९५।।

सङ्ख्यायास्तेन गणना युगादिभिरुदीर्यते ।

वर्षोंकी आवृत्ति इसलिए नहीं की है कि संख्या परार्धसे अधिक नहीं है. इसलिए संख्याकी गणनाके लिए युग आदि कहे गये।।९५ ।।

जहां धर्मका विधान किया जाता है इत्यादिका निरूपण काल निरूपणमॅू व्यर्थ है इस आशंकाके लिए कहते हैं.

उत्पद्यमानसन्देहे धर्ममाह विभेदतः।।९६।।

दिरात्रिव्यवस्थायां कार्याकार्ये तु सर्वतः ।

युगॅूसे जो सन्देह उत्पन्न होता है उसकी निवृत्तिके लिए अलग-अलग युगॅूके अलग-अलग धर्म बताये हैं. दिन और रात्रिकी व्यवस्था भी की है. कार्य तथा अकार्यसे बताई है अर्थात् कार्य दिनमॅू होता है और रात्रिमॅू कार्य नहीं होता है।।९६।।

कृतयुगमॅू प्रजाके लिए कोई कर्तव्य नहीं होता था अर्थात् प्रजा उस समय कृतकृत्य होती है. इस प्रकार युगॅूके धर्म बतानेके लिए उन युगॅूके मनुष्यॅूका भी वर्णन करना चाहिए अनेक धर्मका भेद धर्म ही हो सकता है अतः धर्मका निरूपण किया. शंका होती है कि सत्ययुग आदिमॅू दिन और रात्रिमॅू भी धर्मकी प्रवृत्ति होगी. उसके लिए ''दिन रात्रि व्यवस्थायाम्''से उसका निरूपण किया है अहोरात्रके धर्म तो सब युगॅूमॅू एकसे ही होते हैं दिनमॅू ही कार्य होता है रात्रिमॅू नहीं।।९६ ।।

तत्राऽपि कार्यभेदान् हि वक्तुं धर्मादिवर्णनम्।।९७।।

तत्सिद्ध्यै षड्विधत्वं हि ते हि भिन्ना यतः पृथक् ।

कारिकार्थः जिस तरह उपर युग विशेषकी व्यवस्था धर्मकृत बताई गई थी अब कल्पविशेष व्यवस्थाको बताते हैं. कल्पाॅमृ भी कार्य भेदका वर्णन करनेके लिए धर्मादिका वर्णन किया उन कल्पाॅमृ भेद सिद्ध करनेके लिए उनमृ षड्विधता बताई है अतः ये अलग-अलग है.

रात्रि और दिनमृ कार्योंके भेद प्रति कल्पमृ भिन्न हैं. अतः उनके धर्मोंका वर्णन करना चाहिए. धर्मादिकी सिद्धिके लिए मन्वन्तरका निरूपण है. छः अंगोके निरूपण करनेके लिए ही मन्वन्तर छः प्रकारके हैं क्याॅकि छहाॅ मन्वन्तर अलग-अलग है. क्याॅकि उनके देश आदि भिन्न रूपसे स्थित हैं. इसलिए छहाॅके योगसे धर्म होता है यह सिद्ध हुआ।।९७ ।।

सर्वेषां स्थितिसिद्ध्यर्थं भगवत्कृतिवर्णनम्।।९८।।

तन्मूल एव प्रलयः शयने सर्वनिर्वृतिः ।

परस्पर अलग होनेसे उनका विनाश न हो अतः उनकी स्थितिकी सिद्धिके लिए भगवत्कृतिका वर्णन है अर्थात् भगवान् उसकी रक्षा करते हैं और भगवान् ही प्रलय करते हैं क्याॅकि शयन (प्रलय) माॅ सबको सुख प्राप्त होता है।।९८ ।।

जैसे तैसे उत्पन्न तो हो गये परंतु परस्पर विरुद्ध गुणवाले होनेसे वे नष्ट हो जायाॅगे ऐसी शंका न हो इसके लिए भगवानके द्वारा इसका पालन कहा गया है अर्थात् भगवान् इसका पालन करते हैं. अतः नष्ट नहीं होते यदि भगवान् पालन करते हैं तब तो प्रलय होगा ही नहीं इस आशंकाकी निवृत्तिके लिए कहते हैं कि प्रलय भी भगवानके द्वारा किया जाता है. भगवान् तो परम दयालु है तो फिर प्रलय (सबका संहार) क्याॅ करते हैं इस आशंकाका उत्तर देते हैं 'शयने सर्वनिवृत्तिः' निरंतर उत्पत्ति और प्रलय (मरण)से जीव पीड़ित हो जाते हैं तो भगवानके शयन करने पर उन जीवाॅको भी विश्राम (संतोष) प्राप्त हो जाता है।।९८ ।।

भगवानका शयन पद्मकल्पमृ ही होता है यद्यपि 'तस्यैवचान्ते' इस उपसंहारसे ब्रह्म कल्पके निकट होने पर वहां जलमृ शयन कहा नहीं है अतः पद्मकल्पमृ ही शयन होता है.

पद्मानुसारिशयनं ब्रह्मा चाण्डवपुः स्मृतः।।९९।।

भोक्तृत्वं कर्तृता चैव तस्य भेदेन वर्ण्यते ।

यहां शयन पद्मकल्पानुसारी कहा गया है ब्रह्माण्ड विग्रह ही ब्रह्मा कहा गया है. ब्रह्मा भिन्न रूपसे भोक्ता तथा कर्त्ता कहा गया है।।९९ ।।

शंका होती है कि जब भगवान् शयन करते हैं उस समय तो तीनाॅ लोकाॅका

नाश हो जाता है तब 'स्तूयमानो जनालयैः' जनलोकके लोग भगवानकी स्तुति करते हैं इस वाक्यकी संगति कैसे होगी. इसके लिए कहते हैं कि उस समय ब्रह्मा अण्डशरीर रूप होता है ऐसा होनेसे तीनॄ लोकॄमॄ कल्पादि व्यवस्था होती है. यदि ऐसा न होता है 'तस्यैवचान्ते' इस वाक्यकी संगति नहीं होती. शंका होती है कि नाभिकमलमॄ कौनसा ब्रह्मा होता है और सत्यलोकमॄ कौनसा होता है इसका उत्तर 'भोक्तुत्व कृर्तृ ताचेति'से देते हैं अर्थात् ब्रह्माण्ड विग्रह जो ब्रह्मा है वह सत्यलोकमॄ जनलोकके रहनेवालाॄसे स्तुति किया जाता है अभिमानीका अर्थ है रजोगुणका अभिमानी. इससे दो ब्रह्मा है यह सिद्ध होता है यदि ऐसा न माने तो ब्रह्म कल्पमॄ उत्पन्न ब्रह्मा तो आधी आयुका ही भोग करता है इसलिए वह तो उस समय विद्यमान ही रहता है उसके लिए 'तस्यैवचान्ते' इस जगह कमलसे जिसकी उत्पत्ति बताई गई है वहां कौन उत्पन्न होगा अतः अन्यथा उत्पत्तिके द्वारा दो ब्रह्माकी कल्पना आवश्यक है एक ब्रह्मा तो विद्यमान रहता है और दूसरा तो कमलसे उत्पन्न होता है. इस तरह रजोभिमानी ब्रह्माण्ड भोक्ता और लोकभयकर्त्ता ऐसे तीन ब्रह्मा होते हैं।।९९ ।।

दैनादिन प्रलयमॄ कर्त्ता ब्रह्माके शयनका उपाय कहते हैं.

भोक्ता सत्ये द्वितीयस्तु पद्मे नोदरगः सुखी।।१००।।
प्रलयोऽयं समाख्यातः सर्गः पद्मे पुनस्तथा।।

भोक्ता ब्रह्मा सत्यलोकमॄ रहता है और दूसरा ब्रह्मा कमलमॄ सुखसे शयन करता है इसीको प्रलय कहा जाता है. पद्मकल्पमॄ भी इसी प्रकारसे सृष्टिका क्रम है।।१००।।

उपर बताए गये वर्णनसे एक ही ब्रह्मा है इस प्रकार अभेदसे वर्णन करना यह पक्ष दूषित हो जाता है पद्मकल्प उसमॄ फिर उसी तरह सृष्टि होती है वाराह कल्पमॄ इसके विपरीत होती हैं उस सृष्टिको आगे कहॄगे।।१०० ।।

जब एक ही सर्गसे भगवल्लीलाकी सिद्धि हो जायेगी तो अनेक सर्गोका वर्णन क्याॄ किया इसका उत्तर देते हैं.

अस्मिन्नण्डे त्रयोऽप्याऽसन् कल्पाः सर्वकथोक्तये।।१०१।।
तेषामुक्तिस्तथा चाद्ये नाम्ना रूपस्य वर्णनम्।।
अन्यथा भगवानेव तेनाद्यो ब्राह्म उच्यते।।१०२।।

इस ब्रह्माण्डमॄ तीनो ही कल्प हुए सब कथाके कथनके लिए ही उनका कथन तथा आद्यकल्पमॄ नामसे रूपका वर्णन है यदि ऐसा न होता तो आद्यकल्प जो ब्रह्म कल्प कहा जाता है उसमॄ स्वयं भगवान् ही ब्रह्म शब्द कहे जाते हैं।।१०१।।

यहां पुरुष अर्थात् विसर्ग विभूति रूप है वह इस अण्डमॄ जैसा है वैसा ही वर्णन

करने योग्य है. इसलिए सबकी कथा प्रसिद्धिके लिए कल्पाृका कथन है प्रथम कल्प जो ब्रह्म कल्प है उस सृष्टि कर्ता ब्रह्माको छन्दोमय निरूपित किया है वह युक्ति संगत नहीं है. इस शंकाका समाधान करनेके लिए 'तथाचाद्याः' यह कहा है आशय यह कि नाम सृष्टिका निरूपण भिन्न रूपसे है परंतु वह नाम सृष्टि रूप सृष्टिके अधीन है इसलिए कोई दोष नहीं है, अथवा आधिदैविक रूप हैं. इसके लिए 'व्यक्ताव्यक्तात्मनः' ऐसा वचन है, अन्यथा इसका व्याख्यान प्रकारान्तरसे पूर्वसे सम्बद्ध है. आधिदैविक रूपसे होनेसे ब्रह्मकल्पमृ भगवान् ही नाम सृष्टि कर्ता है. क्याृकि आधिदैविककी शरीरित्वसंपादकत्व भगवानमृ ही युक्त है अन्य वैसा कोई कर नहीं सकता है इस अर्थको शब्द प्रसिद्धिसे भी समर्थित करते हैं, अर्थात् आद्यकल्पको इसलिए ब्रह्मकल्प कहते हैं यहां ब्रह्मशब्दसे भगवान् कहे जाते हैं।।१०२।।

काल निरूपण प्रस्तावमृ कालको सबका स्वामी बताया हैं तो क्या काल अक्षरका भी स्वामी होगा ऐसी आशंका करके उसका उत्तर देते हैं आध्यात्मिक भेदाृकी वहां प्रवृत्ति नहीं है.

अतोऽधिकस्य गणना नास्ति कालस्य पूरुषे ।
तत्रोपपत्तिकथनमेवं कालो निरूपितः।।१०३।।

काल यद्यपि सबका स्वामी है परंतु पुरुषमृ कालकी प्रवृत्ति नहीं है. इस विषयकी युक्तिका कथन करके कालका निरूपण पूर्ण किया.

भेदमृ संख्या नियामक होती है और द्विपरार्द्धसे अधिक संख्याका अभाव है. कालकी प्रवृत्ति पुरुषमृ नहीं है इसमृ 'निमेष उपच्यति' ये युक्ति दी है. दो अध्यायाृसे कालके प्रकरणका निरूपण किया अब यहां 'कालो निरूपितः'से उसका उपसंहार किया है।।१०३।।

अतः परं जीवसर्गो मुक्तामुक्तविभेदतः ।
मुक्तानां कारणत्वं हि तदिच्छावशगा यतः।।१०४।।

अब यहांसे मुक्त जीव तथा अमुक्तजीवके भेदसे जीव सर्ग कहा जाता है. मुक्त जीव कारण भूत है और वे भगवानकी इच्छाके वशीभूत हैं.

इसके आगे एक अध्यायसे जीवाृका निरूपण हैं उनमृ अमुक्त जीव मुक्ति प्रकरणमृ कहने योग्य हैं. वे कारणभूत नहीं है. मुक्त जीव तो कारण भूत हैं वे एक अध्यायसे कहे जाते हैं. मुक्त जीवाृमृ कारणता कैसे हैं मुक्त जीव भगवानके सन्निधानमृ ही रहते हैं अतः जब भगवान् सृष्टि करना चाहते हैं तब अपनी लीलाकी सिद्धिके लिए उन्हृ प्रेरित करते हैं इसलिए वे भगवदिच्छाके वशीभूत और कारणभूत हैं।।१०४।।

वहां मुक्त दो प्रकारके थे इसे कहते हैं.

लोकातीता लौकिकाश्च तत्राऽऽद्या नाऽधिकारिणः ।

उत्पत्तिर्दुर्घटा तेषामविद्या निर्मिता ततः।।१०५।।

लोकातीत जीव मुक्तिमृ कारणभूत हैं. वह मुक्ति जीवृाके लिए स्वरूपसे आविर्भावरूपता है यह पहले कहा गया है. इन दोनृा प्रकारके जीवृामृ जो लोकातीत हैं वे तो वैकुण्ठमृ भी विरक्त ही रहते हैं. इसलिए उन्हृ सृष्टिके अधिकारी नहीं माना हैं. उनको तो केवल मुक्तिके लिए ही उत्पन्न किये जाते हैं. वेज्ञानांशको ग्रहण करके अवतार लेते हैं. इसलिए उनको व्यामोहित करनेके लिए अविद्याकी उत्पत्ति है।।१०५।।

अभिमानी देवतेयं यतः सर्वं भविष्यति ।

मूलाविद्यावृत्तिरूपाः पञ्चैका वाऽत्र ५२ देवता।।१०६।।

अविद्या आधिदैविकी अभिमानी देवता हैं. वह सबको व्यामोहित करेगी उसीसे सब कार्यकी सिद्धि होगी अविद्या दो प्रकारकी है एक मूल अविद्या तथा दूसरी पञ्चपर्वा परंतु इनका देवता एक ही है यह सिद्धान्त है उसकी उत्पत्ति लोकातीतृाको उत्पन्न करनेके लिए की है।।१०६।।

उस अविद्याने, ब्रह्माके अतिरिक्त और किसीको बाहर नहीं देखा इसलिए उसने सबसे पहले ब्रह्माको मोहित किया.

मूढस्तया चतुर्वक्रः कृष्णध्यानं चकार ह ।

लोकातीतास्ततो जाताः काये ध्यानं प्रतिष्ठितम्।।१०७।।

उस अविद्याके द्वारा चतुर्मुख ब्रह्मा मोहित हो गये इसलिए उन्हृाने कृष्णका ध्यान किया. उससे लोकातीत उत्पन्न हुए वह ध्यान ब्रह्माजीके शरीरमृ ही स्थित रहा।।१०७।।

अविद्याके देवता रूप हानेसे अपने ध्यानमृ कोई रुकावट नहीं डाली. लोकातीतृाकी उत्पत्तिके अनन्तर ब्रह्माका वह ध्यान जो सृष्टिका प्रकरणमृ हुआ था वह उनके ही शरीरमृ प्रतिष्ठित रहा उसका कार्य आगे होगा।।१०७।।

बीचमृ सनकादिकृाकी उत्पत्तिके अनन्तर क्रोध हुआ उसे कहते हैं.

सर्गावेशात्सन्निधानादविद्याकार्यसम्भवः ।

तदुत्पत्तिविचारेण नियन्तुमुपचक्रमे।।१०८।।

ब्रह्मामृ सृष्टि करनेका आवेश था और अविद्या उनके पास ही मृ थी इसलिए उस (अविद्या) का कार्य भी संभव ही है (इसलिए ब्रह्माजीको क्रोध आया) परंतु क्रोध किस कारणसे आया है इसकी उत्पत्तिका विचार करके उन्हृाने उसे रोक दिया.

ब्रह्माजीके हृदयमृ सृष्टिका आवेश था उस सृष्टिमृ रुकावट होने पर क्रोधका आना स्वाभाविक ही है, और दूसरी बात यह थी कि अविद्या भी समीपमृ ही थी इससे

भी क्रोध आया जब ब्रह्माजीकी इच्छा ही नहीं थी तो उन्हू क्रोध क्यॄ आया उसका उत्तर है कि क्रोध अविद्याका कार्य है इसलिए उस (अविद्या)से ही उत्पन्न होता है वह क्रोध आधिदैविक है. परंतु ब्रह्माजी भ्रमसे उसे आध्यात्मिक समज गये जिससे उसका नियमन करनेमॄ प्रवृत्त हुए. ब्रह्माजीने सनकादिकॄ की उत्पत्तिका विचार किया तो उन्हॄने समजा कि ये तो महान हैं इनकी उत्पत्ति तो ज्ञानके लिए ही की हैं अतः क्रोधको रोक दिया।।१०८।।

क्रोधे हि ध्यानसंयोगात् कृष्णांशः प्रविवेश ह।।
तेनोभयस्य निःस्तारो ह्यन्यथैकस्य संक्षयः।।१०९।।

क्रोधमॄ भी ध्यानका संयोग होनेसे उसमॄ कृष्णांशका प्रवेश हो गया. इसलिए दोनॄका निस्तार हो गया अन्यथा उसमॄसे किसी एकका नाश हो जाता.

आधिदैविक क्रोध रोकने योग्य नहीं होता उसका नियमन करने लगे तो वह क्रोध ब्रह्माके शरीरको ही जलाने लगा. परंतु वहां तो पहले ही शरीरमॄ ध्यान प्रतिष्ठित हो गया था अतः क्रोधका ध्यानके साथ सम्बन्ध हो गया तब ध्यानयुक्त क्रोधमॄ कृष्णावतारका प्रवेश हो गया. उसके बाद जो हुआ उसे कहते हैं तब दोनॄकी अर्थात् सनकादिकॄकी और ब्रह्माजीके शरीरकी रक्षा हो गई।।१०९।।

उस (रुद्र) का रोना अनुचित था. इस आशंकाका उत्तर देते हैं.

उत्पत्स्यमानानखिलान् दृष्ट्वा रोदनमागतम्।
संश्लिष्टवचनं प्राह ब्रह्मपीत्यै स्वयं पुनः।।११०।।
संसारानुपयुक्तान् हि स्रक्ष्ये सर्वानिति स्मरन्।

सबको उत्पन्न होते हुए देखकर रोना आ गया मैं ऐसी सृष्टि करुंगा जो संसारके लिए उपयुक्त नहीं होगी ऐसा स्मरण करके उनने ब्रह्माजीकी प्रसन्नताके लिए श्लेषयुक्त वचन कहे।।११०।।

यह अंश कृपा रूप है ''नामानि कुरु मे धातः'' ऐसा वचन रोदनके नाम आदिके करनेमॄ हेतु नहीं हो सकता इसलिए श्लेषयुक्त वचन कहे उस तरहके वचनका प्रयोजन दूसरा भी था अर्थात् आपकी आज्ञा हो तो मैं सृष्टि करुं. क्यॄकि ब्रह्माजीकी आज्ञाके बिना सृष्टि कर नहीं सकता सृष्टिमॄ ब्रह्माजीको ही अधिकार है।।११० ।।

अतः शीघ्रमनेकेषामुत्पत्तिः प्रतिकूलतः।।१११।।
निवारणं तपोबोधः प्रतिबन्धनिवृत्तये।

ब्रह्माजीकी आज्ञा प्राप्त होते ही शीघ्रतासे प्रतिकूल रूपसे अनेकॄकी उत्पत्ति कर दी तब ब्रह्माजीने उसको सृष्टि करनेसे रोक दिया और यह विचार कर कि इसे सृष्टि करनेसे रोका है अतः यह मेरे कार्यमॄ कोई बाधा न करे इसके लिए उनसे तप करनेकी

आज्ञा दी।।१११।।

ब्रह्माजीको यह ज्ञात नहीं था कि यह रुद्र किस प्रकारकी सृष्टि करेगा इसलिए आज्ञा दे दी आज्ञा पाते ही उसने शीघ्र अनेकाॄकी सृष्टि कर दी ब्रह्माजी ने देखा कि रुद्रकी सृष्टि तो सृष्टिके कारणका ही क्षय कर रहा है तो आगे सृष्टि कैसे होगी अतः उसे सृष्टि करनेसे रोक दिया. रोकनेसे कहीं ये मेरे काममॄ प्रतिबन्ध (रुकावट) डालेगा इसलिए उसे तपस्या करनेके लिए कह दिया।।१११ ।।

तपस्याके द्वारा क्रोधको उत्पन्न करनेवाली अविद्या ही नष्ट हो जायॄगी तब शुद्ध क्रोध यथोक्त कार्यको ही करेगा. इस तरहका ब्रह्माजीके कहनेका आशय था.

उपाधिविनिवृत्त्यर्थं कारणत्वान्न निर्गमः।।११२।।
अतोऽभिनक्द्य कृष्णस्य ध्यानमेव चकार ह।

उपाधिरूपा अविद्याकी निवृत्तिके लिए ही महादेवको तप करनेकी आज्ञा दी थी कार्यभूत तपके द्वारा कारणका निर्गम नहीं होगा, अर्थात् तपके द्वारा क्रोधका कारणभूत अविद्याकी निवृत्ति हो जायेगी, अतः प्रतिबन्धकी निवृत्ति ही हुई इसलिए उसका अभिनन्दन करके कृष्णका ध्यान ही किया।।११२ ।।

शंका होती है कि ऐसा होने पर महादेवमॄ क्रोधकी कारणभूता अविद्या तपके द्वारा क्याॄ नहीं जली (नष्ट नहीं हुई) और यदि वह अविद्या जल गई तो फिर कारणके नष्ट हो जाने पर लय क्याॄ नहीं हुआ केवल प्रतिबन्धकी निवृत्ति क्याॄ हुई. ऐसी आशंका करके कहते हैं कि 'कारणत्वन्ननिर्गम' वह अविद्या महादेवकी कारणभूता है और तप कार्यरूप है इसलिए कार्यसे (तप से) कारण (अविद्या) की निवृत्ति नहीं हुई. इसलिए प्रतिबन्ध निवृत्ति ही हुई अविद्या निवृत्ति नहीं हुई ''अतोभिनक्द्य कृष्णस्य ध्यानमेव चकाराह'' ऐसा कहा.

इस तरह लोकातीताॄकी उत्पत्ति कहकर लौकिकाॄको यदि स्वयं उत्पन्न करते तो अभीष्ट सिद्धि नहीं होती इसलिए उनके उत्पादनमॄ जो प्रकार किया उसे कहते हैं.

सृष्ट्यर्थं भगवद्ध्यानान्मरीच्याद्युद्भवः पृथक्।।११३।।
धर्मव्यवायसिद्ध्यर्थमेका स्त्री पुरुषाः परे।

सृष्टिके लिए जब भगवानका ध्यान किया तो अलग-अलग अंगोसे मरीचि आदि महर्षियाॄकी उत्पत्ति हुई इनकी उत्पत्ति धर्म व्यवायकी सिद्धिके लिए थी तदनन्तर एक स्त्री (वाणी) की और अन्य पुरुषाॄकी उत्पत्ति की।।११३।।

अलग-अलग स्थानाॄसे सब महर्षियाॄको उत्पन्न किये उसका प्रयोजन था धर्मव्यवायकी सिद्धि. धार्मिक रूपसे विवाह आदिके द्वारा सन्तानोत्पादन करना इस तरह सात्त्विकाॄ और राजसाॄकी उत्पत्ति कहकर तामसाॄकी उत्पत्ति जब करने लगे तो

पुत्रॄने ब्रह्माजीको रोक दिया यहां यह शंका होती है ब्रह्माजीके द्वारा तामसॄकी उत्पत्ति कैसे हुई उसका उत्तर देते हैं एक स्त्री 'पुरुषाः परे' एक वाणी ही स्त्री थी और अन्य सब पुरुष थे वाणी ब्रह्माजीके मुखसे उत्पन्न हुई।।११३ ।।

इसके अनन्तर क्या हुआ वह कहते हैं.

अविद्यासन्निधानाद्धि सृष्ट्यावेशाच्च तद्धृदि।।११४।।

जातः कामो मतिं चक्रे तस्यां सर्गाय भूयसे ।

अविद्याका सन्निधान था और ब्रह्माके हृदयमॄ सृष्टिका आवेश था इसलिए उनके मनमॄ कामना हुई तब उस अविद्यामॄ अत्यधिक सृष्टि करनेकी बुद्धि हुई।।११४।।

तीनॄ दोषॄके होनेसे उस अविद्यामॄ सृष्टि करनेकी बुद्धिकी, अविद्याके कारण सृष्टिका आवेश हुआ हृदयमॄ कामनाकी उत्पत्ति हुई।।११४ ।।

निवारणमॄ हेतु कहते हैं.

अधर्मे धर्मनाशः स्यादिति कृष्णेन वारणम्।।११५।।

तद्भावस्य परित्यागे सा रिरंसाभवत्तनुः ।

अधर्ममॄ धर्मका नाश होता है इसलिये ऐसी सृष्टिसे कृष्णने उनको रोका था. जब उस भावका परित्याग किया तो वह शरीर रमणकी इच्छा वाला हो गया।।११५।।

तामसी सृष्टि करनेको भी यदि भगवान् अनुमति दे देते तो वह तामसी सृष्टि भी धर्म नाशिका नहीं होती. यदि ऐसा होता तो सात्विक और राजसी सृष्टि भी समाप्त हो जाती. इसलिये रोकना उचित था शरीर त्यागका अर्थ है उस भागका परित्याग. शरीरकी प्रकृति क्या होगी उसके लिये कहा है कि 'रिरसां रमणेच्छा' वाली होगी।।११५ ।।

सृष्टिध्याने वाचकानां प्रकारस्य समुद्गमः।।११६।।

तन्मूलस्य च शब्दस्य ब्राह्मणो रूपकीर्तनम् ।

तृतीय सृष्टिके विषयमॄ जब ध्यान किया तो वेदॄकी उत्पत्ति हुई और वेदॄके वाचक शब्दॄके प्रकारका उद्गम हुआ प्रकारका मूल है 'शब्द' अतः प्रकार भेदके लिये ब्रह्माके चतुर्मुखका वर्णन किया।।११६ ।।

पूर्वः दक्षिणा आदि मुखॄके कारण शब्दमॄ प्रकार भेद हुआ. लौकिक और अलौकिक (शब्द) भेदसे तीसरी सृष्टि हुई. उससे जीवॄके रूप और नाम सिद्ध हुए नामॄकी अखण्ड प्रवृत्ति हो इसके लिये उसके देवताको कहा।।११६ ।।

इस तरह गुण सृष्टिको कहकर केवल गुणॄसे प्रपञ्चके ब्रह्मभाव (मुक्ति)की आशंका करके सन्निपात (मिश्रित) सृष्टिको कहनेके लिये प्रवृत्त हुए ऐसा कहते हुए सन्निपात विरोधीका परित्याग किया इसे कहत हैं.

नामावेशं परित्यज्य रूपावेशात्तु पूर्ववत्।।११७।।

इच्छाध्याने समुद्भूते द्विधा चक्रतुरङ्गकम्।

नामावेशका परित्याग करके रूपावेशसे पहलेकी तरह और इच्छा व ध्यान उत्पन्न हुए अर्थात् अपने अङ्गको दो प्रकारका कर लिया।।११७ ।।

अब यहांसे तृतीय कल्प कहा जाता है. तृतीय कल्पमृ सृष्टि विषयमृ तो पूर्व कल्पृसे कोई विशेषता नहीं है. केवल पृथ्वीकी स्थितिकी इसमृ विशेषता है उसे कही जाती है. इसमृ ध्यान रूप मनकी उत्पत्ति है और क्षत्ताका प्रश्न तो पूर्ववत् ही है. पिता (ब्रह्मा) की आज्ञासे ही प्रजाका उत्पादन, पृथ्वीका पालन, यज्ञ करना इन तीन प्रकारके धर्मोंका कथन है और इनकी ही कथा इसमृ विस्तारसे है.

''ततोऽपरासुपादाये'' इत्यादिसे नामावेशका परित्याग और रूपावेशका ग्रहण बताया है. वहां ब्रह्माका अन्तःकरण सन्निपात रूप नहीं है भगवानकी अपेक्षामृ भगवानकी इच्छासे वह शरीर ही दो प्रकारसे हो गया उसको 'इच्छा ध्याने' इससे कहा है।।११७ ।।

इस तरह चारकी सृष्टिका निरूपण करके अब उपसंहार करते हैं.

कारणत्वान्मुक्तजीवा एवमेके निरूपिताः।।११८।।

नामोत्पत्तिश्च तच्छेषा ....

कारणरूप होनेसे मुक्तजीवृका निरूपण ऐसा किन्हींका कथन है जीवोत्पत्तिमृ नामकी उत्पत्ति जीवोत्पत्तिका अङ्ग होनेसे वर्णित है।।११८।।

अमुक्तृकी उत्पत्ति तो पहले कही जा चुकी है. जीव प्रकरणमृ नाम उत्पत्तिका वर्णन अनुचित है ऐसी आशंका करके ''नामोत्पत्तिश्च तच्छेषा'' अर्थात् नामोत्पत्ति अङ्ग रूपसे वर्णित है अतः अयुक्त नहीं है।।११८ ।।

अब तृतीय कल्प कहा जाता है.

..... तृतीयस्त्वधुनोच्यते

कल्पस्तत्र हि सृज्यानां न पूर्वस्माद्विशिष्यते।।११९।।

भूसंस्थानविशेषोस्ति तदेवात्रोच्यते परम्।

ध्यानरूपो मनुर्जातः क्षत्तुः प्रश्नस्तु पूर्ववत्।।१२०।।

पित्राज्ञयैव तद्धर्मस्त्रेधेत्येवं कथा तता।

अब यहांसे तृतीय कल्प कहा जाता है. तृतीय कल्पमृ सृष्टिके विषयमृ तो पूर्व कल्पृसे कोई विशेषता नहीं है, केवल पृथ्वीकी स्थितिकी इसमृ विशेषता है जो कही जाती है. इसमृ ध्यानरूप मनुकी उत्पत्ति है और क्षताका प्रश्न तो पूर्ववत् ही है. पिता (ब्रह्मा) की आज्ञासे ही प्रजाका उत्पादन, पृथ्वीका पालन, यज्ञ करना इन तीन

प्रकारके धर्मोंका कथन है और इन्हींकी कथा इसमृ विस्तारसे है.

काल जीवका निरूपण किया और उसीके लिये ब्रह्मकल्प और पद्मकल्पका निरूपण किया अब भूमिका निरूपण किया जाता है वह भूमि भी सबका कारण है उसीके लिये वाराह कल्पका निरूपण किया जा रहा है. इसमृ प्रारंभसे लेकर सबके निरूपणकी आशंका करके उसका स्पष्टीकरण 'सृज्यानां'से किया है. अतिदेश धर्मसे सब कल्पृामृ साधारण धर्म आ ही जाते हैं. केवल विशेष धर्म कहे जाते हैं. वे विशेष धर्म यदि किसीके स्थानमृ आ जाते हैं तो स्थानृका बाध होता है. पूर्वके कल्पृामृ भूसंस्थान तृतीय कल्पके सदृश नहीं था इसलिये उसे कहा जाता है. ब्रह्म कल्पमृ भूसंस्थान विरानके जघन्न रूप था और पद्मकल्पमृ नाभिरूप इन दोनृका यहां बाध है. पूर्व धर्मोंकी इस कल्पमृ अनुवृत्ति हुई है इसको जतानेके लिये मनुका वर्णन प्रयोजक रूपसे किया है उसका भाव यहां 'ध्यान रूपो मनुजीत'से किया है. पूर्व कारिकामृ इच्छा और ध्यानका निरूपण किया है. उनमृ इच्छा तो है शतरूपा और ध्यान है मनु यदि ब्रह्माको विस्मृति हो जाय तो ध्यान उन्हृ प्रेरित करता है यह इसका अभिप्राय है. विभूतिके विस्तारके लिये ही मनुकी उत्पत्ति है. विभूति भगवल्लीला है मनु भगवद्भक्त है क्षत्ताने इसको जतानेके लिये प्रश्न किया. प्रवृत्ति या तो कामनासे होती है या विधिके द्वारा होती है. यदि कामनाके द्वारा प्रवृत्ति हुई हो तो वाराहकल्प मोक्ष पर्यवसायी नहीं होगा अर्थात् अन्तमृ फल मोक्ष नहीं होगा. अतः चोदना (विधि)से ही प्रवृत्ति है इसे 'पित्राज्ञया'से कहा है पिताने मनुको आज्ञा दी कि ''उत्पाद्यशास धर्मेण'' तुम प्रजाको उत्पन्न कर उनकी रक्षा करो और यज्ञ करो ये तीन धर्म कहे. उन धर्मोंका ब्रह्माकी आज्ञासे ही मनुने किये. मनु और ब्रह्माजीका संवाद इस प्रकार इसी बातको बतानेके लिये है।।१२० ।।

शंका करते हैं कि इस कल्पमृ कैसी व्यवस्था है. पूर्वकल्पमृ ब्रह्माजी नाभिकमलमृ रहते हुए सृष्टि करते हैं. नाभिकमलके अभावमृ ब्रह्माकी सृष्टि है या नहीं इसमृ भी सन्देह होता है. सृष्टि करनेका पक्ष जब लेते हैं तो सृष्टि मनुने की है और की है तो कहां रह करी की है तो यहां रह कर की है उसके लिये कहते हैं.

सत्ये स्थितः सृजत्येवमित्यर्थो विनिरूप्यताम्।।१२१।।

स्थानमन्विष्य तु पुनर्गतस्य वचनं मनोः ।

दिनान्ते दर्शनात्पूर्वं सृजतः प्रातरेव हि।।१२२।।

सत्यलोकमृ स्थित होकर ही ब्रह्मा सृष्टि करते हैं. ऐसा अर्थ निरूपण करना चाहिये. स्थानको ढूंढकर मनुने द्वितीय दिन प्रियव्रत आदिकी सृष्टिका कथन प्रातःकाल ही किया था. क्यृाकि आदि वाराहकल्पके दिनान्तमृ ब्रह्माजी दीखे नहीं थे अतः द्वितीय दिन (तृतीय कल्पके) प्रातः ही उन्हृ सूचना दी।।१२१।।

जब सृष्टि नहीं की तो 'सृजतोमे क्षितिर्वार्भिः' ऐसा कहना असंगत होगा. इस कथनसे ही यह ज्ञात होता है कि ब्रह्माजीने पहले स्वयं ही पृथ्वीका उद्धार किया. और उसी पृथ्वी पर मनुको प्रजापालनका उपेदश दिया. ऐसा होने पर प्रियव्रत आदिकी जो सृष्टि कही है वह आदि वाराह कल्पमॄ ही है ऐसा जानना चाहिये. मैं आपके आदेशके अनुसार ही कर रहा हूं इस प्रकार ब्रह्माजीको बतानेका कारण तो यह था कि ब्रह्माजी दिनके अन्तमॄ अर्थात् आदि वाराह कल्पके दिनके अन्तमॄ जब तक पृथ्वी आदि दिखाई न दीए तब तक ही ब्रह्माजी सत्यलोकमॄ चले गये और वहीं पर सृष्टि करने लगे इसलिये मनुने प्रातःकाल ही आदेश पालन करनेकी सूचना दी।।१२२।।

विज्ञापनेऽतिनैकट्यात्तथा वचनमादरात् ।
सर्वेन्द्रियनिरोधेन ध्यायतः परमात्मनः।।१२३।।
प्रथमं श्वाससम्भेदस्तेन कृष्णस्तथोद्गतः ।

मनुने ब्रह्माजीसे कहा कि यहां पृथ्वी जो समुद्रमॄ डूब गई हे इसके उद्धारका यत्न कीजिये ऐसी प्रार्थना अति निकट होनेसे की ब्रह्माजीने देखा कि पृथ्वीका मैं उद्धार करुं परंतु फिर यह जलमॄ डूब जाये तो इसलिये आदरके साथ सब इन्द्रियॄको निरोध करके परमात्माका ध्यान किया और ज्यॄही ब्रह्माजीका विश्वास प्रकट हुआ उसीके साथ अवतार रूपधारी कृष्णका उद्भव हुआ।।१२३।।

शंका होती हैं कि इस समय कैसे तैरती हुई पृथ्वी जलमॄ डूब गई इसका उत्तर देते हैं कि इस समय ऐसा कथन अतिनिकटताके कारण है. 'आदरात्' पदका सम्बद्ध 'ध्यायतः परमात्मनः' के साथ है ब्रह्माजीने विचार किया कि पुनः उद्धार करने पर भी पूर्वकी तरह यह डूब जायेगी तो इसलिये भगवानका ध्यान किया. ब्रह्माजीने जिस प्रकारके भगवानका ध्यान किया था उसी तरहका स्वरूप बिना किसी पूर्व सूचनाके निकला उसको 'प्रथमं श्वाससम्भेदः'से बताया. भक्तके दुःखके निश्वासके पूर्व ही भगवान् प्रकट हो जाते हैं ये इससे जताया है. इस अवतारका स्वरूप बताते हैं कृष्ण 'स्तयोद्गतः' अर्थात् वाराहरूपसे भगवान् कृष्ण प्रकट हुआ।।१२३ ।।

उस प्रकारके रूपमॄ हेतु बताते हैं.

यज्ञेन समता त्वस्य जलाद्वस्तूद्धृतौ क्षमौ।।१२४।।
गजो वा शूकरो वाऽपि यज्ञस्त्वेवंविधः पुनः ।

जलसे किसी वस्तुको निकालनेमॄ या तो हाथी या सूअर (वाराह) ही समर्थ है इनमॄ भी वाराहकी यज्ञके साथ समानता है और यज्ञ भी इसी प्रकार है. इसलिये वाराह रूपसे अवतीर्ण हुए।।१२४ ।।

यज्ञको 'मन्यु' शब्दसे कहा है इसलिये वह पशुआॄको मारता है वाराह भी वैसा

ही है. यह बात ''पशूनां वा एष मन्युः'' इस श्रुतिसे कही है. वाराह रूपमृ प्रकट होनेका द्वितीय हेतु यह है कि जलमृ डूबी हुई पृथ्वीको निकालनेमृ या हाथी वाराह इन दो रूपृामृसे कोई रूप करना चाहिये. उसमृ गुणातीत कार्य यज्ञसे ही होता है इस लिये वाराह रूप ही धारण किया हाथी रूप धारण नहीं किया।।१२४ ।।

यज्ञ जगतका कारण है इसमृ युक्ति कहनी चाहिये उसे कहते हैं.

सृष्टौ तत्कारणत्वं च कर्मरूपत्वतः स्फुटम्।।१२५।।

ब्रह्मणोऽप्यवितर्क्यं हि रूपं भगवतो निजम् ।

यज्ञ कर्मरूप है अतः सृष्टिमृ उसकी कारणता स्पष्ट है भगवानका यह निज (वाराह) रूप ब्रह्माके तर्कसे भी परे है।।१२५ ।।

यदि यज्ञ क्रिया रूप है तो उसमृ क्रियांशत्व मान लिया जाय उसमृ अवतारता क्यृा मानते हो ? उसका उत्तर दिया है कि भगवानका रूप ऐसा है कि ब्रह्माजी इसको समझनेमृ असमर्थ हैं इसलिये ऐसा रूप निजका ही हो सकता है।।१२५ ।।

उसका स्वरूप कहते हैं.

एतदानन्दरूपं हि क्रियांशज्ञप्तये तथा।।१२६।।

लक्षमात्रमियं भूमिः प्रायेणेति मतिर्मम ।

यह स्वरूप आनन्द रूप था किन्तु क्रियांशकी प्राप्तिके लिए वाराहरूपमृ प्रकट हुए. इस जंबुद्वीपकी भूमिका प्रमाण प्रायः लक्षमात्र है ऐसी मेरी समझ है।।१२६।।

जब यह स्वरूप आनन्द रूप हैं तो इसकी प्रतीति वाराहरूपसे क्यृा हुई ? उसमृ हेतु दिया है 'क्रियांशज्ञप्तये' यह अवतार भगवानकी क्रिया शक्तिका है इसको बतानेके लिये यज्ञानुकारी (वाराह) रूपका परिग्रह (स्वीकार) किया ''सलिले स्वखुराकांते'' ऐसा कहनेसे ऐसी बात मनमृ आ सकती है कि यह पृथ्वी पचास करोड़ विस्तारवाली नहीं होगी इसलिये 'लक्षमात्रमियं भूमिः' ऐसा कहा जम्बुद्वीप ही कर्मक्षेत्र है अतः यह भूमि यज्ञके लिये ही है 'मतिर्मम' कहनेका तात्पर्य है कि इसमृ और किसीकी सम्मत्ति नहीं है केवल मेरी ही ऐसी समझ है. शंका होगी कि तब 'पंचाशत्को दिविस्तीर्णा' ऐसा क्यृा कहा इसका उत्तर यह है कि यह कथन अन्य कल्पका है वाराहकल्पका नहीं है. ज्योतिषी लोग इसका विस्तार पांच हजारका मानत हैं यह भाग बीसवां हिस्सा है उसे २०से गुणित करने पर एक लक्ष हो जाता है. यह भूमि ज्योतिश्चक्र मृ है।।१२६ ।।

ब्रह्माजीकी स्तुतिका प्रयोजन कहते हैं.

यज्ञत्वबोधकं स्तोत्रं कथञ्चिन्मारणं त्विह।।१२७।।

उद्धृतिः स्थापनं स्तोत्रं मारणं चेति तत्क्रमः ।

वाराहकी यज्ञता बोधनके लिये स्तुति की है. हिरण्याक्षके मारणका तो

यथाकथंचित कथन है. पहले पृथ्वीका उद्धार उसके अनन्तर उसकी स्थिति फिर स्तुति और उसके पश्चात् हिरण्याक्षका मारना इस तरहका क्रम है।।१२७ ।।

इसमॅ हमारी श्रद्धा नहीं है. हिरण्याक्षके मारनेका वर्णन तो यथाकथञ्चित है. यदि विचार किया जाय तो यह प्रकरण पृथ्वीके उद्धारमॅ ही समाप्त होता है, अर्थात् इसमॅ केवल पृथ्वीके उद्धारका ही वर्णन है. इसमॅ हिरण्याक्षके मारनेका वर्णन इष्ट नहीं है. यदि दोनॅका वर्णन मुख्य रूपसे होता हो वाक्य भेद हो जाता. इसलिये प्रधानके अनुरोधसे ही अन्यका वर्णन कलादिस (संग्रहित) होनेसे वर्णित है इस कल्पमॅ दैत्य आकित्कर है क्यॅकि यज्ञ दैत्यॅको जलानेवाला है. इसलिये यज्ञरूप वाराहके आने मात्रसे ही उसका मारण हो जाता है. जो दैत्य मारणको मुख्य मानते हैं उनके लिये इस प्रकारका क्रम है पहले पृथ्वीका उद्धार फिर उसकी स्थापना वाराहकी स्तुति उसके अनन्तर हिरण्याक्षका वध. स्तुति यद्यपि संदिग्ध है तो भी उत्कर्षके वर्णनमॅ उसका दुःख होता है इसलिये पहले स्तुतिका वर्णन है।।१२७ ।।

शंका होती है कि कल्पके आदिमॅ पृथ्वीका उद्धार हुआ तो फिर वह हिरण्याक्ष कहां था इसका उत्तर देते हैं.

पूर्वकल्पेऽस्य जननं रसायां प्रलये स्थितिः।।१२८।।
देवानामूर्ध्वगमनमन्येषां नाश एव हि ।
ऋषीणां तत्सुतानां च ब्रह्मसाम्यमबाधके।।१२९।।

पूर्व कल्पमॅ इस (हिरण्याक्ष) का जन्म हुआ था और प्रलयके समय इसकी स्थिति रसा (पृथ्वी) मॅ हुई थी. देवताओॅका उर्ध्वगमन हुआ अन्य (मनुष्यॅ) का नाश एवं ऋषियॅ और उनके पुत्रॅका ब्रह्मसाम्य हो गया।।१२८।।

महाकल्पमॅ ही सृष्टिका नाश हो गया था अवान्तर कल्पॅमॅ तो त्रिलोकीमॅ जो विद्यमान थे उनमॅ असुरॅका अधोगमन (नीचे जाना) हुआ और देवताओॅका उर्ध्वगमन (ऊपर जाना) तथा मनुष्यॅका तो नाश हो गया. मनुप्रभृति भी देवता हैं इसलिये उनका तथा महर्षियॅका भी उर्ध्वगमन हो गया. इसमॅ कुछ विशेषता भी है सत्यलोकमॅ स्थिति है, अन्तः कश्यपजीका ऊर्ध्वगमन और दितीका अधोगमन हुआ ऐसा यहां विमर्श (विचार) है।।१२९।।

यहां (१४-१९)छ अथ्याय हिरण्याक्षके वधके प्रस्तावमॅ निरूपित हैं. वे मतान्तर भाषासिद्ध हैं इसलिये भागवतार्थके साथ उनका कोई विरोध नहीं है. यहां यह व्यवस्था है कि प्रकृतकथामॅ प्रासङ्गिक कथा यदि विशेषरूपसे पूछी जाती है तो उसमॅ केवल उतना ही नहीं कहा जाता किन्तु जिस कल्पमॅ वह प्रमेय उत्कृष्टतासे सिद्ध हो वैसा ही कहना चाहिये. भक्तिको उत्पन्न करनेमॅ वह प्रयोजक होता है. इसलिये जिस

कल्पमॄ हिरण्याक्ष आदिका उत्कर्ष है तो उसका निरूपण किया जाता है. शंका होती है कि जो वैकुण्ठमॄ चले गये हैं वे पुनः लौटकर कैसे आते हैं यदि कहो कि कृत्रिम वैकुण्ठमॄ गये हुये ही लौटते हैं उसके उत्तरमॄ कहते हैं.

कृत्रिमेपि हि वैकुण्ठे मुक्तिरेव तथापि तु।
कृष्णेच्छया तु तज्जन्म नष्टानां गतिरीदृशी।।१३०।।

कृत्रिम वैकुण्ठमॄ भी मुक्ति ही होती है, तथापि कृष्णकी इच्छासे उनका जन्म होता है जो नष्ट होते हैं उनकी गति ऐसी ही है।।१३०।।

जो अनिमित्त या निमित्त धर्मसे भगवानकी आराधना करते हैं इस कथनसे (भगवानकी आराधना से) वैकुण्ठमॄ जानेवालॄको पुनरावृत्तिसे रहित पद प्राप्त होता है तथापि कृष्णकी इच्छासे जय-विजयका जन्म हुआ. इस प्रकारकी इच्छाका प्रयोजन है 'लोक ज्ञापनम्' यह लोक ज्ञापन क्या है इसका स्पष्टी करण 'नष्टानां गतिरीदृशी'से करते हैं तीनॄ लोकॄमॄ हिरण्याक्ष आदिको जो सुख था वह तो इन्द्र आदिके लिये भी दुर्लभ था वैकुण्ठसे जो च्युत (गिरते) होते हैं. उनकॄ वह सुख मिलता है जो इन्द्र आदिको भी दुर्लभ है किन्तु वैकुण्ठ च्युत उनके लिये भयमर आपत्ति है इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वैकुण्ठमॄ कितना सुख है।।१३०।।

भूमावेव हि तद्युद्धमिच्छयाऽमुक्तिरस्य हि।
मारणानन्तरं तस्य ह्युदरस्य विभेदनम्।।१३१।।

हिरण्याक्षसे वाराह भगवानका युद्ध पृथ्वी पर ही हुआ और भगवानकी इच्छासे उसकी मुक्ति नहीं हुई मारनेके अनन्तर उसके पेटको भगवानने चीर डाला।।१३१।।

इस पक्षमॄ (दैत्य हननपक्षमे) पृथ्वी पर ही युद्ध हुआ और भगवानकी इच्छासे ही हिरण्याक्षको मुक्ति नहीं हुई. अथवा क्रिया शक्तिसे हनन किया इसलिये मुक्ति नहीं हुई. यहां मुक्तिके लिये अवतार होने पर ही मुक्ति होती है. उसके पेटको चीर कर नहीं मारा किन्तु मारनेके अनन्तर पेटको चीरा यदि ऐसा न करते तो प्राण भगवानके मुखमॄ प्रविष्ट हो जाते उसमॄ जो संस्कृत अंश थे जिनके कारण वह दैत्य न बन सके उन संस्कृत अंशॄको प्रविष्ट करनेके लिये पेटको चीर हिरण्याक्षके माहात्म्यके लिये कहते हैं.

ब्रह्मणो दिनमेकं हि तद्युद्धमिति लक्ष्यते।
अथवा देववत्तस्य दिनं मेरुगतश्च सः।।१३२।।

ब्रह्माका दिन होता है उतने समय तक हिरण्याक्षके साथ युद्ध हुआ ऐसा लक्षित होता है. अथवा देवताॲके दिनकी तरह उसका दिन (छ महीने) युद्ध हुआ ब्रह्मा उस समयमॄ पर्वत पर स्थित थे।।१३२।।

ब्रह्माजीके एक दिन तक युद्ध हुआ इससे यह सिद्ध होता है कि वाराह कल्प युद्धमृ ही समाप्त हो गया. पीछे श्वेतवाराह कल्पमृ सृष्टि हुई और हिरण्यकशिपुका राज्य हुआ ऐसा ज्ञात होता है. दूसरा पक्ष यह भी हैं कि उस समय छ महीने युद्ध हुआ. इस पक्षके मानने पर ब्रह्माजीके वाक्यृकी संगति लगानेके लिये उस समय अर्थात् पृथ्वीके स्थापनके अनन्तर ब्रह्माजी पूर्वकी तरह ही मेरु पर स्थित थे।।१३२।।

इससे क्या सिद्ध हुआ इस शंका पर कहते हैं.

षड्भिः संसारकथनमुत्पत्तिर्मरणं च सः।
उपाधिजननं पूर्वं स्थानभ्रंशश्च जन्म च।।१३३।।
प्रादुर्भावः सर्वतश्च विनश्यत्ता नशिस्तथा।
ईश्वरेच्छैव षट्कस्य कारणं नान्यथा तु तत्।।१३४।।

छः अध्यायृसे संसारका कथन है वह संसार उत्पत्ति मरण स्वरूप वाला है. पहले उपाधि (बीज) की उत्पत्ति फिर स्थान (वैकुण्ठ)से गिरना और तदनन्तर जन्म होना, प्रादुर्भाव सब औरसे विनश्यता एवं विनाश इन छःकी कारण भूता ईश्वरेच्छा है अन्यथा ये नहीं हो सकते।।१३३।।

मुक्तजीवृका भगवानकी इच्छासे ही संसार होता है. वह इच्छा भगवद्रूपा है भगवान् षड्गुणृसे युक्त हैं इसलिये छः अध्यायृसे संसारका निरूपण किया गया है. संसारका स्वरूप उत्पत्ति और मरणरूप है. तीन अध्यायृसे उत्पत्तिका और तीन अध्यायृसे मरणका वर्णन है. 'अनित्ये जननम्' इत्यादिसे तीन प्रकारकी उत्पत्तिका निरूपण किया है. ''कालद्रव्य गुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसंक्रमः'' इससे मरण भी तीन प्रकारका है. उसमृ बीजोत्पत्ति पहले अध्यायका अर्थ है. उसमृ जीवका सम्बन्ध होना दूसरे अध्यायृका अर्थ है. भगवद्विभूतिका आवेश तीसरे अध्यायका अर्थ है ऐसा न हो तो वैसा महत्व उसमृ उत्पन्न न होता. उसीको कहते हैं ''उपाधि जनम् बीजोत्पत्तिः''. स्थानभ्रंश वैकुण्ठसे अलग होना. जन्म और प्रादुर्भावको एक अध्यायसे कहा है. उत्कर्ष भी नाश रूपता है इसे जतानेके लिये नाशाध्यायमृ उसका निरूपण है वरुणके वाक्यसे नाशबीजके कथनसे विनश्यता पञ्चम अध्यायका अर्थ है. नाशबीजके दो भेद हैं 'विनश्यता' और 'नाशबीज' विनश्यता ''विनाशश्चेति तद्भिदा'' शंका होती है कि सुजीवके लिये छः प्रकारका संसार क्यृ होता है? उसका उत्तर दिया है कि ''ईश्वरेच्छैव षट्कस्य कारणम्'' ईश्वरकी इच्छा ही तीन प्रकारके जन्म और तीन प्रकारके मरणका कारण है।।१३४।।

अन्यथाका बाधक कहते हैं.

दक्षकन्या ऋषेः पत्नी सक्ध्यायामग्निहोत्रिणम्।

निर्लज्जा बोधिता स्थातुं क्षणं न त्यक्तवत्यपि।।१३५।।

यदि भगवानकी इच्छा कारण न होती तो यह कैसे संभव था कि दक्ष प्रजापतिकी कन्या दिति जो कश्यप ऋषिकी पत्नी थी वह संध्याके समय अग्निहोत्री ऋषिको उनके समझाने पर भी निर्लज्ज होकर (पति समागम बिना) एक क्षण भर भी ठहर न सकी।।१३५।।

दक्ष कन्याका तात्पर्य है अच्छे कुलमॄ उत्पन्न हुई अतीन्द्रिय अर्थात् भूत और भविष्यत् व्यवहित आदिके दृष्टा ऋषिकी वह पत्नी थी रतिदान देनेमॄ क्षण भर ठहरनेके लिये उससे याचना भी की थी. परंतु वह न मानी. इस तरहका होना भगवानकी इच्छाके बिना मर्यादासे कभी सिद्ध हो नहीं सकता है।।१३६।।

स्त्रीकी बात तो रहने दीजिये मुनिमॄ भी वैसी भावना ईश्वर इच्छाके बिना नहीं हो सकती थी.

मौनत्यागस्तयोर्भाषा स्तोत्रं तद्वश्यता तथा।
अन्यत्रागमनं तत्र प्रतीकाराकृतिर्मुनेः।।१३६।।
स्वभावविनिवृत्त्यर्थं संवादस्तादृशः पुनः।

मौनका त्याग करना आपसमॄ पति पत्नीकी बात होना फिर स्त्रीकी स्तुति करना, और उसके वशमॄ हो जाना, दूसरी जगह न जाना, वहीं पर रहते हुए उसका प्रतिकार न करना और स्वभावकी निवृत्तिके लिये पुनः उस प्रकारका संवाद।।१३६।।

मुनिमॄ ६ अर्थ अनुचित हैं. पुनः धर्मरूप संवाद है वह भी इस बातको बतानेवाला है. अर्थात् इनका ऐसा स्वभाव नहीं हैं किन्तु यह जो कुछ हुआ वह ईश्वरकी इच्छासे ही हुआ. इस तरह प्रथमाध्यायार्थ अर्थात् १४वॄ अध्यायके अर्थकी अयुक्तता सिद्ध की गई।।१३६ ।।

यहांसे आगेका भागवतार्थ तृतीयस्कन्धके दूसरे खंडमॄ पढ़.

।। श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रं स्तोत्रम् ।।

तृतीयस्कन्धनामानि

सर्ग लीला

वैराग्यहेतुस्तीर्थात्मा सर्वतीर्थफलप्रदः ।
तीर्थशुद्धैकनिलयः स्वमार्गपरिपोषकः ।।३०।।

(१०७) वैराग्यहेतुः. वैराग्यके कारणरूप.

सुख-दुःखकी इच्छासे विराम पाना, संसारके रागको दूर करना, इसका नाम वैराग्य. ऐसे विरागपूर्वक भगवान्‌को अनुराग करना ये कार्य सहज नहीं है. इसको भगवान्‌के अनुग्रहकी खास आवश्यकता होती है. प्रभु कृपाके बलसे ही मनुष्य वैराग्य पाकर सौभाग्यवान् बनता है. अतएव वैसा वैराग्य लानेके हेतुरूप अर्थात् वैराग्य प्रदान करनेवाले प्रभु स्वयं ही हैं. दुर्योधनके दुष्ट वचनोंसे ही त्रस्त होकर भक्तराज विदुरजीको वैराग्य उत्पन्न हुआ था. ऐसा भागवतमें स्पष्ट है. वहां आगे दुर्योधन द्वारा वैराग्य उत्पन्न करनेवाले आप स्वयं प्रभु ही हैं.

(१०८) तीर्थात्मा. तीर्थरूप, तीर्थ जिनकी आत्मा है, ऐसे.

भक्तजनोंके ऊपर अनुग्रह करनेकेलिये प्रभु तीर्थरूप बने हैं. अर्थात् वैसे तीर्थोंमें जानेसे भक्तोंको प्रभुके दिव्य चरित्र स्फुरायमान होते हैं. वहां अंतरंग भक्तोंके दर्शन भी भगवदिच्छासे हो जाते हैं. तीर्थ सेवनका ये ही अमूल्य लाभ है. ऐसा अलौकिक लाभ होनेसे भगवदीयजनोंकी संगतिरूप प्रसादकी प्राप्ति होनेसे भगवान्‌के तीर्थ भगवद्रूप ही भासते हैं. आसुरी जीवोंको तो पाषाण, धातु, जड़ रूप ही सब कुछ दिखाई देता है. क्योंके उनमें वैसे दैवी भावका अभाव होता है. भगवदीयोंको तो परन्तु वहां सब कुछ भगवान ही दिखाई पड़ता है. अतएव प्रभु तीर्थात्मा हैं. जब प्रभु स्वयं ही तीर्थरूप हैं तब तो तीर्थोंमें अपने दर्शनरूप फलको प्रदान करें तो इसमें क्या आश्चर्य है? विदुरजीने तीर्थाटन किया तब उनको उद्धवजीका दर्शनरूप फल मिला. उद्धवजी कोई सामान्य पुरुष नहीं हैं. भगवान्‌के साथ उनका तादात्म्य संबंध होनेसे वो भगवद्रूप ही हैं. ऐसे भगवदीय जनोंका समागम होना कोई छोटा लाभ है? ऐसे पुण्यात्माओंसे ही परमात्मा दृष्टिगम्य बनते हैं.

(११०) तीर्थशुद्धैकनिलयः. तीर्थोंसे शुद्ध हुवे विदुरजीके आधार स्वरूप भगवान्.

तीर्थ करनेसे शुद्ध हुये विदुरजीके आधार-स्थान ऐसे भगवान्. क्योंकि तीर्थ करनेसे पवित्र हुये विदुरजीके विमल हृदयमें आप प्रकाशित हो रहे थे उस कारण ही तीर्थ शुद्ध विदुरजी जिसके आधार हैं, ऐसे प्रभु कहा गया है.

(१११) स्वमार्गपरिपोषकः.

(१)अपने मार्गका भली भांति पोषण करनेवाले. (२)भक्तॄकी संगति रूप मार्गके संपादन करनेवाले.

निज भक्तिमार्गकी जैसे वृद्धि हो उस प्रकार उसका पोषण करनेवाले प्रभु ही हैं. भगवदिच्छासे ही भक्तिमार्गकी वृद्धि होती है. इसमॄ दूसरे कारणॄको ढूंढना अनुचित है. आप जिसको अपनी शरणमॄ लेनेकी इच्छा करते हैं वो ही प्रभुका आश्रय लेता है. भक्तिमार्गका सेवन करता है. यदि दूसरे कोई वैसी इच्छा करें भी तो कर्मका परिपाक नहीं होनेके कारण भगवान्का अनुग्रह उनके ऊपर नहीं होता. इसलिये ही भक्तिमार्गका पोषण करनेवाले–पुष्टि करनेवाले आप प्रभु ही हैं.

तीर्थकीर्तिर्भक्तगम्यो भक्तानुशयकार्यकृत्।
भक्ततुल्यः सर्वतुल्यः स्वेच्छासर्वप्रवर्त्तकः ।।३१।।

(११२) तीर्थकीर्तिः.

(१)जिनके द्वारा तीर्थोंकी कीर्ति है.(२)तीर्थोंमॄ जिनकी कीर्ति प्रसारित हो रही है.

बदरीकाश्रमादि तीर्थोंकी कीर्तिके प्रसार करनेवाले आप श्रीकृष्ण हैं. इस स्कन्धके चौथे अध्यायमॄ कहा गया है ''शरणमॄ आये हुये भक्तॄके कष्टॄका नाश करनेवाले निजकुलका संहार करनेकी इच्छा करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने मुझे आज्ञा करी कि तुम बदरीकाश्रम तीर्थमॄ जाओ''. इसलिये बदरीनाथ तीर्थकी कीर्ति–माहात्म्यको बढ़ानेवाले प्रभु ही हैं. तीर्थोंमॄ भगवदीय जन एकत्र होकर भगवान्का गुणगान करते हैं. उस कारण आपकी कीर्ति तीर्थोंमॄ प्रसरित है. जहां तहां तीर्थोंमॄ प्रभुका यशोगान होता है. अतएव प्रभुकी कीर्तिरूप ही तीर्थ हैं.

(११३) भक्तगम्यः.

(१)भक्तॄको प्राप्त करने योग्य; (२)जाने योग्य बदरिकाश्रम तीर्थ जिनका है ऐसे भगवान्.

भक्तॄके जाने योग्य स्थान तो केवल श्रीकृष्णही हैं. जो उद्धवादि भक्त निरन्तर सर्वभावॄसे भगवान्का ही सेवन करते हैं वैसे भक्तॄको प्रभुके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु प्राप्त हो ही नहीं सकती. भक्तॄका अन्य वस्तुओॄ पर प्रेम होता ही नहीं है. जिसको अमृत रस मिल गया हो उसको दूसरे रस कैसे अच्छे लग सकते हैं? बिल्कुल नहीं. तो फिर आप श्रीकृष्णतो अमृत रसके सागर हैं. इस आनन्दमॄ निमग्न हुये भक्तॄको अन्य रस शुष्क ही लगते हैं. उनके मतमॄ आनन्द नामकी वस्तु प्रभु सिवाय कहीं और है ही नहीं. अन्य जो कुछ भी आनन्द लगता है वो केवल उसका आभास मात्र है. ऐसे आनन्दमय

प्रभु और तन्मय तीर्थ वो भक्तृको प्राप्त करने योग्य हैं. अतएव प्रभु भक्तगम्य हैं.

(११४) भक्तानुशयकार्यकृत्. भक्तृके निरोधकेलिये कार्य करनेवाले.

अपने भक्त जिस प्रकार अपनी इन्द्रियोंका निरोध कर सकते हैं, उसी प्रकार कार्य-लीलायृ करनेवाले आप भगवान् हैं. प्रभु कृपानिधि हैं. इसीलिये अपने निज भक्तृके मनकी स्थिरता करनेकेलिये उनकी इन्द्रियृमृ रही हुई चपलताको हरनेकेलिये आप प्रयत्न करते हैं.

(११५) भक्ततुल्यः.

(१)भक्त जिनको अपने समान हैं (२)सर्वत्र समबुद्धि रखनेवाले जिनके भक्त हैं, ऐसे भगवान्.

आप अपने भक्तृको अपने समान मानते हैं. अध्याय ४ मृ आप आज्ञा करते हैं कि ''नोद्धवो अण्वपि मन्न्यून''(उद्धवजी मेरेसे लेशमात्र न्यून नहीं हैं) ऐसा विचार करके आप स्वधाम पधारते समय सर्व लोकमृ गुणानुवादृको गान और उनका प्रसार करने केलिए निजरूप उद्धवजीको इस भूतल पर रखा. भगवद् भक्त भी सर्वत्र समबुद्धि रखनेवाले, सुखदुःख हर्षशोक रहित होते हैं. विष्णुपुराणमृ कहा गया है कि ''वर्णसे धर्मसे जो चलायमान नहीं होते; अपने बंधुआृमृ और दूसरृमृ और शत्रुआृमें जिनकी समान बुद्धि होती है. भेद रहित वर्तता है वो ही प्रभुका भक्त है'' अर्थात् जिनके भक्तजन शत्रु-मित्र सर्वमृ समभाव रखनेवाले हैं, इस कारण आप भक्ततुल्य हैं.

(११६) सर्वतुल्यः.

(१)सर्वमृ समान भावधारी (२)सर्वको फल देनेमृ समान, ऐसे भगवान्.

जब आपके भक्तृका सर्वमृ समत्व भाव विद्यमान है तो फिर प्रभुमृ वैसा समभाव हो उसमृ आश्चर्य क्या? आप गीतामृ आज्ञा करते हैं कि ''मैं सर्व प्राणीमात्र पर समान भाव रखता हूं अर्थात् मुझे कोई प्रिय नहीं है और न कोई अप्रिय''. अर्थात् आपकेलिये सर्व समान ही हैं. जिसका जैसा कर्म होता है उसका फल भी भगवान् समभावसे ही प्रदान करते हैं. आपमृ किसीकेलिये भी न्यूनाधिकपना नहीं है. कर्मानुसार फल देनेमृ प्रभु तुला-तोलनेके समान ही हैं अतएव आपको सर्वतुल्य कहा गया है.

(११७) स्वेच्छासर्वप्रवर्त्तकः.

(१)अपनी इच्छासे सबको प्रवृत्त करनेवाले (२)अपने भक्तृकी इच्छासे सर्व कार्य करनेवाले.

प्रभु निजेच्छासे सर्वको भक्ति, ज्ञान, वैराग्य वगैरहमृ प्रवृत्त करते हैं. किसीमृ भी कुछ भी ज्ञान, वैराग्य या भक्ति इत्यादि दीखनेमृ आती हो तो वो भगवत्कृपाका ही परिणाम होता है. अपने भक्तृकी इच्छा पूर्ण करनेकेलिये भी आप विविध प्रकारकी

क्रीडा-लीला करते हैं. उनकी अभिलाषा पूर्ण करनेकेलिये आप भक्ति, ज्ञान वगैरहका विस्तार करते हैं. श्रुति कहती है कि ''स्वयं परमात्मा एकाकी रमण-क्रीडा नहीं कर सकते अतएव आपको अन्यकी इच्छा हुई'' प्रभु प्रथम एकाकी आनन्दरूप थे. आप अन्य वस्तुसे आनन्द प्राप्त करनेकी इच्छा करने लगे. अर्थात् वो अपने आनन्दरूप स्वार्थको पूर्ण करनेकेलिये सर्व जगत् रूप बन कर अपने ही अनेक स्वरूपोंसे स्वयं अनेक प्रकारोंसे रमण करने लगे. अतएव निजेच्छासे ही यह सर्व संसारचक्र वैसे ही ज्ञान भक्ति इत्यादिके प्रवर्त्तन-प्रसार करनेवाले आप पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही हैं.

गुणातीतोऽनवद्यात्मा सर्गलीलाप्रवर्त्तकः।
साक्षात्सर्वजगत्कर्ता महदादिप्रवर्त्तकः ।।३२।।

(११८) गुणातीतः.

१.सत्वादि तीन गुणोंसे रहित; २.सत्वादि तीन गुणोंको दूर करनेके बाद ही जिसकी प्राप्ति होती है.

सत्व, रजो और तमो गुण -इन तीनों गुणोंसे अतिरिक्त अर्थात् निर्गुण आप परमात्मा हैं. अतएव आपको ये तीनों गुणोंके विकार व्याप्त नहीं होते. जो गुणाधीन है वो पराधीन कहलाता है. प्रभु गुणोंके आधीन नहीं होनेके कारण सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं. ऐसे निर्गुण प्रभुको प्राप्त करनेकेलिये भक्तजनोंको ये तीन गुणोंके विकार भी दूर करने चाहियें. जहां तक गुणभाव दूर नहीं होते वहां तक प्रभु प्राप्त नहीं हो सकते. क्योंकि सगुण और निर्गुण दोनोंकी विपरीत दिशायें हैं. प्रभुका निर्गुण स्वरूप तो केवल आनन्दमय ही है. जहां दृष्टि पड़ती है वहां आनन्द ही आनन्द मिलेगा, अन्य कुछ भी नहीं. ऐसे आनन्दमय स्वरूपको प्राप्त करनेकेलिये गुण वृत्तियां बाधारूप हैं. यदि पहले गुणवृत्तियां दूर होंगी तो ही रसघन आनन्दघन घनश्याम श्रीकृष्णके दर्शन होंगे.

(११९) अनवद्यात्मा.

(१)जिनकी आत्मा अर्थात् अवतारको जान नहीं सकते (२)भक्तोंकी आत्मारूप, किसीकी भी निन्दा नहीं करनेवाले, भक्तोंमें जिनका चित्त है ऐसे पुरुषोत्तम.

प्रभुका स्वरूप ही ऐसा है कि कोई भी उसको जाननेमें समर्थ नहीं है. जब उनके स्वरूपको तथा अवतारोंको नहीं जान सकते तो फिर ग्रहण तो किस प्रकार कर सकते हैं? जिसके ऊपर आप अपनी कृपा करते हैं तो वो उस कृपाबलसे कुछ अंशमें वह आपके अवतारके स्वरूपको जान सकता है. इस कारण ही भगवदीय भगवान्की कृपा प्राप्त करनेकेलिये प्रयास करते हैं, आपकी चरण शरणमें जाते हैं. जिसको भगवान्की शरण है वो ही प्रभुके स्वरूपको समझ सकता है अन्य नहीं. क्योंकि उन भक्तोंमें सर्वत्र समभाव होता है, शुद्ध अद्वैतमय भगवद्भाव होता है. अतएव वो किसीकी भी निन्दा-स्तुति नहीं

करते. भगवान् ऐसे जो अन्यकी निन्दा नहीं करनेवाले निज भक्त होते हैं उनके उद्धारकेलिये उनके चित्तमृ अपना चित्त पिरोते हैं. अर्थात् ऐसे भक्तृका उद्धार करना, ये अपना निज कर्तव्य मानते हैं, अतएव आपको अनवद्यात्मा कहा गया है.

(१२०) सर्गलीलाप्रवर्तकः. सर्ग अर्थात् सृष्टि रचना रूप लीलाके प्रवर्तक.

परमात्माकी सर्ग-विसर्गादि दश प्रकारकी लीलायृ हैं, यह पहले ही बता दिया गया है. उनकी यहां सर्ग लीला है अर्थात् पंचमहाभूत, पंचतन्मात्रायृ, एकादश इन्द्रियां तथा बुद्धि इत्यादिकी उत्पत्ति करनी, इसका नाम 'सर्ग'. वैसी सर्ग लीलाके प्रवर्तनकार प्रभु स्वयं ही हैं. इस स्कन्धके अ.५ मृ कहा गया है ''सर्व भूतृके आत्मारूप समर्थ परमात्मा प्रथम स्वयं ही एक थे. परन्तु विभिन्न रूप होनेकी अपनी इच्छाके कारण आप अलग अलग रूपृमृ आविर्भूत हुये हैं''. श्रुतिमृ कहा है ''परमात्मा विश्वमृ प्रथम एक ही थे. आपने अपने आनन्दकेलिये 'मैं एक बहुत हो जाऊं' ऐसी इच्छा की''. इस कारण सर्व लीलाओृका प्रवर्तन प्रभु ही कर रहे हैं, ऐसे सिद्ध होता है.

(१२१) साक्षात्सर्वजगत्कर्ता. स्वयं साक्षात् सर्व जगत्कर्ता.

स्वयं, किसी अन्यकी अपेक्षा बिना, स्वस्वरूप द्वारा ही स्थावर-जंगात्मक सर्व जगतकी रचना करनेवाले हैं. यजुर्वेद बताता है कि ''यह सर्व भूत भविष्य और वर्तमान जगत वो पुरुष-परमात्मा ही है''. और श्रुतियृमृ भी ''सर्व ब्रह्मरूप है, इसके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है, अतएव भगवान् ही वर्तमान जगतरूप हैं''. ''यह जगतमृ परमात्माका अंश ही आविर्भावरूपसे प्रगट हुआ है'' ऐसा कहा है. आप गीतामृ भी आज्ञा करते हैं ''मैं यज्ञ, मैं स्वधा, और मैं ही औषध हूं'' ऐसा कहके समग्र जगत रूप मैं ही हूं ऐसा हेतु बताया है. श्रीभागवतमृ भी ''जिनमृसे इस जगतकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं ऐसे उपादानकारण और निमित्तकारण भी वो परमात्मा ही है''. अतः अन्यकी अपेक्षा बिनाही आप जगतको प्रकट करते हैं, यह सिद्ध होता है. कुम्हारको घढ़ा बनानेकेलिये मिट्टी, चक्र, डण्डा इत्यादिकी जरूरत पड़ती है परन्तु परमात्माको जगत्को बनानेमृ किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं होती. आपने तो स्वयं ही अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा ही अर्थात् मायामृ आरोप किये बिना केवल निजस्वरूपसे ही जगतका निर्माण किया है. अतएव आप साक्षात् जगतके कर्ता हैं, ऐसा कहा गया.

(१२२) महदादिप्रवर्त्तकः. महत्तत्त्व जिनमृ मुख्य है ऐसे पञ्चमहाभूतदि तत्त्वृके प्रेरक.

महत्तत्त्व जिसमृ मुख्य है ऐसे अहंकार, पंचमहाभूत इत्यादि तत्त्वृके प्रवर्तक आप प्रभु स्वयं ही हैं. इस स्कन्धके पांचवृ अध्यायमृ ''उसके बाद उस परमात्मामृसे महत्तत्त्व प्रकट हुआ''. ऐसा दर्शाया गया है. अर्थात् महत्तत्त्वादि सर्व तत्त्वृके प्रेरक प्रवृत्त करनेवाले स्वयं प्रभु श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम हैं.

मायाप्रवर्तकः साक्षी मायारतिविवर्द्धनः ।
आकाशात्मा चतुर्मूर्तिश्चतुर्धा भूतभावनः ।।३३।।

(१२३) मायाप्रवर्तकः.

मायामृ प्रेरणाकरनेवाले अर्थात् सत्त्व, रज और तम इन त्रिगुणात्मिका माया प्रकृतिको प्रेरणा करनेवाले.

मायामृ प्रेरणा करनेवाले आप हैं. अर्थात् भगवान्से माया पृथक नहीं है परन्तु आपकी विविध शक्तियोंमेंसे एक मायारूप शक्ति है, उसमृ प्रेरणा करनेवाले आप ही हैं. गीतामृ आप आज्ञा करते हैं कि ''मेरे अध्यक्षपनेके नीचे प्रकृति-माया इस सचराचर विश्वका प्रसव करती है, उत्पन्न करती है''. इस कारण मायामृ प्रेरणा करनेवाले आप भगवान् ही हैं.

(१२४) साक्षीः. प्रत्यक्ष देखनेवाले.

कोई भी वस्तुका अंतराय बिना सर्व चराचर विश्वको प्रत्यक्ष रीतिसे देखनेवाले आप प्रभु हैं. इसकेलिये ही ५वृ स्कन्धमृ कहा गया है कि ''भगवान्की दृष्टि जब आकाश पर पड़ी, तब उससे फिर काल, माया, और चिदाभासके योगसे स्पर्शतन्मात्र हुआ''. उपर्युक्त वचनोंसे प्रभु सर्ववस्तुके साक्षीरूपसे निरीक्षण करते हैं, ऐसा सिद्ध होता है.

(१२५) मायारतिविवर्द्धनः.

(१)मायाके द्वारा रति-प्रीतिको विशेषरूपसे बढ़ानेवाले (२)माया द्वारा अरति-भगवदासक्तिके अभावको विशेष बढ़ानेवाले; अप्रीतिको बढ़ानेवाले; (३)मायामृ अरति-अप्रीतिको बढ़ानेवाले.

प्रभु अपनी मायाके द्वारा पुत्र, मित्र, गृह, स्त्री इत्यादिमृ रति ममता-मोह-आसक्ति उत्पन्न करते हैं. अतएव वो सब मेरे हैं, ऐसा प्राकृत मनुष्य मान लेता है और मायामृ फंस जाता है. इस प्रमाणसे मायाके पाशमृ बंधे हुये जीवोंको भगवदासक्ति तो कहांसे होगी? अतएव वे अहं-ममत्वसे भरपूर इस संसारमृ ही आसक्त रहते हैं और उससे ही उनको भगवान्की भक्तिमृ अभाव होता रहता है. ऐसा होते हुये जब भगवद्इच्छासे भगवान्का अनुग्रह होता है तब उसको मायामृ अरुचि उत्पन्न होती है, ऐसी रीतिसे मायामृ अरुचि बढ़ानेवाले और वैसे ही प्रीति बढ़ानेवाले भी आप श्रीकृष्ण हैं. इस पांचवृ अध्यायमृ कहा है कि ''जिन पुरुषोंका देह, गेह तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य तुच्छ पदार्थोंमृ अहंता-ममताका दृढ़ दुराग्रह है, उनके शरीरमृ आपके अन्तर्यामी रूपसे रहनेपर भी जो अत्यन्त दूर हैं उनहीं आपके चरणाविन्दोंको हम भजते हैं''. अतएव जो मायामृ रचेपचे होते हैं उनसे प्रभु दूर ही रहते हैं. पूर्वजन्मके संस्कारोंसे उनका अंतःकरण विमल नहीं बना, उस कारण मायामृ ही प्रभुने उनको प्रेममय बना दिया है.

(१२६) आकाशात्मा.

(१)आकाश जिनका आत्मा अर्थात् देह है (२)चारॄ ओर तेजके द्वारा प्रकाशित होनेवाला जिनका स्वरूप है, ऐसे भगवान्.

परमात्माका देह आकाशमय है. जैसे आकाश सर्व व्याप्त होते हुये भी निर्लिप्त है, वैसे ही प्रभु सर्वव्यापक होते हुये भी निर्लेप हैं. प्रभुसे आकाश भिन्न नहीं है, वो आपका देह है, आप निज तेज द्वारा ही प्रकाशमान हैं. छठे अध्यायमॄ कहा गया हैं कि ''फिर विश्वकी रचना करनेवाले महत्तत्त्वादिके अधिपति श्रीभगवान्ने उनकी प्रार्थनाको स्मरण कर उनकी वृत्तियॉको जगानेकेलिये अपने चेतनरूप तेजसे उस विराट् पुरुषको प्रकाशित किया, उसे जगाया''. अतएव यहां अपने प्रकाशमान तेजसे ही आपने विराटको उठाया है, इसलिये आकाशात्मा–प्रकाशमान प्रभु ऐसे कहा गया है.

(१२७) चतुर्मूतिः. (१)वासुदेवादि चतुर्मूति रूप (२)ब्राह्मादि चार मूर्ति स्वरूपवाले.

वासुदेव(श्रीकृष्ण), संकर्षण(बलभद्र), प्रद्यम्न और अनिरुद्ध ये चतुव्यूर्हात्मक स्वरूप आप श्रीपूर्ण पुरुषोत्तम ही हैं. वैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारॄ वर्णरूप भी आप भगवान् ही हैं. यजुर्वेदकी श्रुति कहती है कि ''ब्राह्मण इसका मुख था, अर्थात् मुखसे ब्राह्मणकी उत्पत्ति हुई. दोनॄ भुजाओॄ से क्षत्रिय प्रकट हुवे. इस पुरुषकी दोनॄ जंघाओॄसे वैश्य प्रकट हुये. और दोनॄ चरणॄसे शूद्र प्रकट हुवे''. इसमॄ भगवान्का चतुवर्णात्मक स्वरूप स्पष्ट दर्शाया गया है. अतएव स्वयं प्रभु ही चतुर्मूति हैं, यह सिद्ध होता है.

(१२८) चतुर्धा.

(१)चारॄ वर्णोंकी चार प्रकारकी भिन्न–भिन्न वृत्ति हैं (२)जो भगवान् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चतुः पुरुषार्थको धारण करनेवाले हैं.

चार प्रकारकी वृत्तियां जैसेकि शम, दम, तप, शौचादि ब्राह्मणकी वृत्ति; शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षादि क्षत्रियॄकी वृत्ति; कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य इत्यादि वैश्यवृत्ति; और परिचर्या इत्यादिक शूद्रवृत्ति इत्यादि वृत्तिरूप आप ही हैं. धर्मादि चतुर्विध पुरुषार्थ देनेवाले प्रभु ही हैं, अतएव पुरुषार्थरूप भी आप पुरुषोत्तम ही हैं.

(१२९) भूतभावनः.

पृथ्वी आदि पांच भूतॄको उत्पन्न करनेवाले और भूत अर्थात् जीवॄको बढ़ानेवाले किंवा सर्व प्राणियॄ द्वारा भावना करने योग्य भगवान् हैं.

सर्व विश्वको उत्पन्न करनेवाले प्रभु हैं, ऐसा पहले बता दिया गया है. अतएव पृथ्वी आदि पांच महाभूतॄको उत्पन्न करते हैं यह सिद्ध है. वैसे ही सृष्टिकी रचना भली प्रकार करनी एवं उन सबकी वृद्धि भी करनी, यह स्वाभाविक है. क्योॄकि जीवॄकी वृद्धि

हुये बगैर सृष्टिकी रचना सम्पूर्ण हो नहीं सकती, इसकेलिये जीवॄकी वृद्धि करनेवाले आप प्रभु ही हैं. इस प्रकार जो प्रभु जगन्नियंता हैं तो सारे जीव–प्राणीमात्र उनकी भावना –सेवना करॄ तो इसमॄ क्या गलत बात है? इस कारण ही सर्वके द्वारा भावना करने योग्य प्रभु, ऐसा कहा गया.

रजः प्रवर्तको ब्रह्मा मरीच्यादिपितामहः ।
वेदकर्ता यज्ञकर्ता सर्वकर्ताऽमितात्मकः ।।३४।।

(१३०) रजः प्रवर्तकः. रजोगुणकी प्रेरणा करनेवाले.

प्रसन्न करनेरूप जो रजोगुण उसके प्रेरणा करनेवाले प्रभु आप ही हैं. आपके द्वारा रजोगुणकी प्रेरणा करी होनेके कारण जीवमात्र उसमॄ प्रसन्न हो रहे हैं. इस स्कन्धके अध्याय ८मॄ ''जिस समय भगवान्‌की दृष्टि अपनेमॄ निहित लिङ्गशरीरादि सूक्ष्मतत्त्वपर पड़ी, तब वह कालाश्रित रजोगुणसे क्षुभित होकर सृष्टिरचनाके निमित्त उनके नाभि देशसे बाहर निकला''. यहां सूक्ष्म कार्यमॄ रजोगुणकी प्रेरणा आपने ही करी है अतएव आप रजोगुणकी प्रेरणा करनेवाले हैं. आप सर्वव्यापक हैं, यह पहले ही बता दिया गया है.

(१३१) ब्रह्मा.

(१)सर्वव्यापकब्रह्मदेवस्वरूप;(२)ब्रह्माकी उत्पत्तिस्थानरूप–नाभिकमलरूप

आप सर्व व्यापक हैं, ये संबंध पहलेही बता दिया गया है, आप नारायण विष्णुरूप हैं, विष्णुकी नाभि–कमलमॄसे ब्रह्मा प्रकट हुये हैं. अतएव ब्रह्मा भी आपका ही स्वरूप है. इस स्कन्धके आठवॄ अध्यायमॄ कहा गया है कि ''सम्पूर्ण गुणॄको प्रकाशित करनेवाले उस सर्वलोकमय कमलमॄ वे विष्णुभगवान् ही अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हो गये. तब उसमॄसे बिना पढ़ाये ही स्वयं सम्पूर्ण वेदॄको जाननेवाले साक्षात् वेदमूर्ति श्रीब्रह्माजी प्रकट हुए, जिन्हॄ लोग स्वयम्भू कहते हैं''. अतएव उनमॄसे प्रकट हुए ब्रह्मा भी प्रभुका ही स्वरूप हैं अन्य नहीं.

(१३२) मरीच्यादि पितामहः.

(१)मरीच्यादि ऋषियॄके पितामह–दादा; (२)मरीचि आतिको विश्वके पितामहका पद देनेवाले.

मरीचि ऋषि जिनमॄ मुख्य हैं ऐसे अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और नारदऋषि इन सबके पिता ब्रह्मा और उनके भी पिता आप प्रभु हैं. मरीच्यादि ऋषियॄ द्वारा सर्व प्रजा प्रकटी है. इस कारण उन सब प्रजाओॄके पितामह मरीच्यादि सर्व ऋषि हैं. उनके द्वारा प्रजाकी वृद्धि करनेवाले प्रभु ही हैं. इस कारण ही मरीच्यादिको पितामह बनानेवाले आप भगवान् हैं.

(१३३) वेदकर्ता. वेदॄकी रचना करनेवाले.

भगवान्ने सर्व वेद –ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद प्रकट किये हैं. यजुर्वेदमृ कहा गया है कि ''जिसमृ सर्व होमनेमृ आता हो ऐसे यज्ञपुरुष परमात्मामृसे ऋक्, साम वेद उत्पन्न हुये हैं. वैसे ही यज्ञपुरुषसे छंद और यजुर्वेद भी प्रकट हुआ है''. प्रभु स्वयं ही यज्ञपुरुष हैं. उनमृसे ही सारे वेद, छंद प्रकट हुये हैं. यह स्पष्ट है.

(१३४) यज्ञकर्ता. (१) यज्ञृके करनेवाले; (२) यज्ञृके निमित्त प्राणियृको प्रकट करनेवाले.

अग्निहोत्र, अग्निष्टोम, वाजपेय, सोम इत्यादि यज्ञृको रचनेवाले प्रभु हैं. और आप ही सारेके सारे प्राणियृको उत्पन्न करनेवाले हैं. श्रुति आज्ञा करती है कि ''प्रजापति–परमात्माने यज्ञृको अग्निहोत्र, अग्निष्टोम, पौर्णमासी, इत्यादिका सृजन किया'' अतएव यज्ञनिर्माता प्रभु ही हैं यह निश्चय होता है. और भी ''यज्ञ द्वारा ही परमात्माने प्रजाका सृजन किया है'' इस वचनसे यज्ञ द्वारा प्रजाको उत्पन्न करनेवाले प्रभु स्वयं ही हैं, ऐसा सिद्ध होता है.

(१३५) सर्वकर्ता. सर्ववेदमय परमात्मा सबको उत्पन्न करनेवाले हैं.

सारे वेदृमृ जो अच्छी प्रकारसे प्रतिपादन करनेमृ आया है, वो ही वेदकर्ता भी स्वयं होनेसे, वो सर्व वेदमय है और ऐसे सर्व वेदमय परमात्मा ही इस विश्वके कर्ता हैं. इस स्कन्धके अ.९ मृ कहा गया है कि ''हे ब्रह्मा ! त्रिलोकीको तथा जो प्रजा इस समय मुझमृ लीन है, उसे तुम पूर्वकल्पके समान मुझसे उत्पन्न हुए अपने सर्ववेदमय स्वरूपसे स्वयं ही रचो''. उसके आगे सर्व वेदमय परमात्मा है, ऐसा बतानेमृ आया है. इस प्रकार सर्व वेदमय परमात्मा कर्ता है, ऐसा कहा.

(१३६) अमितात्मकः.

(१) जिनके असंख्य अवतार भेद हैं; (२) अपरिछिन्न स्वरूपवाले भगवान्.

अमित अर्थात् असंख्य जिसकी संख्या ना हो सके उतने अवतार आपके हैं अतएव आप अनन्त हैं. गीतामृ भगवान्ने आज्ञा करी है कि ''हे परंतप अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियृका कोई अंत नहीं है''. किस वस्तुमृ परमात्मा नहीं है? प्रभु तो सर्व व्यापक हैं. जहां कहीं भी कुछ नवीन चमत्कार दीखनेमृ आता हो वहां तो विशेष करके आपकाही स्वरूप बिराजता है. अर्थात् उनके स्वरूपृका और वैसे ही उनके अवतारृ का किस प्रकारसे अन्त हो सकता है? इसलिये ही प्रभुके अनन्त इत्यादि विशेषण वर्णित किये जाते हैं. और भी आपका स्वरूप अपरिछिन्न है. अर्थात् जिसमृ बाल्य, यौवन, वार्द्धिक्यादि अवस्थायृ प्राप्त नहीं होती हैं. केवल अव्यय रूप मूल स्थितिमृ ही स्थित रहता है, उसमृ कोई भी अन्तर नहीं पड़ता. अतएव परमात्मा स्वयं अमितात्मा है.

अनेकसृष्टिकर्ता च दशधा सृष्टिकारकः ।
यज्ञाङ्गो यज्ञवाराहो भूधरो भूमिपालकः ।।३५।।

(१३७) अनेकसृष्टिकर्ता. अनेक प्रकारकी सृष्टिको उत्पन्न करनेवाले.

सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीन गुणॄके मिश्रण द्वारा भिन्न भिन्न प्रकारकी सृष्टिको उत्पन्न करनेवाले आप श्रीकृष्ण हैं. ऐसा असाधारण चातुर्य प्रभु सिवाय दूसरेमॄ कैसे संभव हो सकता है? अतएव विविध प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न करनेका पांडित्य प्रभुमॄ बिराजमान है, अन्यमॄ नहीं.

(१३८) दशधासृष्टिकारकः. दस प्रकारकी सृष्टिको उत्पन्न करनेवाले.

प्रभुने मुख्य दस प्रकारकी सृष्टि प्रकट करी है. महतत्त्व, अहंकार, पंचमहा भूत, एकादश इन्द्रियां, अधिदैवत, तमःसर्ग, मुख्य सर्ग, पशुपक्षीयॄका सर्ग, मनुष्य और देव ऐसे दस प्रकारकी सृष्टि प्रसिद्ध हैं. श्रीभागवतमॄ ये दस प्रकारकी सृष्टिका स्पष्ट वर्णन आया है. इन दसॄ प्रकारकी सृष्टिको उत्पन्न करनेवाले आप प्रभु ही हैं.

(१३९) यज्ञाङ्गः. यज्ञ जिनके अंग हैं.

प्रभुने पृथ्वीका उद्धार करनेकेलिये और हिरण्याक्षका वध करनेकेलिये, यज्ञ वाराहरूप धारण किया है. उन यज्ञ वाराह प्रभुके अंग अंगमॄ अनेक यज्ञ बिराजमान हैं. हरिवंशपुराणमॄ यज्ञाङ्गवाराह परमात्माका वर्णन इस प्रकार किया गया है–जिसके वेदमय चरण, यज्ञ पात्र रूप दाढ़, यज्ञ रूप दांत, चितिरूपी मुख(अर्थात् सुचि नामका मुख्य पात्र), अग्निरूप जीभ, दर्भमय रोमावली, और आॄकार रूप मस्तक है, जो महातपस्वी दिन और रात्रिरूप निमिषको धारण करनेवाले हैं. नार, छः अंगरूप(न्याय योग सांख्य वैशेषिक पूर्वमीमांसा उत्तरमीमांसा यह वेदॄके छः अंग हैं), कुंडलको पहरनेवाले, धीरूप नाकवाला, शरवारूप मुखाग्रवाला, और सामगान रूप स्वर करनेवाला महान् है. जो सत्य धर्मको धारण करनेवाला, शोभा सौन्दर्य सम्पन्न, कर्मरूप पराक्रमसे सत्कार पाया हुये गवामयन आदि यज्ञकी मुख्य क्रियारूप लम्बी नासिकाग्रवाला, सामगान करनेवाला उद्गातारूप आंतडीयॄवाला, महान चिह्नवान, बीज और औषधिरूप महाफलवाला है. जो वायुरूप मनवाला, मंत्रॄको स्पर्श करनेवाला, पराक्रमी, सोमरसरूप रुधिरधारी, वेदीरूप बांधधारी, हुतद्रव्यरूप गंधवान, हव्य कव्यरूप अत्यंत वेगवान, सभसदॄका स्थानरूप, कायावाला, कान्तिमान, अलग अलग दीक्षाओॄ द्वारा पूजा जानेवाला, दक्षिणारूप हृदयधारी, महा यज्ञस्वरूप, योगी, उपाकर्मरूप हॄठका अंलकारवाला, प्रवर्ग्यरूप ऊंडी नाभिवाला, अलग अलग छन्दॄरूप जानेके मार्गवाला, गुप्त उपनिषद रूपी आसनवाला, छायारूप पत्नीरूप सहायवान और मेरूके शिखर जैसा ऊंचा, ऐसा यज्ञवाराहरूप होकर भगवानने एकदम रसातलमॄ प्रवेश किया. इस प्रमाणसे यज्ञांग वाराहजीकी स्वरूप है. भागवतमॄ भी उनको यज्ञस्वरूप वाराह भगवान् वर्णित किया गया है. ऐसे यज्ञरूप वाराहावतार धारण करनेवाले आप प्रभु ही हैं. अतएव यज्ञरूप भगवान हैं.

(१४०) यज्ञवाराहः. यज्ञरूप वराह अवतारको धारण करनेवाले.

पहले जो यज्ञांगस्वरूप कहा गया उसको यह नाम स्फुट करता है. हिरण्याक्ष दैत्यका विदारण करनेकेलिये और रसातलमॄ डूबी हुई पृथ्वीको स्थिर करनेकेलिये भगवान्ने ही स्वयं वराहरूप धारण किया है. ऐसा सर्वत्र प्रसिद्ध है.

(१४१) भूधरः. भूमिको धारण करनेवाले.

भूमिका उद्धार करते समय वराह भगवानने उसको अपनी दाढ़के ऊपर धारण किया था. अतएव आप भूमिको धारण करनेवाले हैं. इस स्कंधके अ. १३मॄ देवॄने स्तुति करी है कि ''पृथ्वीको धारण करनेवाले भगवन् ! आपकी दाढ़ॄकी नोकपर रखी हुई यह पर्वतादि-मण्डित पृथ्वी''. यहां भगवान्की स्तुति करते हुये आपको भूधर, ऐसे संबोधन किया है. अतएव भूमिको धारण करनेवाले भूधर तो आप प्रभु ही हैं.

(१४२) भूमिपालकः. भूमिका पालन करनेवाले.

पृथ्वीको रसातलमॄसे लाकर हिरण्याक्ष नामके महादैत्यका नाश करके भूमिका उद्धार किया. इस प्रकार आपने दैत्यसे रक्षाकरके भूमिका संरक्षण किया. इस प्रकार भूमिका रक्षण करके अपनी स्वयंकी योग शक्तिसे जलके ऊपर उसका स्थापन किया. इस प्रकार आपने भूमिका संरक्षण किया है. अतएव भूमिके पालन करनेवाले आप श्रीकृष्ण ही हैं.

सेतुर्विधरणो जैत्रो हिरण्याक्षान्तकः सुरः ।
दितिकश्यपकामैकहेतु सृष्टिप्रवर्तकः ।।३६।।

(१४३) सेतुः. (१) मर्यादा बांधनेवाले; (२) सेतुरूप

भगवान् सर्व वर्णाश्रमके धर्मोंकी मर्यादा बांधनेवाले हैं. श्रुति आज्ञा करती है कि ''सेतुविधरण एषां लोकानामसंभेदायेति''(इन सर्व लोकॄकी धर्ममर्यादाॱ भंग न हॄ इसलिये आप उनको धारण करते हैं अर्थात् सेतुरूप बनते हैं. इन वचनॄसे ही भगवान् ही धर्ममर्यादाके वास्तविक स्वरूप सेतुरूप हैं. यह सिद्ध होता है. सेतुसे-पुलसे समुद्र भी लांघा जा सकता है. इसी प्रकार संसाररूप महासमुद्रको उल्लांघनेकेलिये सेतुरूप आप प्रभु ही हैं. जब प्रभुका सेवन करनेमॄ आता है, जब आपमॄ आसक्ति तन्मयता होती है, तब इस संसार सागरको तैरा जा सकता है. जन्म मरण रहित जीव हो सकता है. अतएव ऐसे संसार सागरको उल्लांघनेकेलिये सेतुरूप आप भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं.

(१४४) विधरणः.

(१)विशेष रूपसे सबको धारण करनेवाले; (२)'वि'=गरुड़को धारण करनेका जिनका सामर्थ्य है. तात्पर्य यह है कि प्रभुने गरुड़जीको अपना वाहन बनाकर अपनेको धारण करनेकी अद्भुत शक्ति गरुड़को प्रदान की है; (३)वि=कालको धारण करनेवाले.

दाढ़की नोक पर विशेष कर भूमिको धारण करनेवाले ऐसे वराहरूप भगवान् इसी कालको धारण करनेवाले. क्यूंकि स्वयं ही कालात्मक हैं ऐसा पहले ही बताया जा चुका है. और भी गरुड़मू महावेगपूर्वक धारण करनेकी गजबकी शक्ति है. प्रभुने अपना वाहन बना कर उनमू अपनेको धारण करनेकी अद्भुत शक्ति समर्पितकी है; यह प्रभुकृपाका ही परिणाम है.

(१४५) जैत्रः. जय प्राप्तकरनेका जिसका स्वभाव है, ऐसे.

प्रभु सर्व समर्थ हैं, अर्थात् सर्वत्र जिसकी जय है. जगन्नियंता इस सर्व विश्वनाटकके सूत्रधार, परमात्मा विजय शील हो, इसमू क्या आश्चर्य? जैसे कठपुतलियूंको चलानेवाला जिस प्रकार से उन पुतलियूंको नचाता है वैसे ही वो नाचती हैं. इसी प्रकार जगतके सूत्रको धारण करनेवाले भगवान् जैसे चाहते हैं वैसे ही सर्व प्राणीमात्रका परिवर्तन होता है. इस प्रकारके अद्भुत अलौकिक प्रभाववान भगवान्, सर्वत्र विजयवान हूं, ये स्वाभाविक ही है.

(१४६) हिरण्याक्षान्तकः. हिरण्याक्ष नामके दैत्यका अंत करनेवाले.

महापराक्रमी विजयमू मदोन्मत्त बना हुआ हिरण्याक्षका अंतकाल आप प्रभु हैं. पहले कहे गये अनुसार प्रभु जैत्र-विजयशील होनेके कारण हिरण्याक्ष जैसे महाबलवान दैत्यका अंत किया, यह सिद्ध होता है.

(१४७) सुरः. सुंदर शोभा देनेवाले.

दैत्यका नाश करके सबका कल्याण करने रूप शोभा-सौभाग्य प्रदान करनेवाले ऐसे पुरषोत्तम. यदि इस प्रकार दुष्टूका नाश नहीं करते हूं तो सबका कल्याण किस प्रकार होगा? सबको सौभाग्य किस प्रकार मिलेगा? जैसे सर्वजन ऊपर दया प्रकट करी, उनका दुःख दूर किया, सुंदर सौभाग्यका दान करनेवाले प्रभु ही हैं.

(१४८) दितिकश्यपकामैकहेतुसृष्टिप्रवर्तकः.

दिति और कश्यपकी काम हेतुवाली सृष्टिका प्रवर्तन प्रकट करनेवाले.

दैत्यूंकी माता और कश्यप मुनि, उन दोनूंकी कामकेलिका ही हेतुवाली और दैत्यमयी(काममयी) सृष्टि सर्जनहार स्वयं भगवान् ही हैं. इस स्कन्धके अध्याय १४के ''हे विदुरजी! एक बार दक्षकी पुत्री दितिने पुत्रप्राप्तिकी इच्छासे कामातुर होकर सायंकालके समय ही अपने पति मरीचिनन्दन कश्यपजीसे प्रार्थना की'' इस प्रमाणके द्वारा दैत्यकी सृष्टि प्रकट होनेका मूल बीज बताते हैं. ये उत्पन्न हुआ कारण भगवान्की इच्छासे ही है, अतएव उस सृष्टिके प्रकट करनेवाले भी आप प्रभु ही हैं.

तृतीयस्कन्धके इसे आगेके नामूकेलिए दूसरा खंड देखू.

श्रीभागवत सुबोधिनी

तृतीय स्कन्ध

(सर्ग लीला)

बन्धसृष्टि प्रकरण अध्याय (१-१९)

अध्याय १

उद्धवजी और विदुरजी की भेंट

अधिकारिषु साङ्गं हि श्रवणं सुनिरूपितम् ।
स्कन्धद्वयेन, शेषेषु क्रियते विषयाभिधा।।कारि.१।।

कारिकार्थ: प्रथम स्कन्धमें कहा, कि अधिकारी तीन प्रकारके हीन, मध्यम और उत्तम हैं. द्वितीय स्कन्धमें (श्रद्धा) अंग सहित श्रवणका निरूपण किया है शेष दस स्कन्धोंमें तीसरेसे द्वादश तकमें सर्गादि विषयोंको कहा है ।।१ ।।

त्रयस्त्रिंशदथाऽध्यायास्तृतीये सर्गवर्णने ।
स्वाभिप्रेते सविशेषे हरेर्माहात्म्यसूचके।।कारि.२।।

कारिकार्थ: तीसरे स्कन्धमें तैंतीस अध्याय हैं जिनमें हरिका माहात्म्य प्रकट करनेवाले शुक तथा व्यासके हृदयमें जचा हुआ विशेष गुणवाला सर्ग वर्णनका विषय निरूपण किया है. जिस विशेष गुणका वर्णन (१२।७।११) में भगवद्रूपत्वेन कहा है ।।२ ।।

लोके सर्गविसर्गौ हि सदृशौ नेह तौ मतौ ।
किन्तु तौ लीलया वाच्यौ तेन स्कन्धद्वयं ततम्।।कारि.३।।

कारिकार्थ: लोकमें जिस प्रकारके सर्ग और विसर्गका अर्थ उत्पत्ति होती है, उस प्रकारके सर्ग-विसर्गका वर्णन यहां नहीं है, यहां तो दोनों सर्ग और विसर्ग वे हैं जो पृथक् लीलासे हुए हैं उनका वर्णन है, यद्यपि सर्ग, विसर्ग दोनोंका अर्थ उत्पत्ति है किन्तु यह उत्पत्ति भगवान्ने लीला द्वारा पृथक्-पृथक् प्रकारसे की है अतः एक(सर्ग) लीलाका वर्णन तीसरे स्कन्धमें और दूसरी(विसर्ग) लीलाका वर्णन चतुर्थ स्कन्धमें विस्तारसे किया है ।।३ ।।

भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः ।

ब्रह्मणो गुणवैषम्यादिति सर्गस्य लक्षणम् ।।कारि.४।।

कारिकार्थः इस कारिकामृ सर्गका लक्षण बताते हैं, महाभूत, तन्मात्रा, इन्द्रियां और बुद्धिके जन्मको सर्ग कहते हैं, यह सर्ग, ब्रह्मके गुणोमृ विषमता आनेपर होता है, अर्थात् जब गुणृमृ विषमता होती है तब महाभूतादिकी उत्पत्ति होती है ।।४ ।।

अत्रार्थो द्विविधौऽप्यस्ति विवक्षित इति स्फुटः ।
ब्रह्मतो जायते सर्गो ब्राह्मार्थं क्रियते परः ।।कारि.५।।

कारिकार्थः यहां दो प्रकारके अर्थ(सृष्टि)के कहनेकी इच्छा है, एक जो प्रसिद्ध सृष्टि ब्रह्मसे उत्पन्न मानी गई है और दूसरी सृष्टि जो ब्रह्मकेलिए उत्पन्न हुई है ।।५ ।।

अतोऽत्र द्विविधः सर्गः श्रुतिसाङ्ख्यानुसारतः ।
भूतमात्रेन्द्रियधियः प्रथमे त्रिविधा मताः।।कारि.६।।

कारिकार्थः इसलिए ये दो प्रकारकी सृष्टि, श्रुति और सांख्यके अनुसार वर्णित है, प्रथम सर्ग जिसमृ भगवान् उपादान कारण हैं महाभूत, तन्मात्रा, इन्द्रियां और बुद्धिकी वह सृष्टि तीन प्रकारकी है ।।६ ।।

अधिकारे हरौ कार्ये सत्त्वादिगुणभेदतः ।
अतश्चतुर्णामुत्पत्तौ द्वादशाध्यायवर्णनम् ।।कारि.७।।

कारिकार्थः यह सृष्टि जिनका उपादान कारण हरि(भगवान्) हैं वह तीन प्रकारकी कैसे हुई? जिसको इस कारिकामृ समझाते हैं कि अधिकार, हरि(पुरुष शरीर) और कार्य,(भौतिक सृष्टि) इनमृ सात्त्विकादि गुणृके भेदके कारण ही यह महाभूतादि सृष्टि तीन प्रकारकी हुई है, इसलिए इन चारृकी उत्पत्तिके वर्णनमृ १२ अध्याय हैं ।।७ ।।

ततोऽत्र युक्तरूपस्य ब्रह्मणो विनिरूपणम् ।
गुणवैषम्यकथनं षडध्याय्या निरूप्यते ।।कारि.८।।

कारिकार्थः १३वृ अध्यायमृ योग्य रूपवाले ब्रह्मका निरूपण किया है अर्थात् क्रिया शक्ति युक्त वराह भगवान्का वर्णन किया है, बादमृ ६ अध्यायोंमृ गुणृकी विषमता(असमानता)का निरूपण किया है ।।८ ।।

कर्मादिमार्गा वेदोक्ताः फलतस्ते यदि स्थिराः ।
सर्गोऽत्र नैव जायेत ततस्तन्नाश उच्यते ।।कारि.९।।

कारिकार्थ: कर्म, ज्ञान और भक्ति ये तीन मार्ग मोक्ष देनेवाले हैं, ये यदि स्थिर रहृ तो यहां सृष्टि ही न हो(न रहे), इसलिए इनकी स्थिरता नहीं रहती है इनका भी नाश हो जाता है, जिससे सृष्टि होती रहती है ।।९ ।।

कामेन कर्मनाशः स्यात् क्रोधेन ज्ञाननाशनम् ।
लोभेनापि च भक्तेर्हि धर्मिज्ञानीश्वरैः कृताः।।कारि.१०।।

कारिकार्थ: कामसे कर्मका, क्रोधसे ज्ञानका और लोभसे भक्तिका नाश होता है, जिसका प्रमाण(सबूत) देते हैं कि कर्म करनेवाले(कश्यपजी), ज्ञानी(सनत्कुमारृ) अधिकारियृ(जय-विजय)ने अपने कर्म, ज्ञान और भक्तिका नाश किया, जैसे कश्यपजीने कामवश हो अपने कर्मका नाश किया, सनत्कुमारृने क्रोध कर अपने ज्ञानका नाश किया, जय-विजयने अधिकारका लोभ होनेसे गर्व(घमण्ड) किया तो उनकी भक्ति नष्ट हुई ।।१० ।।

ततो गुणानां वैषम्यं तमःसत्त्वरजस्त्वतः ।
एवमेकोनविंशत्या हरिकर्तृक ईरितः।।कारि.११।।

कारिकार्थ: पश्चात् तम, सत्त्व और रजपन के कारण गुणोंमृ असामनता दिखाई गई है, इसी प्रकार १९ अध्यायृसे हरिकृत सर्गका वर्णन किया गया है ।।११ ।।

चतुर्दशभिरध्यायैर्हरये सर्ग उच्यते ।
गुणवैषम्यमेकेन भगवद्भोगसिद्धये।।कारि.१२।।
भूतमात्रेन्द्रियाधियां जन्म भोगाय देहतः ।
चतुर्भिरुच्यतेऽध्यायैर्नवभिश्च गुणास्त्रयः।।कारि.१३।।

कारिकार्थ: अब १४ अध्यायृसे हरिकेलिए किये गए सर्गका वर्णन करते हैं, भगवद्भोगकी सिद्धिकेलिए एक अध्यायमृ गुणृकी असमानताका वर्णन है, भोग हो सके इसलिए महाभूत तन्मात्रा, इन्द्रिय और बुद्धिका देहसे जन्म चार अध्यायृमृ कहा है, ९ अध्यायृमृ तीन गुणृका वर्णन है ।।१२-१३ ।।

यादृशैर्भगवद्भोगस्तेषां सर्गो निरूप्यते ।
कथायां त्वधिकारोऽत्र चतुर्भिः करणं परैः।।कारि.१४।।

कारिकार्थ: जिस प्रकार महाभूतादि और गुणृसे भगवान्का भोग सिद्ध हो, उनके सर्गका यहां वर्णन है, चार अध्यायृसे यहां श्रीसुबोधिनीजीमृ कथा सम्बन्धी अधिकारका वर्णन है, पर अध्यायृसे साधन कहे हैं ।।१४ ।।

सर्गस्य सविभूतेश्च सर्वत्रैवानुवर्णनम् ।

उत्तमे त्वधिकारे हि लीलामात्रं फलाय वै।।कारि.१५।।

कारिकार्थ: सर्वत्र विभूतिवाले सर्गका वर्णन है, उत्तम अधिकार हो तो केवल लीला मात्रसे ही फल हो जाता है ।।१५ ।।

किं पुनर्दशधा लीलेत्येवं वैदुरिकी कथा ।

तत्राऽधिकारे प्रथमे देहवैशिष्ट्यकारणम्।।कारि.१६।।

कारिकार्थ: यदि उत्तम अधिकार होनेपर लीला मात्रसे फल मिल जाता है तो दस प्रकारकी लीलासे फलकी प्राप्ति होगी, इसमृ आश्चर्य ही क्या है? अधिकार प्रकरणके प्रथम अध्यायमृ देहकी विशिष्टता होनेका कारण* कहा है ।।१६ ।।

(*.विदुर देह उत्तम है जिससे अनुमान होता है कि उनके उत्तम कारण हैं.)

भूतानां संस्कृतानां हि त्रेधा सर्गो निरूप्यते ।

तीर्थसङ्गगुणस्मृत्या पञ्चधा वा निरूप्यते ।।कारि.१७।।

कारिकार्थ: संस्कृत अर्थात् सत्त्वसे शुद्ध हुए महाभूतृका सर्ग भी तीन प्रकारका निरूपण किया जाता है, अथवा तीर्थोंका संघ, भगवद्गुण स्मरणसे, इस तरहके(संस्कार प्राप्त) महाभूतृका वर्णन किया है ।।१७ ।।

तीर्थद्वयेन हरिणा भक्तैस्तत्कथयाऽपि च ।

अस्मिन् भागवते शास्त्रे पूर्वदेहस्य नाशनम् ।

नापेक्ष्यते यतः सर्वे भक्तिमार्गाधिकारिणः ।।कारि.१८।।

कारिकार्थ: ऊपरकी कारिकामृ १. तीर्थसंग, २. भगवद्गुण मरण और इस कारिकामृ हरि भक्त एवं उनकी कथाएं इस तरह पांच प्रकारसे संस्कार प्राप्त महाभूतृ के सर्गको कहा है इस भागवत शास्त्रमृ पहले देहके नाशकी अपेक्षा नहीं है कारण कि भक्तिमार्गमृ सर्व अधिकारी हैं ।।१८ ।।

आभासार्थ: इसी प्रकार पूर्वाध्याय अर्थात्(दूसरे स्कन्धके दशवृ अध्यायके अन्तमृ) कहा कि, ''तद्वोऽभिधास्ये शृणुत'' तुमको कहूंगा, सुनिए ऐसा कहकर शुकदेवने समझा कि 'सर्ग'के विषयमृ विदुरजीकी कथा बताना ही उचित है, अतः कथाको कहनेकेलिए ही शुकदेवजीने कहा है कि ''विदुरेणैवं प्रश्नः कृतः'' विदुरने भी इसी तरहका ही प्रश्न किया था वह निम्न दो श्लोकृसे कहते हैं:

श्रीशुकः उवाच

एवम् एतत् पुरा पृष्टो मैत्रेयो भगवान् किल ।

क्षत्रा वनं प्रविष्टेन त्यक्त्वा स्वगृहम् ऋद्धिमत् ।।१।।

श्लोकार्थः श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि अपने समृद्धिवाले गृहका त्यागकर वनमृ गए हुए क्षत्राने भगवान् मैत्रेयजीसे इसी प्रकार यही प्रश्न किया था ।।१।।

व्याख्याः जिस प्रकार तुमने पूर्व पक्ष सहित बहुत प्रश्न किये, वे सब आगे कहे जाएंगे, उसी तरह विदुरजीने भी पूछा और उनका उत्तर मैत्रयजीने दिया हो याृ नहीं कहा जा सकता है, कारण कि जो भी प्रश्न किये जाते हैं उन सबका उत्तर नहीं दिया जाता है केवल जितने उत्तरसे उनका हित होता है उतना ही उत्तर दिया जाता है. याृ कहनेका भावार्थ है.

श्रोता, कितनी भगवत्कथा सुनकर, फिर भी विशेष प्रश्न इसीलिये करते हैं कि वह सुनी हुई कथा हृदयमें दृढ़ होके स्थिर रहे, याृ करनेसे श्रोता विदुरजीके कार्यकी पूर्णतः सिद्धि हुई याृ निरूपण किया जाता है यदि कार्यकी सिद्धि नहीं हुई होवे तो, गृहका त्याग शंकासे हुआ है, याृ कहना उचित नहीं है.

शास्त्रमृ भगवान् विशेषण दो स्थानृपर दिया जाता है १.जहां नित्य भगवत्त्व रहता हो जैसे भगवान् हरिमृ नित्य है और दूसरा जहां(जिस व्यक्तिमृ) भगवान्की कृपासे भगवत्त्व यानि भगवान् गुण कार्य करनेकेलिये ही प्रकट हुए हैं जैसे मैत्रेय नारदादिमृ भगवत्त्व कार्यार्थ ही है वह नित्य नहीं है, जिसमृ इस प्रकारका भगवत्त्व, कार्यार्थ उत्पन्न होता है उसको उपदेश देनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है जैसे यहां मैत्रेयजीको प्राप्त हुआ है, अतः मैत्रेयजीमृ गुरुत्व, ज्ञानित्व आदि धर्म सिद्ध हुए हैं, अतः यहां मैत्रेयजीको प्रेम संचार करनेकी सामर्थ्यकेलिये और सर्व संदेह निवृत्ति करनेकी सामर्थ्यकेलिये ही भगवत्त्वकी प्राप्ति हुई है यह निरूपण किया जाता है, इनका नाम मैत्रेय इसलिये है कि यह मित्राके पुत्र हैं, मित्रा माताके सम्बन्धसे इनमें जन्मसे ही सर्वोपकार करनेका गुण है यह सूचित किया है, मैत्रेयजीको भगवान् भी कहा है, इससे उनको सर्वोपकारी एवं मित्राका पुत्र कहनमें कोई दोष नही है श्लोकमृ 'किल' पद देकर यह सूचित किया है कि इनकी दोनों स्थानृपर अर्थात् भगवत्त्वमृ और उनसे प्रश्न हुवे है. इनमें प्रसिद्धि है, याृ न होवे तो अर्थात् मैत्रेयजी स्वयं(खुद)का उससे(विदुरसे) संबंध वा मिलाप नहीं हुआ हो तो

उसको यॄ उत्तर दिये, यह कहना ही अनुचित हो जाये.

'क्षत्ता' उसे कहते है जो अन्तःपुरका अध्यक्ष हो एवं सर्व प्रकार जितेन्द्रिय हो, यदि जितेन्द्रय न मिले तो नपुंसकको अध्यक्ष किया जाता है. इसलिये ही विदुरजीका जितेन्द्रियपन सिद्ध करनेकेलिये 'क्षत्ता' पद दिया है. 'वनं प्रविष्टेन' पदसे यह सूचित किया है कि विदुरजी सर्वत्यागकर, वनमॄ आकर रहे हैं अतः उनको इन गुणॄसे प्रश्न करनेका अधिकार प्राप्त हो गया है यह निरूपण किया है, 'वनं' यह द्वितीया विभक्ति कर्ममॄ देनेका भावार्थ यह है कि विदुरजीाको वनमॄ निवास इष्ट था, और 'प्रविष्ट'मॄ 'प्र' उपसर्गसे यह सूचित किया है कि विदुरजीको वनमॄ रहकर वहां ही देह त्याग करनेकी इच्छा थी. त्याग जिस पदार्थका किया वह साधारण नहीं किन्तु बहुत उत्कृष्ट(उत्तम) है जिससे विदुरजी अधिकारी हैं, यह सूचित किया है, वह स्पष्ट करके बताते हैं कि 'स्वगृहम् ऋद्धिमत्' अपना गृह था दूसरेका उसमॄ किसी प्रकारका अधिकार नहीं था और वह घर साधारण भी नहीं था, किन्तु सर्वप्रकार सम्पत्तिवाला था, जिससे उद्वेग(चिन्तासे चंचल मन)का अभाव था, यॄ कहनेका आशय यह है कि विदुरजीने गृहत्याग उद्वेगसे नहीं किया है, उद्वेगसे जो त्याग किया जाता है, वह कर्त्तव्य(धर्म)के साथ किया गया हो तो भी उससे फल सिद्धि नहीं होती है ।।१।।

आभासार्थ: गृहादिका त्याग ज्ञान मार्गका अंग है अतः ज्ञानमार्गमॄ गृह त्याग करना चाहिए क्यॄकि गृह ज्ञानका विरोधी है, भक्तिमार्गमॄ गृहको उत्कृष्ट (उत्तम) माना गया है क्यॄकि गृहमॄ भगवत्सेवादि कर्म हो सकता है, अतः समझा जाता है कि विदुरजीने उद्वेगसे ही गृहका त्याग किया है जिस शंकाका निवारण निम्न श्लोक 'यद्वा अयं'मॄ करते हैं:

यद्वा अयं मन्त्रकृद्वो भगवान् अखिलेश्वरः ।
पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम् ।।२।।

श्लोकार्थ: इस आपके दूत, अखिलेश्वर भगवान्ने, उत्तम पौरवेन्द्रके गृह (कौरवॄके महल)का त्यागकर, विदुरजीके गृहको अपनाकर जिसमॄ प्रवेश किया, (ऐसे उत्कृष्ट गृहका विदुरजीने त्याग किया है) ।।२ ।।

व्याख्या: जिस घरको भगवान्ने अपना बना दिया, भगवान् विदुरजीके घरको लोककी प्रतीतिसे अपना घर मानते हैं, यॄ केवल मान्यता है यॄ नहीं, किन्तु भगवान्का व्यवहार ही ऐसा था जैसा अपने घरकेलिये किया जाता है,

अपना साधारण घर हो तो भी दूसरेके उत्कृष्ट(उत्तम) घरमॄ न रहकर अपने ही घरमॄ निवास किया जाता है, भगवान्ने इसलिये ही विदुरजीके घरको अपना घर समझ, पौरवेन्द्र(दुर्योधन)के प्रार्थना करनेपर भी सर्व प्रकारसे उत्कृष्ट गृहका, त्याग कर दिया. हालांकि आप मन्त्रणा करनेकेलिये आये थे वहां रहना उचित था. भक्तॄके कार्यसिद्धि करने आये थे और आप सबसे उत्कृष्ट गुणॄसे पूर्ण भगवान् हैं अतः उत्कृष्ट स्थानमॄ रहना योग्य था, यॄ भी मत कहना कि वह दुःशासन अभक्त और दैत्य धर्मवाला था इसलिये उसके घरमॄ न रहे, क्यॄकि आप सबके ईश्वर हैं अर्थात् स्वामी हैं तथा सबके नियन्ता हैं, अतः उसके(दुःशासनके) गृहमॄ रहना उचित था क्यॄकि वह घर भी स्वामी और सर्व नियन्ता होनेके सम्बन्धसे आपका अपना ही था, तो भी आप दुःशासनके घरमॄ न रहकर, विदुरजीके घरमॄ प्रविष्ट होकर उसको अपना घर बनाया, ऐसे गृहका त्याग विदुरजीको न करना चाहिये था, जैसे भगवान्के गृह देवालयमॄ रहना उचित है वैसे ही अपने गृहमॄ भी उनको रहना उचित था, यॄ होते हुए भी 'गृह' घर ही तो है उसका त्याग ही करना चाहिये, गृहमॄ स्थितिकी उत्कृष्टता(श्रेष्ठता) केवल भगवदीयत्वके कारण नहीं है, किन्तु भगवान्के साथ रहनेसे है, अथवा भगवत् कार्यकेलिये रहना चाहिये, यॄ न हो तो वहां नहीं रहना चाहिये यॄ स्थिति है ।।२।।

आभासार्थः परीक्षितके प्रश्नका श्रीशुकदेवजीको उत्तर देना चाहिए था, वह न देकर, दूसरॄका वचन उस विषयमॄ बताना उचित नहीं, ऐसी शंका होनेपर, परीक्षित उस(शंका)का निराकरण यॄ समझकर कर लेते हैं कि उस संवादके देश और काल उत्तम ह्यॄगे इसलिए शुकदेवजीने विदुर मैत्रेयीके संवादको यहां लाए हैं, अतः परीक्षित उनके सम्बन्धका प्रश्न करते हैं.

राजोवाच

कुत्र क्षत्तुर्भगवता मैत्रेयाणास संगमः ।
कदा वा सह संवाद एतद्वर्णय नः प्रभो ! ।।३।।

श्लोकार्थः राजा कहने लगे कि, क्षत्ताका भगवान् मैत्रेयके साथ मिलाप कहां हुआ ? और संवाद कब हुआ ? हे प्रभु ! वह हमको बताइए ।।३ ।।

व्याख्याः फिर जब वही बात कही जाती है तब पहले कहे हुए पदॄके दोहरानेका आशय यह है कि, उसके अर्थका पूर्णतया ज्ञान हो जावे. प्रश्न तब हो सकता है जब आपसमॄ मिलें अतः प्रश्नकेलिये मिलापकी अपेक्षा(जरूरत) रहती

है. जहां महापुरुषाृका संगम होता है, वह देश श्रेष्ठ ही होता है इसलिये पूछा है कि, कहां संगम हुआ? 'आस संगमः' समागम पाठमृ भी 'अस्ति'(है) इत्यादि प्रयोग सिद्ध ही हैं, अर्थात् वहां न दिया हो तो भी समझ लेना चाहिये कि 'अस्ति' आदि पद हैं, 'कदा वा' याृ प्रश्नसे समयका कोई आदर नहीं है अर्थात् वह समय, हमारे(शुक-परीक्षितके) संवादकेलिये नहीं है अतः हमको उपयोगी न होनेसे उसका हम आदर नहीं करते हैं, 'यह संवाद' पद सूचित किया है कि राजा स्वयंने (खुदने) बहुतसे प्रश्न किये हैं, इसलिये प्रश्नाृके क्रमानुसार उत्तर देना चाहिये, याृ शङ्का कर उसका निराकरण करते हैं कि, 'एतद्वर्णय' यह ही वर्णन करो अर्थात् विदुर- मैत्रेयके संवादका ही वर्णन करो, क्याृकि वह ही हमारे लिये उपकार करनेवाला है. हे प्रभो! संबोधनसे यह सूचित किया कि आप सर्व समर्थ होनेसे यह जानते हैं, कि प्रश्नाृका उत्तर इस संवाद श्रवणसे ही प्राप्त हो जाएगा, इस संवादसे ही मेरे संदेह दूर हो जायृगे यह मुझे निश्चय हो गया है ।।३।।

आभासार्थः मेरे प्रश्नाृके उत्तर मिलृ, उनकी अपेक्षा भी इस संवादके श्रवणमृ मुख्य हेतु कहते हैं:

न ह्यल्पार्थोदयस्तस्य विदुरस्याऽमलात्मनः ।
तस्मिन् वरीयसि प्रश्नः साधुवादोपबृंहितः ।।४।।

श्लोकार्थः निर्मल अन्तःकरणवाले विदुरजीने जो प्रश्न, उत्तम पुरुष (मैत्रेयजी)से किया है और जिसका अनुमोदन सज्जनाृने किया है, वह स्वल्प फल देनेवाला नहीं हो सकता है ।।४ ।।

व्याख्याः यह नियम है कि खण्ड-खण्ड(अलग-अलग टुकडाृके) विषय श्रवणसे फल भी खण्ड ही अर्थात् स्वल्प ही मिलता है, परन्तु यह तो जो खण्ड श्रवण हो तो भी अखण्ड(सम्पूर्ण) ही फल देगा कारण कि इसके संबंधी प्रश्न कर्त्ता विदुरजी, उत्तरदाता मैत्रेयजी दोनाृ विशिष्ट पुरुष हैं, उनकी विशिष्टताके कारण खण्ड भी अखण्ड फल देनेवाला बन जाता है, जैसे उत्तर देशमृ, उत्तम कालमृ और उत्तम पात्रमृ स्वल्प भी जलदान किया जाये तो वह उत्तम और सम्पूर्ण फल देता है, वैसे यहां भी समझना चाहिये. यह प्रश्न ऐसा नहीं है जिससे खण्ड फल मिले, 'हि' पदसे यह सूचित किया है कि स्वल्प कार्यको जो सिद्ध करे वह प्रश्न ही व्यर्थ है, इसकी पुष्टिमृ यही युक्ति दी है.

संबंधीकी उत्तमता कहते हैं 'विदुरस्य अमलात्मनः' प्रश्नकर्ता विदुरजी

कैसे थे? जिसकेलिये 'अमलात्मनः' विशेषण दिया है, जिसका भावार्थ है कि वह निर्मल(शुद्ध) अन्तःकरणवाले एवं परम नीतिज्ञ थे. राजा परीक्षित इससे यह बताना चाहते हैं कि हम प्रश्नकर्त्ता तो नीति जानते नहीं और शापादिसे हमारा अन्तःकरण भी अशुद्ध है, अतः जो कुछ समझमू आता है वैसे ही व्यर्थ प्रश्न भी कर लेते हैं, उस प्रश्नकर्तासे भी उसका गुरु जिससे प्रश्न किया है वह उत्तम है, इसलिये 'वरीयसि' पद दिया है, जिसका भावार्थ है कि वे श्रेष्ठ व उत्तम थे, 'साधुवादोपबृंहितः' पदसे यह बताया कि उनका अनुमोदन बड़ाने किया है, यह मैत्रेयजीके भीतरके उत्साहमू हेतु कहा. इससे यह सूचित किया कि पूर्णफल अवश्यमेव होनेवाला है, इसलिये ही मैत्रेयजीने उसको विशेष पुष्ट किया है ।।४।।

आभासार्थः यहां देश, काल और त्यागके हेतु पूछे हैं इनमू त्यागके कारणकी प्राथमिकता होनेसे वह कहना चाहिए वह कारण तो साक्षात् भगवत्कथारूप नहीं है, इसलिए शुकदेवजी उसका वर्णन नहीं करूगे, इस शंकाको दूर करनेकेलिए सूतजी निम्न श्लोक 'स एवं' मू उसके वर्णन करनेका हेतु बताते हैं.

सूतः उवाच

स एवमृषिवर्योऽयं पृष्टो राज्ञा परीक्षिता ।

प्रत्याह तं सुबहुवित्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ।।५।।

श्लोकार्थः सूतजी कहने लगे कि, राजा परीक्षितने इस प्रकार प्रश्न किया, जिसका उत्तर बहुत जाननेवाले इस ऋषि श्रेष्ठने प्रसन्न अन्तःकरणसे दिया कि सुनिए।।५ ।।

व्याख्याः ऋषि वे होते हैं जिन्हूने मन्त्राूके दर्शन किये हैं, मन्त्र भगवान्के अंग हैं, भगवान्के अंगरूप मन्त्रोंमू जो उत्तम मन्त्र हैं जिससे परीक्षितका हृदय शीघ्र शुद्ध होगा, उसे शुकदेवजी जानते हैं इसलिये उसके(राजाके) उपकारार्थ शुकने श्रवण करानेकी प्रवृत्ति की, याू सूतजी जानते हैं, शुकदेवजीको केवल ऋषि न कहकर 'वर्य' विशेषण दिया जिससे यह बताया है कि श्रवण करानेसे उनके तपोबलकी हानि नहीं होगी, 'अयम्' पदसे यह सूचित किया है कि शुकदेवजीको भगवत्त्व फलकी प्राप्ति हो गई, अर्थात् शुकदेवजी ब्रह्मरूप(भगवद्रूप) हो गए हैं, इसलिये परोपकार करनेमू निरत रहते हैं, 'राज्ञा' प्रश्न करनेवाला राजा है अतः इसके प्रश्नाूका उत्तर देना उचित होनेसे आवश्यक है, परीक्षित नामसे यह सूचित किया है कि वह शुद्ध है क्याूकि उसका गर्भमू संस्कार हुआ है. अतः यह संवाद इसका

उपकार करनेवाला है इसलिये कहा कि शुकदेवजी बहुत जाननेवाले हैं, जिससे राजाको सर्व तत्त्वॄका ज्ञान करा सकॄगे, 'प्रीतात्मा' पदसे यह भाव प्रकट किया है कि शुकदेवजी अब गुणातीत होनेसे ब्रह्मरूप हो गये हैं, और इस भगवद्रूपसे उपस्थित हुए हैं इसलिये जो कुछ कहा जाय उसमॄ शङ्का नहीं करॄ इसलिये कहा है कि 'श्रूयताम्' सुनिये, अर्थात् पूछिये नहीं ।।५।।

आभासार्थ: विदुरने भगवान्केलिए ही परित्याग किया अथवा भगवान्ने विदुरको परित्यागकी प्रेरणा की जिससे विदुरने त्याग किया, यॄ निरूपण करनेके लिए श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि जो भगवान्के पक्षवाले हैं अर्थात् भक्त हैं, उनको भगवान्से जो विमुख हैं उनके साथ रहना उचित नहीं है, यॄ कहनेकेलिए चार श्लोकॄसे कौरवॄकी भगवद्विमुखता बताते हैं:

श्रीशुक: उवाच

यदा तु राजा स्वसुतानसाधून्पुष्णन्नधर्मेण विनष्टदृष्टि: ।
भ्रातुर्यविष्ठस्य सुतान्विबन्धून्प्रवेश्य लाक्षाभवने ददाह ।।६।।

श्लोकार्थ: श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि, जब अपने दुष्ट पुत्रॄको भी धृतराष्ट्र पालने लगा इस अधर्मसे जिसकी अन्तरकी दृष्टि भी नष्ट हो गई है जिससे छोटे भाईके बिना पिताके पुत्रॄको लाक्षाभवनमॄ प्रवेश कराके जलाया ।।६ ।।

विदुरस्य गृहत्यागे दशभिर्हेतुरुच्यते ।
चतुर्भिरपराधोक्तिरेकेन हि समागम: ।
त्रिभिर्मन्त्रोक्तिरपरे निषेधकनिवारणे ।।कारि.१।।

कारिकार्थ: विदुरके गृह त्यागमॄ हेतु(कारण) दश श्लोकॄसे कहा जाता है उनमॄसे चार श्लोकॄमॄ धृतराष्ट्रके अपराधॄको कहा है, एक श्लोकमॄ धृतराष्ट्रसे विदुरजीका मिलाप कहा है, तीन श्लोकॄमॄ विदुरजीने धृतराष्ट्रको उपदेश दिया है शेष दो श्लोकॄमॄ उसको(विदुरजीको) बोलनेसे रोकना और निकाल देनेका वर्णन है ।।१ ।।

व्याख्या: धृतराष्ट्रके १.धर्मशास्त्र विरुद्ध, २.लोकशास्त्र विरुद्ध ३.नीति विरुद्ध और ४.ईश्वरके वचनॄका उल्लङ्घन ये मुख्य चार अपराध हैं, यद्यपि(हालांकि) ये अपराध, स्वयं धृतराष्ट्रने नहीं किये हैं, तो भी अपराधी वही है, क्यॄकि नीति शास्त्र कहता है कि कोई भी मनुष्य बुरा कर्म करे यदि उसको

रोका नहीं जावे तो, न रोकनेवाला भी दोषी है. अतः ऐसे कुकृत्य करनेवालेको सहायता देनेसे राजा भी दोषी है, गृह त्याग निमित्तसे हुआ है, अतः निमित्तसे गृह परित्याग कहनेमॅू कोई दोष नहीं है, इन ४ अपराधॉूमॅूसे मुख्य अपराध, भगवान्की आज्ञाका उल्लङ्घन है, यह अपराध, जीव, स्वभावसे नहीं कर सकता है क्यॉूकि भगवदाज्ञाका उल्लङ्घन तब करता है जब उसको(जीवको) त्रिदोषका संन्निपात् हो जाए, कारण कि संन्निपात ही इस प्रकारका कर्म कराता है, संन्निपात न होवे तो कोई भी भगवदाज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता है. अतः वे दोष बताते हैं जिनमॅूसे पहले तामस दोष बताते है. 'राजा' पदसे कहते हैं कि इसमॅू दीर्घ दृष्टि नहीं है, और 'तु' पदसे यह सूचित किया है कि उसका(धृतराष्ट्रका) जो विदुरपर पहले प्रेम था वह अब नहीं रहा है. 'स्वसुतान्' पदसे यह भाव प्रकट किया है कि ये सुत अपनी धर्मपत्नीसे स्वयंने उत्पन्न किये हैं अतः ये औरस(सगे) पुत्र हैं इसलिये इनका त्याग नहीं कर सकता है. दुष्टॉूका पोषण करना दोष(अधर्म) है, उस अधर्मसे धृतराष्ट्रकी अन्दर(ज्ञान)की दृष्टि भी नष्ट हो गई है. इसलिये छोटे भ्राताके पुत्रॉूकी रक्षा आदि धर्म, जो धर्म सम्बन्ध कृत हैं, वह भी इसमॅू न रहा है पितादि सम्बन्धियॉूसे विहीनॉूकी रक्षा नहीं करनेसे इसमॅू दयाका अभाव प्रकट हो रहा है फिर वे भतीजे कैसे, जिनसे राज्यस्पर्द्धा आदिका लेशमात्र भी भय नहीं, अपने आधीन, पितृहीन अतः सर्वथा पालनके योग्य उनको लाक्षाभवनमॅू प्रवेश कराके जलाया, यह कृत्य विश्वासघातका है, इससे इसका सम्पूर्ण कार्य अधार्मिक होनेसे अपराध ही है, हालांकि पाण्डव(जलनेसे बच गये) मरे नहीं तो भी मारनेका दोष इसको लग ही गया है, यॉू भाव है ।।६।।

आभासार्थः 'यदा सभायां' श्लोकमॅू धृतराष्ट्रके राजस् दोषको कहते हैं:

यदा सभायां कुरुदेवदेव्याः केशावमर्शं सुतकर्म गर्ह्यम् ।
न वारयामास नृपः स्नुषायाः स्वास्त्रैर्हरन्त्याः कुचकुङ्कुमानि ।।७।।

श्लोकार्थः जब राजा धृतराष्ट्रने अपने आंसुओंसे कुचकुङ्कुमको धोती हुई पुत्रवधु कुरुदेवकी रानीके केशॉूको खॅूचनेके निन्द्य कर्म करनेसे अपने पुत्रको रोका नहीं ।।७ ।।

व्याख्याः भगवान् जिनकी पूरी तरहसे रक्षा कर रहे हैं, जिन्होंने राजसूय यज्ञ कर राजापनको भी प्राप्त कर लिया है, तो भी राज्यकी आकांक्षाका परित्याग कर जो मौन धारण कर रहे हैं, ऐसॉूका बलपूर्वक अपराध करनेसे सर्वनाश होता

है, राजा धृतराष्ट्र जानता था कि युधिष्ठिर अब कुरुदेव है अतः उसकी पत्नी राजपत्नी(रानी) हुई है. उसके केशाृके खींचनेसे सर्वनाश होगा फिर भी पुत्रको रोका नहीं. रानीके केशाृको खींचनेका निन्द्य कर्म सभामृ ही हो रहा था जिसको राजा होते हुए भी धृतराष्ट्रने रोका नहीं, जिससे परलोकके नाशकी भी सूचना हुई है, क्याृकि स्मृतिशास्त्रमृ कहा है कि ''**सभां वा न प्रवेष्टव्यं**'' जहां अधर्म होता हो ऐसी सभामृ प्रवेश ही न करना चाहिये, जो प्रविष्ट हो तो जो अधर्मको रोके नहीं तो पापी होता है, यह तो साधारण व्यक्तिकेलिये है किन्तु धृतराष्ट्र राजगद्दीपर बैठकर अधर्मको न रोके तो उसका परलोक तो अवश्य नष्ट ही होगा. 'अवमर्श' पदका तात्पर्य है खींचना. 'सुत' पदसे यह सूचित किया है कि, पैदा करनेवाले (पिता)को उत्पादित(सुत)का पालन आवश्यक है, 'पुत्र' पद न देकर 'सुत' पद क्याृ दिया, जिसका भावार्थ बताते हैं कि पुत्र उसको कहा जाता है जो पिताका परलोक सुधारे अर्थात् ऐसे सत्कर्मादि करे जिनसे पिता नरकादिमृ न जाकर परम पदको प्राप्त हो ऐसी योग्यता दुर्योधनमृ न होनेसे उसको 'सुत' कहा है, 'सुतका कर्म' इस 'कर्म' पदसे यह बताया है, कि यह निन्द्य कर्म, खराब प्रारब्ध बतानेवाला है, 'गर्ह्यम्' पदसे यह सूचित किया है कि यह कुकर्म लोकमृ भी निन्दा जनक है, ''**ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः. स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात् पयो यथा**'' ब्राह्मण समदृष्टिवाला और शान्तचित्त हो किन्तु यदि वह दीनाृपर दया न करे एवं उनकी उपेक्षा करे तो उस ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व ऐसे बह जाता है जैसे टूटे हुए घड़ेसे पानी निकल जाता है. अतः सम्बन्ध रहित ब्राह्मणाृको इस निन्द्य कर्मको रोकना उचित था अर्थात् धृतराष्ट्रको इस कर्मको ब्राह्मणाृ द्वारा रुकवाना चाहिये था, याृ भी नहीं किया, इससे यह सूचित किया कि उसका क्षत्रियत्व नष्ट हो गया. 'नृप' पदसे जताया है कि इसमृ याृ करनेकी सामर्थ्य थी. 'स्नुषायाः' पदसे यह सूचित किया है कि यह कर्म लोकसे भी बिल्कुल विरुद्ध है, आसुआृसे स्तनाृके कुंकुमको धोती हुई इस पदसे दो भाव प्रकट किये है १.आंसुआृको देख दया आनी चाहिये, आंसू बहना दयाका हेतु है, २.अमङ्गल का चिन्ह है,' स्म' पद कहकर यह सूचना दी है कि आंसुआृमृ दया उत्पन्न करनेकी अलौकिक सामर्थ्य है, तो भी इसको(धृतराष्ट्रको) दया न आई, 'कुच–कुङ्कुम' पदसे यह बताया कि उस समय रानीकी छाती वस्त्र रहित थी फिर आंसुआृसे कुङ्कुम् बह जानेसे तो छाती स्पष्ट नग्न दीखनेमृ आने लगी, जिससे

रानी अति लज्जावाली हो गई थी, धृतराष्ट्रका पुत्रमृ ही प्रेम था जिससे दूसरेके दुःखको न देख यृ करने दिया, इस तरह प्रत्यक्षमृ भी राजाकी अतिक्रूरता निरूपण की है ।।७।।

आभासार्थः 'द्यूते त्वधर्मेण' श्लोकमृ धृतराष्ट्रका सात्त्विक दोष बताते हैं:

द्यूते त्वधर्मेण जितस्य साधोः सत्यावलम्बस्य वनागतस्य ।
न याचतोऽदात्समयेन दायं तमो जुषाणो यदजातशत्रोः ।। ८ ।।

श्लोकार्थः द्यूतमृ(जुआ खेलनेमृ) अधर्मसे, साधु, सत्यनिष्ठ अजात-शत्रुको जीतकर वन भेजा गया, वह जब वनसे लौटकर अपना राज्य दिए हुए वचनके अनुसार मांगने लगा, तब सुतके मोहके अधीन हो राज्य नहीं लोटाया ।।८ ।।

व्याख्याः 'तु' शब्दसे यह बताया है कि अब, राज्य लौटाकर न देनेका अपराध किया, उससे आगेके अपराध मानो किये ही नहीं थे, अर्थात् इस अपराधकी महत्तामृ वे कुछ नहीं हैं, इनका राज्य लेना केवल अधर्मसे ही था, किन्तु वह भी सहन कर वनवासके महद्दुःखको भोगकर जब लौट आये तब अपना भाग जो शास्त्र और लोकके अनुसार योग्य था और जैसा वचन उस समय दिया था तदनुसार मांगने लगे, 'याचमानाय'के स्थान पर 'याचतः' पद दिया है, यह वैदिक प्रयोग समझना चाहिये, क्यृ न दिया? जिसका कारण बताते हैं कि 'तमो जुषाणः' मोहाधीन हो गया था, क्यों मोहाधीन हुआ जिसके उत्तरमृं कहते हैं, कि अपने किये हुए करारके उल्लङ्घन करनेसे धृतराष्ट्रको मोह हुआ, युधिष्ठिरको अजातशत्रु कहकर यह सूचना दी कि युधिष्ठिरके संबंधमृ विपरीत शङ्काका सर्वथा अभाव ही है ।।८।।

आभासार्थः इस त्रिदोष ग्रस्त धृतराष्ट्रने भगवान्के वचनको माना नहीं. जिसका वर्णन 'यदा च पार्थप्रहितः' श्लोकमृ करते हैं:

यदा च पार्थप्रहितः सभायां जगद्गुरुर्यानि जगाद कृष्णः ।
न तानि पुंसाममृतायनानि राजोरु मेने क्षतपुण्यलेशः ।।९।।

श्लोकार्थः जब युधिष्ठिर भेजे हुए जगद्गुरु श्रीकृष्णके सभामृ कहे हुए वे वचन जिनको प्रत्येक अमृतमय जानता है, उन वचनृाको धृतराष्ट्रने माना नहीं क्यृाकि उसके सब पुण्य नष्ट हो गए थे ।।९ ।।

व्याख्याः पृथाके सम्बन्धसे युधिष्ठिरने श्रीकृष्णको धृतराष्ट्रके पास भेजा यह कार्य अत्यन्त अनुचित तो नहीं है, उसने(धृतराष्ट्रने) स्वयं तो समयपर दिये हुए वचनके अनुसार राज्य नहीं लौटाया, तब युधिष्ठिरने भलेकेलिये उस(धृतराष्ट्रको) समझानेकेलिये भेजा, उस भगवान् कृष्णने जो कुछ कहा उस राजा धृतराष्ट्रने अच्छा नहीं समझा अर्थात् माना नहीं. 'सभायां' पद देकर यह बताया है कि भगवान्ने जो वचन कहे वे लोक प्रतीतिसे भी उचित थे अर्थात् सभासद्ने भी उन वचनृको हितकारी समझा, 'जगद्गुरु'पद देनेका आशय है कि आप जगत्के अन्धकारके नाशकर्ता होनेसे सबको हितकारी उपदेश ही देते हैं, परमार्थसे भी आप कभी भी अहित नहीं करते हैं. 'यानि जगाद' जो वचन कहे वे सब सन्धिके अनुरूप ही थे, उसके(सन्धिके) विरुद्ध नहीं थे, ऐसे वचन अपना जगद्गुरुत्व सिद्ध करनेकेलिये ही कहे हैं, आप युधिष्ठिरके भेजे हुए हैं इसलिये अन्यथा वचन(धृतराष्ट्रके अहितमृ) भी न कहे इसको अपने कहे हुए वचनृसे सिद्ध किया है, ये वचन सबके दुःखृको मिटानेवाले हैं यृ सिद्ध करनेकेलिये 'अमृतायनानि' विशेषण दिया है जिसका अर्थ है अमृतके स्थान हैं अर्थात् उन वचनृमृ अमृत भरा पड़ा है, जैसे क्षीर सागरके मन्थनसे अमृत निकला है वैसे आपने शास्त्ररूपी क्षीरसागरका मन्थन कर ये अमृत वाक्य निकालकर बांटे हैं, राजा होनेसे अज्ञानसे पुष्ट था, जिससे पहले जो, जीनेका पुण्य, राज्य भोगका पुण्य, और पुत्र जीते रहें वे पुण्य थे किन्तु पहले किये तीन दोषृसे उनके पुण्य प्रायः नष्ट हो गये, राजा धृतराष्ट्र यदि भगवान्के वचनृका आदर करता तो उसका किसी प्रकार अपकार(हानि) न होता था, यद्यपि जीते हैं किन्तु वह जीना मरनेके समान है कारण पुण्यांश नष्ट हो गया है. अतः अब केवल पापांशसे जीते हैं ।।९।।

आभासार्थः धृतराष्ट्रने जबसे पुत्र स्नेहके कारण भगवान्के वाक्यृका उल्लङ्घन किया तबसे विदुरजीने स्वतः उसके घर जाना छोड दिया था जब राजाने बुलाया तब गए . जिसका वर्णन निम्न श्लोकमृ करते हैं:

यदोपहूतो भवनं प्रविष्टो मन्त्राय पृष्टः किल पूर्वजेन ।
अथाह तं मन्त्रजुषां वरीयान् यन्मन्त्रिणो वैदुरिकं वदन्ति ।।१०।।

श्लोकार्थः जब बडे भाईने बुलाया तब विदुर उसके घर गये, वहां उससे(विदुरसे) सलाह ली गई, मन्त्रको जाननेवालृमृ श्रेष्ठ, जिसको मन्त्रीगण 'वैदुरिक' कहता है, उस विदुरने बडे भाईको सलाह दी ।।१० ।।

व्याख्याः विदुरजीके आ जानेके अनन्तर धृतराष्ट्रने विदुरजीसे सलाह पूछी, शुकदेवजीको मन्त्रणाका अनुसन्धान रहे तो वे, व्यर्थ गूढ़ अर्थका चिन्तन कर्त्ता होनेसे, याॅ जाननेमॅ आ जाये कि ये आत्माको नहीं जानते हैं, इस प्रकारकी शंकाके निराकरणार्थ 'किल' पद दिया है.

मन्त्र(सलाह) पूछनेवाले बड़े भाई हैं अतः सलाह देनी आवश्यक है, याॅ विदुरने समझा, अतः भिन्न प्रकारसे कहने लगे कि 'अथाह'. 'अथ' पदका भावार्थ है कि विदुरजीने मन्त्र देनेके वक्त सम्बन्ध आदिकी परवाह नहीं की, किसी प्रकारका भय भी मनमॅ न लाए, निडर हो स्वतन्त्रता पूर्वक कहने लगे. उस मन्त्रकी प्रसिद्धिको 'तं' पदसे कही है, ऐसा कहनेमॅ हेतु कहते हैं 'मन्त्रजुषां(दृशां) वरीयान्' विदुरजी मन्त्र कहनेवालाॅमॅ(राजनीति जाननेवालाॅमॅ) उत्तम हैं, जैसे वेदमॅ ''स एतं मन्त्रम् अपश्यत्'' उसने इस मन्त्रको देखा, अतः बृहस्पति आदि मन्त्रद्रष्टा हैं, वैसे ही नीतिशास्त्रमॅ भी जो मन्त्रद्रष्टा हैं उनमॅ ये(विदुर) उत्तम हैं, और विशेष इस मन्त्रकी सर्व लोकमॅ प्रसिद्धि है, इसलिये कहा है, 'यन् मन्त्रिणः' जिसको मन्त्री 'वैदुरिक' अर्थात् विदुरका कहा हुआ मन्त्र वैदुरिक है, इससे विदुरजीका मन्त्र कहनेमॅ अधिकार सिद्ध है जिससे इसकी सर्वत्र जगत्मॅ प्रसिद्धि है।।१०।।

आभासार्थः इस 'अजातशत्रोः' श्लोकसे 'मन्त्र'(सलाह) कहते हैं:

अजातशत्रोः प्रतियच्छ दायं तितिक्षतो दुर्विषहं तवाऽऽगः ।
सहानुजो यत्र वृकोदराहिः श्वसन्रुषा यत्त्वमलं बिभेषि ।।११।।

श्लोकार्थः तेरे असह्य अपराधको सहन करनेवाले अजातशत्रुको उसका भाग(राज्य) दे दे, उसके पास उसके छोटे भ्राताआॅमॅ क्रोधसे सर्पकी तरह फुत्कार करनेवाला वृकोदर सर्प है जिससे तुम बहुत डरते हो ।।११ ।।

व्याख्याः नीतिशास्त्रमॅ जो शत्रुको वश करनेके चार(साम, दान, भेद और दंड) उपाय कहे हैं उनमॅसे दान(राज्य देना) ही मेरा मन्त्र(सलाह) है, राज्य भाग देनेसे आपकी हीनता न होगी, युधिष्ठिर अजातशत्रु है उसका अजातशत्रुपन नाम मात्र नहीं है, किन्तु कार्यसे भी उसने अपना अजातशत्रुपन सिद्ध कर दिखाया है, जैसे कि तुमने जो उसको दुःख दिये वे असह्य थे इसके स्थानपर दूसरा कोई होता तो सहन नहीं करता किन्तु इसने शान्तिपूर्वक सहन कियॅ हैं, यदि कहो कि, याॅ है तो राज्य भाग न दिया जावे तो वह भी सहन कर लेगा, फिर मैं पुत्रको नाराज कर इसको राज्य क्याॅ दूं? जिसपर कहते हैं कि 'सहानुजः' यह अकेला नहीं है, इसके

साथ अन्य भ्राता भी हैं, और वे इसके समान शान्त नहीं हैं, उनमॄ क्रूरता है, अर्जुनादि भी क्रूर हैं किन्तु उनमॄसे क्रोधसे सर्पसम फुत्कार करनेवाला वृकोदर (भीमसेन) नामवाला भाई तो सर्प है, सर्प अपने वैरका बदला लिये बिना शान्त नहीं होता है, इसके कारण उनके सन्तोषार्थ भाग देना चाहिये, यदि कहो कि वे चार हैं, मेरे वैसे बली सौ बेटे हैं उनको ये चार क्या कर सकॄगे? चारकी बात तो छोड़ दीजिये तुम तो एक भीमसे ही डर रहे हो क्यॄकि आकाशवाणी श्रवणसे आपको मालुम है कि एक भीम ही सबको मारेगा, इसलिये सौकी संख्या किसी अर्थ(मतलब)की नहीं है, यॄ कहनेसे यह भी बता दिया कि कौरव पाण्डवॄको मार नहीं सकॄगे, अतः भेद और दण्ड भी व्यर्थ हैं उनका भाग है अतः साम भी न होगा ।।११।।

आभासार्थः वे चार ही हैं, उनकी सहायता करनेवाला कोई राजादि नहीं है, इस शंकापर कहते हैं कि ये पाण्डव, एककी सहायतासे ही तीन लोकको जीतनेकी सामर्थ्यवाले हैं, इस एकका 'पार्थांस्तु' श्लोकमॄ स्पष्टीकरण करते हैं:

पार्थांस्तु देवो भगवान् मुकुन्दो गृहीतवान् स क्षितिदेवदेवः ।
आस्ते स्वपुर्यां यदुदेवदेवो विनिर्जिताशेषनृदेवदेवः।।१२।।

श्लोकार्थः पाण्डवॄको तो, भगवान् मुकुन्ददेवने अपना कर लिया, वे भगवान् भू-देवॄ(ब्राह्मणॄ)के देव हैं, यादवॄके देव हैं और सब राजाओॄके भी देव हैं क्योकिं उन सबको जीत लिया है, वैसे प्रभु अपने भक्तॄकी पुरीमॄ ही रहते हैं।।१२।।

व्याख्याः पांडवॄको अपनी सहायताकेलिये प्रार्थना करनेकी भी आवश्यकता नहीं है, कारण कि इनको भगवान्ने स्वतः अपना लिया है, 'पार्थान्' पदसे एक सम्बन्ध बताया है जिससे और बहुवचनसे यह सूचित किया है कि इनकी रक्षा आदि कार्यकेलिये स्वयं भगवान् उद्यमशील हैं, कारण कि बहुतॄको अपना लेनेके बाद कोई चुपचाप नहीं बैठता है, आप देव हैं अतः इनको मनुष्यादि कोई भी जीत नहीं सकता है, इस कारणसे यॄ भी समझा जाता है कि दुर्योधन दैत्य है उसको मारेगॄ ही, 'भगवान्' पदसे यह बताया है कि देव अथवा दैत्य कोई भी इनको जीतनेमॄ समर्थ नहीं है, इससे('भगवान्' पदसे) यह भी बताया है कि यदि पाण्डवॄका प्रारब्ध जीतनेके विपरीत हो अर्थात् हार जानेका हो तो उसको भी पलट सकते हैं, 'मुकुन्द' नामसे बताया है कि कालपर विजय करना इनकेलिये

कोई बड़ी बात नहीं है, क्यूकि जो दूसरूके भी दुःख दूर कर, उनको मोक्ष दे देते हैं, उनकेलिये कालपर विजय क्या वस्तु है? कुछ नहीं, इससे धृतराष्ट्रको सूचित किया कि पाण्डवूको राज्य देना आवश्यक है. वे भगवान्, साधारण अनित्य नहीं हैं किन्तु जिसमू नित्य भगवत्त्व रहता है वे हैं अतः कहा है 'क्षितिदेवदेवः' पृथ्वीके देव अर्थात् ब्राह्मण, उनके भी देव हैं क्यूकि उनका हित करनेवाले हैं, अतः जिस पक्षमू भगवान् हैं उसमू ही ब्राह्मण रहूगे अतः तुमको ब्राह्मण भी सहायता नहीं करूगे, वे भगवान् यादवूके देव अपनी पुरीमू(भक्तूके पास) ही रहते हैं, अतः उनके ध्यान व स्मरण आदिकी भी पांडवूको आवश्यकता नहीं है, यह आवश्यकता अन्यूकेलिये है, अन्य, जब भगवान्का ध्यान् करू एवं स्मरण करू तब उनका सर्व अनिष्ट दूर कर उनको राज्यादि देते हैं, किन्तु पुरीमू तो भक्तूका स्वतः स्वयं हित करनेकेलिये रहे हैं, यदुके वंशमू उत्पन्न देव यादव हैं उनके भी आप देव हैं इसलिये जिस पक्षमू भगवान् हैं उस पक्षमू यादव भी जायूगे, इससे तुमको बन्धन भी सहायता नहीं करूगे, एवं अन्य राजा लोग भी सहायता नहीं करूगे, क्यूकि सब राजाओूको कृष्णने जीत लिया है, अतः जरासन्ध आदिको जीतनेसे सब राजा उनके(भगवान्के) आधीन हो गए हैं, इस कारणसे तुम राजा लोगूके सहायताकी आशा भी न करो. बड़े- बड़े जरासन्ध आदि जिसने जीत लिये हैं ऐसे बलवान्का पक्ष त्यागकर निर्बलकी जय करानेमू कौन प्रयास करेगा? अथवा जिस प्रभुने जरासन्धादि महान् शूरवीरूको जीत लिया है उनको तुझे जीतनेमू कौन सा प्रयास करना पडेगा ।।१२।।

आभासार्थः यदि कहो हम क्या करू? दुर्योधन नहीं मानता है, इसपर 'स एष' ये दो श्लोक कहते हैं:

स एष दोषः पुरुषद्विडास्ते गृहान् प्रविष्टो यमपत्यमत्या ।
पुष्णासि कृष्णाद् विमुखो गतश्रीः त्यजाशु चैनं कुलकौशलाय।।१३।।
इत्यूचिवान् तत्र सुयोधनेन प्रवृद्धकोपस्फुरिताधरेण ।
असत्कृतः सत्स्पृहणीयशीलः क्षत्ता सकर्णानुजसौबलेन।।१४।।

श्लोकार्थः तुम्हारे घरूमू प्रविष्ट पुरुषका द्वेषी जो दोष है वह यह है कि तुम श्रीकृष्णसे विमुख हुए हो, जिससे तुम्हारी 'श्री' भी जानेवाली ही है, ऐसे तुम उसको अपत्य(आपत्तिमू रक्षा) समझ पोष(पालनकर) रहे हो, ऐसे दोषरूपको तो कुलके कल्याणकेलिए त्याग दे ।।१३ ।।

जब विदुरजीने याॄ कहा तब जिसके शीलकी सब सत्पुरुष इच्छा करते हैं ऐसे क्षत्ता(विदुरजी)का सुयोधनने जिसके होठ क्रोधके कारण कांप रहे हैं विदुरजीका कर्ण, दुःशासन और शकुनिसे मिलकर अपमान किया ।।१४।।

व्याख्याः वह प्रसिद्ध त्रिदोष यह(दुर्योधन) ही है, दुर्योधन दोषरूप है, याॄ कहकर यह सूचना दी है कि, इसके अंगीकार न करनेमॄ किसी प्रकार कोई बाधक नहीं है, अर्थात् यदि इस दोषरूप दुर्योधनको निकाल दिया जाए तो किसी तरहका दुःख नहीं होगा, कारण कि दोषको सर्व प्रकारके उपायॄसे निकालना चाहिये, न कि दोषके सन्मानकेलिये औषध(उपाय) ही छोड़ दिया जावे, वह दोषरूप है, इसमॄ हेतु बताते हैं कि, 'पुरुषद्विट्' पुरुषका द्वेषी है, जो दोषरूप न होवे तो, उसके आधीन होते हुए उसके ही शरीरमॄ रहकर उसमॄ द्वेष कैसे करे? लोकमॄ भी जिसके राज्यमॄ वा जिसके गांव आदिमॄ जो रहनेवाला है वह उससे द्वेष नहीं करता है, तो उसके शरीरमॄ रहनेवाला रोगके सिवाय कौन है? जो उससे द्वेष करे? कोई नहीं, अतः पुरुषसे द्वेष करनेसे समझा जाता है कि यह दोषरूप है, उसका त्याग ही निदान है, 'अस्ति' पदसे यह सूचना की है कि इसका प्रतीकार(उपाय) शीघ्र करना चाहिये, क्याॄकि घरमॄ प्रच्छिन्न शत्रुकी तरह घुसा हुआ है. अब तो अपना कार्य पूर्णतः पूरा किये बिना चुप होकर बैठा है, यदि इसकी उपेक्षा लापरवाही की जाएगी तो समग्र(सारे) कुलका नाश कर देगा, यदि कहो कि वह है कहां? जिसके उत्तरमॄ कहते हैं कि तुम्हारे घरोंमॄ सर्वत्र वह घुसा हुआ है, ममताके कारण तुम उसे रोक नहीं सकते हो. 'अयं' पदसे कहते हैं कि यह तुम्हारे सामने ही खड़ा है तो भी चक्षुआॄके न होनेसे देख नहीं सकोगे, अतः दूसरे प्रकारसे दिखाते हैं, जिसे आप अपना अपत्य(जो आपदाआॄसे बचावे) समझ रहे हो उसे ऐसा समझकर पाल रहे हो, इस कारण ही तुम कृष्णसे विमुख हो रहे हो, जिससे तुम्हारी 'श्री' भी जानेवाली है. अतः यह ही सर्व अनर्थोंकी जड़ है. ''**त्यजेद् एकं कुलस्यार्थे**'' कुलके कल्याणकेलिये एकका त्याग करना चाहिये, इसलिये इसका त्याग कर. 'च' पदसे यह भी बता दिया कि श्रीकृष्णकी विमुखताको भी छोड़ दे, जब विदुरने याॄ चिल्लाकर आज्ञारूपसे कहा ''तदा असत्कृतः इति ऊचिवान् इति सम्बन्धः'' तब दुर्योधन उनका अपमान कर कहने लगा, याॄ वाक्यका अन्वय है अथवा 'इत्यूचिवान् वा मित्रम्' विदुरने इस प्रकार कहा यह वाक्य भिन्न है. उस स्थानपर अथवा भाईके पास आये हुए विदुरजीका

सुयोधनने अपमान किया, दुर्योधनके बदलेमॄ 'सुयोधन' पद देकर उसका ओछापन दिखाया है, चाचाका अपमान कैसे किया? इस शंकाका उत्तर देते हैं कि 'अन्तः क्रोधेन'. चाचाके वचन सुनकर, और बाहर दुष्टॄके संगसे भीतरका क्रोध बाहर निकल आया जिससे उसके ओष्ठ(होठ) कांपने लगे, इस कम्पनसे लोभाधर प्रकट हो गया अर्थात् लोभ बढ़ गया, जिससे चाचा(काका)के बताये हुए दानरूप उपायसे सम्मत नहीं हुआ, अतएव यहां तृतीया विभक्तिके ही दो(१.प्रवृद्धकोपस्फुरिताधरेण २.सकर्णानुजसौबलेन सुयोधनेन) विशेषण दिये हैं. अपमान किया यॄ कहनेका आशय है उसको धिक्कारा, वह आगे कहा जाएगा. इस प्रकार अप्रिय कहना भी धर्म और नीतिके विरुद्ध है, जैसे कि स्मृतिमॄ कहा है "**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्**" सत्य कहना परन्तु वह प्रिय होना चाहिये, श्रोताको जिससे दुःख न हो, जो वचन आगे दुर्योधन कहनेवाला है वह नीति विरुद्ध है और उसमॄ प्रधान(धर्म)का(धर्ममार्ग बतानेवाले मन्त्रीका त्याग.) त्याग है, वह भी नीति और धर्म सम्मत नहीं है. यदि उसका कहना अपनेको मान्य न होवे तो भी उसको सम्मानपूर्वक समझना चाहिये, यॄ नीति होते हुए भी दुर्योधनने यॄ न कर उसका तिरस्कार किया जिसका आशय यह है कि दुर्योधनने विदुरको अपने घरसे निकालना ही था.

विदुरका भगवद्विमुखॄके साथ रहना अनुचित होनेसे ही दुर्योधनके मुखसे ऐसे तिरस्कारके वचन भगवान्ने ही निकलवाये हैं, एवं दुर्योधनकी यह भी इच्छा थी कि धृतराष्ट्र आदिसे इसका स्नेह भी नहीं होना चाहिये, क्यॄकि पिता इसके कहनेसे राज्य लौटाकर न दे देवॄ यॄ होते हुऐ भी चित्त अतिदुष्ट वा चंचल होनेसे दुर्योधन विदुरका सर्वथा परित्याग भी न चाहता था, क्यॄकि उसके मनमॄ यह भी भीति(भय) थी कि विदुरजी विपक्षको सहायता न दे दॄ, इतना होते हुए भी भगवदिच्छासे ऐसे तिरस्कारके वचन उसके मुखसे निकलने ही लगे. विदुरजीके वचन और व्यवहारको तो सत्पुरुष ही चाहते हैं, असत् पुरुषॄके साथ रहनेका अवसर हो जाय तब उनका त्याग करनेकेलिये इस प्रकार ही करना चाहिये, यह ही सत्पुरुषॄकी इच्छा होती है. 'क्षत्ता' पदसे यह बताया है कि वह विश्वास पात्र है. कर्ण, दुःशासन, शकुनि और दुर्योधन ये चार दुष्ट हैं, इनमॄ मुख्य दुष्ट दुर्योधन है शेष तीन उसके सहायक हैं. इसलिये 'तैः सहितः' पद दिया है, अर्थात् उन तीनॄके साथ यह भी मिला हुआ है. जब विदुरका बताया हुआ मन्त्र(सलाह) अपना

हितकर था तो फिर अङ्गीकार क्यॄ न किया? इसपर कहते हैं कि विदुरकी सलाह सत्पुरुष ही मानते हैं, यह सारा परिवार असत् होनेसे मन्त्र हितकर होते हुए भी मानते नहीं।।१३-१४।।

क एनम् अत्रोपजुहाव जिह्म दास्याः सुतं यद् बलिनैव पुष्टः ।
तस्मिन् प्रतीपः परकृत्य आस्ते निर्वास्यताम् आशु पुराच्छ्वसानः।।१५।।

श्लोकार्थः इस कुटिल दासीके पुत्रको किसने बुलाया है? जिस अन्नको खाकर पुष्ट हुआ है, उसके ही विरुद्ध बोल रहा है, शत्रुओॄका कार्य सिद्धकर रहा है, अतः इसको अब ही जीते हुए नगरसे बाहर निकाल दो ।।१५ ।।

व्याख्याः लोकमतानुसार विदुरजीका अपमान करता है, पिताजीने बुलाया है, यॄ जानकर भी, कहता है कि पिताजीने यह कार्य उचित नहीं किया है, क्यॄकि जो पुरुष, स्वभाव, जाति और क्रिया तीन दोषॄवाला हो वह मन्त्र (सलाह) देने योग्य नहीं है अतः ऐसे अयोग्यको बुलानेसे पिताने भी एक अयोग्य कार्य किया है, इस उक्तिसे दुर्योधनने पिताका भी अपमान किया है.

यह विदुर तो तीनॄ दोषॄवाला है, इसलिये उसके तीन विशेषण दिये हैं, दो तो स्पष्ट सिद्ध ही हैं. तीसरी उसकी कृतिसे सिद्ध हो रहा है, प्रथम विशेषण 'जिह्म'से बताया है कि, वह कुटिल और छिद्रान्वेषी है, जिह्म उसे कहते हैं जो जिस किसीके पास भी रहता है तो पाखण्डसे रहता है अर्थात् ऊपरसे मधुर-मधुर शब्द बोल उसको प्रसन्न करता है इस प्रकार विश्वास जमा लेता है फिर जब अवसर आता है तब उसकी बुराई करता है वह जिह्मता आज विदुरमॄ स्पष्ट देखनेमॄ आ रही है, जिसका जैसा अधिकार है उसको भगवान् सर्वत्र वैसे ही स्फुरित हैं, इससे दुर्योधन १.सत् असत् और उदासीनता आदि गुणॄकी अपेक्षा आवश्यक है यॄ बताता है. २.दोष 'दास्याः सुतं' दासीके पुत्र होनेसे जाति दोष दिखाया है, ३.दोष, क्रिया दोष दिखानेकेलिये उसकी कृतघ्नता सिद्ध करता है कि ''यद् बलिनैव पुष्टः तस्मिन् प्रतीपः'', जिसके अन्नादिसे पुष्ट हुआ उसके ही विरोधमॄ बोल रहा है, जैसे आश्रित होनेसे चाण्डालादिको बलि(भोजन) दी जाती है वैसे ही इसको भी दी जाती है, अतः यह चाण्डाल समान पतित ही है, कारण कि, ब्रह्मबीज द्वारा शूद्रासे उत्पन्न हुआ है, इसलिये 'एव' पद देकर इसके पतितपनकी निश्चितता बताई है. बलिसे पुष्ट अथवा चांडाल भी वैसे ही होते हैं ऐसे होनेमॄ कारण, उसका पोषण कर्ता ही है, ऐसे(व्यक्ति) तो शत्रुओॄका कार्य

सिद्ध करनेकेलिये ही छद्म(कपट) वेशसे यहां रह अपना पोषण करते हैं, यह इसमृ क्रिया दोष है, इसका दण्ड यह है कि निकाल दो, देरी मत करो, अब ही निकाल दो, देरी करनेसे इसका मन्त्र धृतराष्ट्रके चित्तमृ स्थिर न हो जावे, अतः शीघ्र ही निकाल दो, जैसा दण्ड विदुरने दुर्योधनकेलिये धृतराष्ट्रको बताया था वैसे ही दण्डकी दुर्योधनने विदुरकेलिये आज्ञा दी है, असत् पुरुषृकी दृष्टिमें वध(मार) कर देनेसे भी यह दण्ड विशेष है, 'श्वसानः'के स्थानपर यदि 'श्मशानः' पाठ लिया जावे तो उसका भावार्थ है कि यह जहां होगा वहां अकुशल ही होगा अतः जल्दी अब ही निकाल दो तो हम अपने अमङ्लसे बच जावैं, अथवा 'श्मशान' पद देनेका यह भाव है कि यह यम है अतः मुर्दोंपर ही इसका निर्वाह(गुजारा) है, इसलिये इसको तुरन्त नगरसे बाहर निकाल दो, इतना ही वचन कहा है, इसी तरह दश श्लोकृसे विदुरकी पहली स्थितिके त्यागका हेतु बताया, इससे यह भी सूचित किया है कि, पहलेके देह सम्बन्धी जो कौरव थे उनका भी त्याग किया।।१५।।

आभासार्थ: परित्यागका वर्णन इस 'स इत्थम्' श्लोकमृ करते हैं :

स इत्थम् अत्युल्बणकर्णबाणैः भ्रातुः पुरो मर्मसु ताडितोऽपि ।
स्वयं धनुर्द्वारि निधाय मायां गतव्यथोऽयादुरु मानयानः ।।१६।।

श्लोकार्थ: इसी तरह भ्राताके सामने(रूबरू) तीव्र(तेज) कानके द्वारा भीतर जानेवाले बहुत कठोर शब्द रूपी बाणृसे उसके(विदुरके) मर्म स्थानृपर प्रहार किया, तो भी धनुषको द्वारके आगे धर, माया(भगवदिच्छा)का बहुत आदर करते हुए दुःख रहित हो स्वयं भाईके नगरसे बाहर चला गया ।।१६ ।।

व्याख्याः ये शब्द बाण, बहुत तीव्र(तेज) थे, कारण कि अपना कार्य शीघ्र सिद्ध कर लेते थे. ये दश, शब्दरूप बाण कानके द्वारा हृदयमृ घुसे, और जाकर उन्हृने(विदुरजीके) दश प्राणृके स्थान, जो मर्म स्थान हैं उनपर प्रवाह(हमला) किया. ये बाण प्राणहारक थे, क्यृकि भ्राताके 'पुर' के समक्ष पदसे यह सूचित किया है कि मानो मृत्युके निकट आ गए हैं. प्रवाह होते हुए भी(विदुरजी) दुःख रहित थे कारणकि मायाको(भगवदिच्छा)को बहुत मान देते थे अर्थात् जो कुछ होता था उसको सिद्धान्तरूपसे भगवदिच्छा ही मानते थे और उसमृ ही कल्याण समाया हुआ है, इससे उनको कभी भी दुःख नही होता था. धनुषको द्वारके समीप धर दिया, जिससे दुर्योधनादिकी यह शङ्का कि शत्रु

पक्षमॄ जाकर मिलेगा, वह भी मिटा दी, दुर्योधन वा उसके साथी, जब तक (विदुरजीको) निकालें, उससे पूर्व ही स्वयं निकल गऐ, क्यॄकि सत्य त्याग वह है जो स्वयं किया जाता है अन्यथा जो बल करने(जबर्दस्ती)से कार्य किये जाते हैं वे न करनेके समान हैं, यों मनुजीने कहा है, स्वयं त्याग न करे तो इस शास्त्रका त्याग करनेमॄ विरोध आवे ।।१६।।

आभासार्थ: इस प्रकार अपमानसे, खेद प्राप्त विदुरजीने तीर्थोंपर जाकर पवित्र पृथ्वी तथा जलसे संस्कृत(शुद्ध)होके अधिकारी देहकी प्राप्तिकी, जिससे इनको दो सम्पत्ति प्राप्त हो गई, शेष तीसरी सम्पत्ति 'तेज' रही सो उसकी प्राप्तिका निरूपण करते हुए कहते हैं कि जिस(कार्य)से तेजकी प्राप्ति हो वह सत्संग भी मिल गया. यह 'स निर्गतो' श्लोकसे आठ श्लोकॄमॄ कहते हैं:

चतुर्भिर्भूमिसंस्कारस्तथाऽन्यैश्च जलस्य च ।
उत्तरोत्तर शेषत्वात्तच्छेशोऽप्युच्यते स्फुटः ।।कारि.१।।
पुण्य देशार्थ गमनं पुण्यदेशे तथैव च ।
तदङ्गानि फलं चेति चतुर्धा भूमिसत्क्रिया।।कारि.२।।
जले सामान्य सम्बन्धो विशेषश्चापि तद्गतः।
साधनं च फलं चेति जलोक्तिश्च चतुर्विधा ।।कारि.३।।

कारिकार्थ: चार श्लोकॄसे भूमि द्वारा हुए संस्कार कहे हैं और इतने ही अन्य चार श्लोकॄसे जल द्वारा हुए संस्कार कहे हैं, उत्तरोत्तर शेष होनेसे उसका शेष भी स्पष्ट कहा हुआ* है ।।१ ।।

पुण्य(पवित्र) देशॄके लिए गमन करना, और वैसे ही पुण्य देशॄमॄ घूमना, उसके अंग(पवित्र रहना और एकान्तवास आदि) और फल(स्वशरीरके संस्कारार्थ प्रयत्न करना, भूमि देव सम्बन्धवाली हो ऐसा फल) इसी तरह चार प्रकारसे भूमिसे होनेवाला संस्कार कहा है ।।२ ।।

जलमॄ सामान्य सम्बन्ध सरस्वतीका है, और विशेष प्रकारका सम्बन्ध भी सरस्वतीका ही है और 'साधन' साधारण तीर्थोंका सेवन है. और 'फल' भगवदीयॄका संग है. यॄ जलका सम्बन्ध चार प्रकारसे कहा है ।।३ ।।

*.पृथ्वी, जल और तेज इनमॄ पहला(पृथ्वी) दूसरे(जल)पर आधारित है अतः पृथ्वीका आधार अर्थात् संस्कार करनेवाला जल है, जलका आधार यानि संस्कार करनेवाला तेज है सो स्पष्ट हो गया है .

आभासार्थः विदुरजी, मन्त्र भवन(जहां धृतराष्ट्रने मन्त्र(सलाह) पूछनेके लिए बुलाए थे)से निकलकर घर न जाके नगरसे बाहर चले गए, याॅ निम्न श्लोकमॅ कहते हैं:

स निर्गतः कौरवपुण्यलब्धो गजाह्वयात् तीर्थपदः पदानि ।
अन्वाक्रमत् पुण्यचिकीर्षयोर्व्या स्वधिष्ठितो यानि सहस्रमूर्तिः ।।१७।।

श्लोकार्थः कौरवोंके पुण्यसे प्राप्त विदुरजी हस्तिनापुरसे निकल गए, पृथ्वीपर जिन स्थानॉमॅ सहस्र मूर्ति भगवान् विराजते हैं उन तीर्थ स्थानॉमॅ पुण्य प्राप्त करनेकी इच्छासे फिरने लगे ।।१७ ।।

व्याख्याः विदुरजी कौरवॉके पुण्यसे ही इस वंशमॅ उत्पन्न हुए थे, इस कहनेका आशय यह है कि विदुरजीके निकल जानेसे वंशस्थापक कौरवॉका पुण्य भी निकल गया, याॅ कहनेका यह भी भाव है कि पुण्यसे जन्म लिया है अतः भगवान्के स्थानोॅमॅ फिरनेकी बुद्धि उत्पन्न हुई है, सब तीर्थ जिन भगवान्के चरणमॅ हैं उन भगवान्के स्थानॉमॅ फिरने लगे, तीर्थोंमॅ भी विशेषतः वैष्णव स्थानॉमॅ ही गऐ, जाते समय किसी भी तीर्थ स्थानको छोड़ा नही क्रमशः सर्व तीर्थोंमॅ फिरे, ये तीर्थ स्थान राजाओॅकी छावनीके समान नहीं थे अर्थात् राजा लोग तो छावनीमॅ स्वल्प समय रहकर चले जाते हैं किन्तु भगवान् यहां पृथक् पृथक् आनन्दस्वरूपसे सदैव विराजते हुए अपने प्रभावसे उन स्थानॉका माहात्म्य स्थिर कर रहे हैं, उन तीर्थोंका पूर्वसे सम्बन्ध है, 'पुण्यचिकीर्षया' पुण्य प्राप्तिकी इच्छासे विदुरजी गए, इस वाक्यसे याॅ बताया है कि विदुरजीको तत्त्व ज्ञान नहीं था अतः उस ज्ञानकी प्राप्तिकेलिये, अथवा परमेश्वरकी प्राप्तिके साधन होनेसे अथवा पुण्य प्राप्त कर पृथ्वीको संस्कृत(पवित्र) करने(क्षेत्रके समान बनाने)केलिये, तीर्थोंपर गए. दैत्योॅसे घिरी हुई पृथ्वीपर, वह संस्कार न हो सकेगा. अतः जहां सहस्रमूर्ति भगवान् सदैव स्थिति कर रहते हैं ऐसे तीर्थोंमॅ गए, पञ्चाग्निकी तरह संस्कृत स्थानमॅ ही देव रहते हैं जिन तीर्थ स्थानॉमॅ भगवत्स्वरूप थे उनमॅ ही विदुरजीका संस्कार हुआ है इससे याॅ दिखाया है ।।१७।।

आभासार्थः निम्न श्लोक 'पुरेषु'मॅ तीर्थोंकी विशेषता बताते हैं:

पुरेषु पुण्योपवनाद्रिकुञ्जेष्वपङ्कतोयेषु सरित्सरस्सु ।
अनन्तलिङ्गैः समलंकृतेषु चचार तीर्थायतनेष्वनन्यः ।।१८।।

श्लोकार्थः भगवान्के चिह्नोॅसे अलंकृत तीर्थोंके स्थानॉमॅ, पवित्र

उपवन, पर्वत और कुंजाॅमृ, कीचड रहित जलवाले नदी और तालाबाॅमृ, वे विदुरजी अकेले ही फिरे ।।१८ ।।

व्याख्याः मथुरा आदि नगरोंमृ, कारण कि, वे नगर, भगवान्की क्रीड़ाके स्थान है, उपवनाॅमृ(गोकुलके समीप वृन्दावन आदि वन उपवन हैं. गोवर्द्धन आदि पर्वताॅमृ लताआॅसे स्वयं बने हुए घरोंको कुंज कहते हैं, उनमृ फिरते रहे क्याॅकि ये सब भगवान्के सम्बन्धसे पुण्य जनक होते हुए भी भक्तिजनक हैं, इनमृ फिरनेसे भक्त विदुरजीके शरीरमृ विशेष भक्तिके योग्य उत्तमता आने लगी, कीचड़ रहित जलोंमृ, ऐसे जल श्रीकृष्णके क्रीडाके योग्य हैं, वे जल नदियाॅके दहाॅमृ होते हैं, जैसे कालीयादि दहोंमृ भगवान्ने कालीय दमन करते हुए क्रीड़ा की है, ऐसे स्थानाॅमृ भी विदुरजी फिरे, क्यों फिरे? जिसके उत्तरमृ कहते हैं कि 'अनन्तमूर्तिः रासादि–क्रीड़ाचिह्नैः सम्यग् अलङ्कृतेषु'. वे स्थान, अनन्त मूर्ति भगवान्की रासलीला आदि क्रीड़ाआॅके चिह्नाॅसे सुशोभित हैं. अतः जल और स्थलके जो मुख्य स्थल थे, उनमृ वह अकेले ही फिरने लगे. 'अनन्य' पदका अर्थ अकेले अथवा अनन्य भक्त होनेसे वहां फिरते थे, याॅ कहनेसे यह सूचना दी है कि विदुरजीने पांचगुणाॅवाली पृथ्वीका संस्कार किया है, इसमृ पृथ्वी मिट्टी और पाषाण भेदसे दो तरहकी है, 'पुरेषु'–नगराॅमृ कहनेसे पृथ्वीके मिट्टीका स्वरूप कहा है, 'अद्रिषु'–पहाड़ोंमृ कहनेसे पृथ्वीका पाषाणरूप बताया है. उपवनसे गन्धका, कुंजोमृ स्पर्शका, दहाॅमृ रसका, अनन्त भगवान्के चिह्नाॅसे समलङ्कृतसे रूपका संस्कार हुआ, अथवा कुंजाॅमृ शब्दका, कीचड़ रहित जलमृ रसका, दहाॅमृ स्पर्शका संस्कार* हुआ, विदुरजी अकेले थे इसलिये मौन सिद्ध कहनेका कारण यह है कि(गन्ध, स्पर्श, रस और रूप) इनके संस्कार साथमृ हो सके, किन्तु शब्दका संस्कार साथमृ नहीं हो सकता है क्याॅकि उनको ग्रहण करने और उत्पन्न करनेवाली इन्द्रियां पृथक् हैं याॅ सिद्ध हो गया, अथवा उस(मौन)मृ ही शब्दका भी संस्कार हो गया ।।१८।।

*.यहां पांच प्रकारकी पृथ्वीके संस्कार कहे हैं, महाभूताॅके पीछे कहे जायाॅगे.

आभासार्थः निम्न श्लोकमृ साधन बताते हैं:

गां पर्यटन्मेध्यविविक्तवृत्तिः सदाप्लुतोऽधः शयनोऽवधूतः ।
अलक्षितः स्वैरवधूतवेषो व्रतानि चेरे हरितोषणानि ।।१९।।

श्लोकार्थ : पृथ्वीपर घूमते रहते थे, जहां पवित्र एकान्त स्थल देखते वहां

विश्रामार्थ रहते, जलमॄ(नदी आदिमॄ) स्नान करते, पृथ्वीपर सोते थे जिससे अपने सम्बन्धी भी नहीं पहचानते, कृत्रिम(बनावटी) वेष धारणकर लिया था, जिन व्रतॄसे भगवान् प्रसन्न हों वे व्रत करते थे ।।१९ ।।०

व्याख्याः ये संस्कार, सात 'त्वक्' आदि धातुॲके कहे हैं, व्रत अन्तःकरणके संस्कार करनेवाले हैं अर्थात् व्रत पालनसे अन्तःकरण पवित्र होता है. भगवान्के चरित्र अति गोप्य(गुप्त) हैं अतः उनके दर्शनार्थ स्वयं अकेले ही फिरते थे, इस प्रकार घूमनेसे कदाचित् दर्शन हो जानेसे कुछ भक्तिकी उत्पत्ति हो जावे, भक्ति उत्पन्न होनेसे कृष्ण प्राप्तिकेलिये विरह होगा, विरह होनेसे चित्तमॄ प्रभु प्राप्तिकी प्रबल इच्छा होने लगेगी जिसको दृढ़ करनेकेलिये ही व्रत करने लगे. व्रतॄके करनेमॄ इस प्रकार क्रम है. प्रभुको ढूंढनेकेलिये पहला कार्य लीला स्थलॄमॄ घूमना है, पश्चात् भीतर और बाहरके नियमॄका पालन करना, अनन्तर व्रत करने, पवित्र एकान्त स्थानमॄ भगवान्का ध्यानादि करनेकेलिये स्थिति करना, एक रात्रि बीचमॄ डाल दूसरे दिन पवित्र आहारादि करना. तीन समय स्नान, पृथ्वीपर सोना, तैल आदिका उबटन न करना ये तीन कर्म तीन दोषॄको नाश करते हैं. इस प्रकार रहनेपर बान्धवॄने क्यों नहीं रोका? जिसके उत्तरमॄ कहा है कि उनको बान्धव पहचान ही नहीं सकते थे. कारण कि कृत्रिम वेष धारण कर अवधूत बने हुए थे. चार व्रत हैं १.एकादशीका उपवास २.प्राणीमात्रपर दया ३.जो कुछ मिले उसमॄ सन्तोष और ४.सर्व इन्द्रियॄको अपने वशमॄ रखना, ये चार व्रत भगवान्की प्रसन्नतामॄ कारण हैं ।।१९।।

आभासार्थः 'इत्थं व्रजन्' श्लोकमॄ फल कहते हैं:

इत्थं व्रजन् भारतमेव वर्षं कालेन यावद्गतवान् प्रभासम् ।
तावच्छशास क्षितिमेकचक्रामेकातपत्रामजितेन पार्थः ।।२०।।

श्लोकार्थः बहुत समय, भारतवर्षमॄ ही इस प्रकार फिरते हुए, जब प्रभासमॄ आए तब सब अन्यथा देखा, पृथ्वीपर एक ही सेना एक ही राज्यच्छत्र, अर्थात् एक ही राजाका सैन्य देशकी रक्षा करता था अतः एक ही राजा राज्यासनको शोभित करता था. और वह राजा अजित बन गया था जिसको कोई जीतनेवाला नहीं था. ऐसा वह राजा 'पार्थ' युधिष्ठिर था ।।२० ।।

व्याख्याः जो सर्वथा शुद्ध(पवित्र) होता है वह ही देवदेशमॄ रह सकता है. विदुरजीकी पहलेसे ही देवदेशमें रहनेकी इच्छा थी, वह कामना अब सफल हुई,

यह इस फलको जतानेवाला है जैसे दुष्टका स्थान पृथ्वी परसे गया वैसे शरीरसे भी गया. विदुरजीके पुण्य बहुत थे इसीलिये बहुत समय तक भारतवर्षमॅू ही फिरे, आप बहुत समयके बाद बाहरसे फिरकर प्रभास आए, तब तक यहां सब कुछ अन्यथा ही हो गया था, भारतवर्षमॅू एकका ही सैन्य रहा, वह सैन्य ही देशकी रक्षा करता था और सारा भारत एक छत्रके नीचे आ गया था, दूसरे किसीका भारतपर शासन नहीं था. जहां तक प्रभास है वहां तक भारतवर्ष है, 'तावत्' शब्द विशेष अर्थमॅू है, अर्थात् विदुरजीका तीर्थोमॅू फिरना भी ऐसे राज्य हो जानेसे हितावह हुआ, भगवद्भक्तॅूको राज्य मिलनेमॅू भगवान्की इच्छा ही कारण है अर्थात् सर्व प्रकार *भगवत्सेवा*केलिये ही भगवान् भक्तॅूको राज्य देते हैं. 'अजित' पदसे यह बताया है कि भगवान्की ही राज्य प्राप्ति करानेवाली शक्ति उसमॅू स्थापित हुई है. अतः 'पार्थ'(युधिष्ठिर) अजित हो जानेसे राज्य लेकर चला सके हैं इससे राज्य मिलनेका मूल कारण बतानेकेलिये 'पार्थ' कहा है।।२०।।

* भगवान्की बनाई हुई सृष्टिकी सेवार्थ.

आभासार्थः यह तो पहले ही हो गया था तो भी इससे उसके जाननेकी इच्छा भी न होनेसे जाना नहीं, प्रभासमॅू तो अधिकारी ही देह त्यागके लिए आते हैं, क्यॅूकि वह स्थान ही ऐसा है जहां अधिकारी देह त्यागकर जन्म-मरणके चक्करसे छूट जाते हैं, ऐसे स्थानपर आनेसे उनका चित्त अस्थिर सा हो गया, बादमॅू जो सुना उसका वर्णन 'तत्राऽथ' श्लोकमॅू कहते हैं:

तत्राऽथ शुश्राव सुहृद्विनष्टिं वनं यथा वेणुजवह्निसंश्रयम् ।
संस्पर्धया दग्धमथाऽनुशोचन् सरस्वतीं प्रत्यगियाय तूष्णीम्।।२१।।

श्लोकार्थः अनन्तर वहां उनने अपने सम्बन्धियॅूके नाशका समाचार सुना, जिस वनमॅू बांसके पेड होते हैं वह वन, आपसके संघर्षसे उत्पन्न अग्निसे जैसे जलकर भस्म हो जाता है वैसे ये भी दाहके कारण आपसमॅू संघर्ष करते हुए नष्ट हुए हैं, यॅू जानकर चुप होकर शोक करते हुए वहांसे सरस्वतीके प्रवाहके सामने गए।।२१ ।।

व्याख्याः 'अथ' पदसे पृथक् क्रम बताया है, सम्बन्धियॅूका नाश सुना, नाश सुननेसे शोक हुआ, क्योकिं, सम्बन्धियॅूका नाश हुआ था, सुननेसे शोकका कारण बनानेकेलिये श्लोकमॅू 'सुहृत्' विशेषण दिया है, परस्पर सगे होते हुए भी क्यॅू यॅू नष्ट हुए? इसपर कहते हैं कि 'संस्पर्धया दग्धम् इति' ईर्ष्या(डाह)के कारण

जले(नष्ट हो गये). मनुष्यॄने जो नाश होनेका समाचार सुनाया, जिसमॄ 'धर्म' (गुण)की प्रधानता है, और स्पष्टरीतिसे निरूपण करनेमॄ धर्मीकी मुख्यता है. इस प्रकार धर्मीसे पहले धर्मका कहना असंगत जंचता है. इस असंगत जंचताकी निवृत्तिकेलिये कहते हैं कि यह विपरीतता(असंगति) अवस्थाके भेदसे है. अर्थात् विदुरजी तो यॄ ही कौरवॄसे उदासीन तो थे ही, अतः सगॄका नाश सुनकर केवल उदासीन ही हुए, परन्तु जब वनका दृष्टान्त सुन उनका उसी प्रकार नाश जैसे हुआ, (जैसे बांसके परस्पर संघर्षसे उत्पन्न अग्निसे वनका होता है) वैसे ये भी आपसके डाहसे नष्ट हुए तब विदुरजीको शोक हुआ. इस तरह अवस्था भेदके कारण असंगति नहीं है. प्रभासमॄ डाहवालॄका नाश भले हो किन्तु उनके सम्बन्धसे सब सगे नष्ट हो गए इसलिये विदुरजीको शोक हुआ, नाशमॄ दृष्टान्त देते हैं कि जैसे दो बासॄके संघर्ष(रगड़)से उत्पन्न अग्नि समग्र वनको भस्म करती है वैसे ही कौरव पाण्डवॄका डाह इनके नाशमॄ हेतु है, यों कहकर यह सिद्ध किया है कि, यह नाश, उपयोगी नहीं हुआ है, इस कारणसे ही उदासीनताके बाद शोक हुआ ।।२१।।

सरस्वती धर्म हेतुः जलसंस्काररूपिणी ।
भक्तिहेतुस्तु यमुना सत्सङ्गात् तैजसी स्मृता ।
ज्ञान हेतुस्तु गङ्गा स्यात् बुद्धि संस्कारकत्वतः ।।१।।

कारिकार्थ: जलसे होनेवाले संस्कारॄके रूपवाली सरस्वती, धर्मका हेतु है. भक्ति उत्पन्न करानेमॄ कारण श्रीयमुनाजी हैं और वह सत्संगसे तेजवाली कही गईं हैं. गंगा, बुद्धिको संस्कृत कर ज्ञान उत्पन्न करनेवाली हैं ।।१ ।।

विदुरजी मनमॄ ही गुप्त शोक करते थे, क्यॄकि अन्यॄको शोकका ज्ञान न हो, अनन्तर सरस्वतीके प्रवाहके सामने जाने लगे, अर्थात् प्रभाससे द्वारका न जानेका ज्ञान करानेके लिए वहां जाने लगे, यॄ कहा है ।।२ ।।

आभासार्थ: भगवान्के निवास स्थान द्वारकाको छोड अन्यत्र जाना तो वृथा है इस शंकाके उत्तरमॄ कहते हैं कि जहां वह गए हैं वहां कृष्णके स्मारक(स्मरण करानेवाले) स्थान बहुत ही हैं, यॄ 'तस्यां' श्लोक और 'अन्यानि' श्लोकमॄ वर्णन कर बताते हैं:

तस्यां त्रितस्योशनसो मनोश्च पृथोरथाग्नेरसितस्य वायोः ।
तीर्थं सुदासस्य गवां गुहस्य यच्छ्राद्धदेवस्य स आसिषेवे ।।२२।।

श्लोकार्थ: उसपर, अर्थात् जिस सरस्वतीके प्रवाहके सामने गए. उस

सरस्वतीपर, त्रितकूपका, शुक्रका, स्वायम्भू मनुका, पृथुका तथा अग्निका, आसित ऋषिका, वासुदेवका, सुदास राजाका, गौआृका, कुमार और वैवस्वत मनुका स्थान है ,इनका उस(विदुर)ने सेवन किया ।।२२ ।।

व्याख्याः उस सरस्वतीके तटपर ग्यारह प्रसिद्ध तीर्थ हैं, इसमृ जो क्रमका अभाव है जिसका कारण जलकी प्रधानता है, जैसे जलका क्रम है वैसे ही तीर्थोंका क्रम कहा है. उस सरस्वतीमृ ही १.त्रितका कूप है उसको पहले कहा, जिसका कारण यह है कि कूपाृका जलही उत्तम होता है अन्याृकी तुलनामृ भी याृ ही समझना चाहिये. २.दूसरे तीर्थस्थान वे हैं जहां शुक्र आदिने तपस्या की है. ३.तीर्थस्थान वह है जहां स्वयम्भू मनु निवास करते थे. ४.तीर्थस्थान वह है जहां वेनसे उत्पन्न पृथुका वास था. इन चार तीर्थोंके सेवन करनेसे विदुरजीके शोक आदि सर्व दुःख निवृत्त हो गये, जैसे त्रित,कूपमृ गिरा हुआ सङ्कट भोग रहा था उससे(वहां) निकला, वैसे ही ये विदुरजी भी शोक सङ्कटसे निकल आए. शुक्रने यहां ही मृतसंजीविनी विद्या प्राप्त की थी, वैसे यह विदुरजी भी मृत्युसे छूटकर जीवित हो गए. स्वायम्भू मनुको जिस ज्ञानरूप शक्तिकी इच्छा थी वह यहां ही उसको प्राप्त हुई थी, वैसे इनने भी शोकसे छूट, ज्ञानकी प्राप्ति की. पृथु तो पहले उत्पन्न सर्व दोषाृको दूर करनेवाले थे. याृ चार तीर्थ करनेसे इन विदुरजीकी पहलेकी अवस्था जो शोकादिवाली हुई थी, वहां(तीर्थ) जाकर वह नष्ट होके फिर पहली अवस्था इनने प्राप्त कर ली. 'अथ' पदसे बताया कि अब दूसरा क्रम प्रारम्भ होता है कि, विदुरजी शोक रहित हो तीर्थ करने लगे, अग्निका, असित ऋषिका, वायुदेवका, सुदास राजाका, गोसत्र तीर्थ, कार्त्तिकेय तीर्थ और श्राद्धदेव अर्थात् वैवस्वत मनुका तीर्थ इस प्रकार ये सात तीर्थ किये,. ये सात तीर्थ शरीरके सात धातुआृको पवित्र करनेवाले हैं अर्थात् इन ७ तीर्थोंके करनेसे विदुरजीके शरीरके साताृ धातु पवित्र हो गए।।२२।।

आभासार्थः विदुरजी, सरस्वती जहांसे निकली थीं वहां तक बिना रूकावटके दूसरे भी प्रकीर्ण तीर्थ करते हुऐ पहुंच गए, जिनसे उनके शरीरके सर्व अवयव भी शुद्ध हो गए, यह इस निम्न श्लोकमृ कहते हैं :

अन्यानि चेह द्विजदेवदेवैः कृतानि नानायतनानि विष्णोः ।
प्रत्यङ्मुख्याङ्किकतमन्दिराणि यद्दर्शनात्कृष्णमनुस्मरन्ति ।।२३।।

श्लोकार्थ: ऊपरके श्लोकमॄ कहे हुए तीर्थोंके सिवाय जो पृथक्-पृथक् तीर्थ ब्राह्मण और देवॄने बनाए हैं जिनमॄ विष्णुके मुख्य आयुधॄके चिह्नवाले मन्दिर हैं, जिनके दर्शनसे श्रीकृष्णका स्मरण हो आता है उन तीर्थोंपर गए अर्थात् उनको सेवन कर अपनेको पूर्ण पवित्र किया ।।२३ ।।

व्याख्याः ऊपरके श्लोकमॄ कहे हुए तीर्थ तपस्या करनेसे हुए हैं, अतः लोकमॄ प्रसिद्ध हैं एवं नित्य हैं, दूसरे तो ब्राह्मण और देवॄके बनाये हुए तीर्थ हैं, जिनमॄ अनेक प्रकारके स्थान(मंदिर) हैं, उन मन्दिरोमॄ विष्णुके (प्रत्यङ्-मुख्याङ्कित मन्दिराणि सन्ति) प्रत्येक आयुध विराजमान हैं, जिनमॄ मुख्य सुदर्शन है, इस मुख्य सुदर्शन चक्रका मन्दिरोंके ऊपर चिह्न है, चिह्न हुआ तो क्या हुआ? इसके उत्तरमॄ कहा है कि 'यद्दर्शनात् कृष्णमनुस्मरन्ति', जिसके केवल दर्शनसे ही कृष्णका स्मरण करने लगते हैं. भगवान्का स्मरण तब होता है जब बहुत जन्मोमॄ सुकृत किए ह्यॄ, वह स्मरण यहां केवल चक्रके दर्शनसे होता है. इसलिये तीर्थोंकी विशेषता कही जाती है. इससे यह भी बता दिया है कि वहां भगवान् स्वरूप धारण कर विराजते हैं. भगवान्का स्मरण करानेवाले यहां चिह्न हैं, इसलिए वहां बहुत समय रहकर प्रत्येक तीर्थमॄ जाते थे यॄ समझमॄ आता है. इससे विदुरजीको बहुत समय लगनेसे काल विलम्ब हुआ जिससे उस समयमॄ यदुकुलकी भी पृथ्वीसे निवृत्ति हो गई ।।२३।।

आभासार्थ: इस प्रकार सरस्वतीके तटपरसे चलते हुए सर्व देशॄका अतिक्रमण हुआ, यॄ 'ततस्त्वतिव्रज्य' श्लोकमॄ कहते हैं:

ततस्त्वतिव्रज्य सुराष्ट्रमृद्धं सौवीरमत्स्यान् कुरुजाङ्गलांश्च ।
कालेन तावद् यमुनाम् उपेत्य तत्रोद्धवं भागवतं ददर्श ।।२४।।

श्लोकार्थ: वहांसे विदुरजी समृद्ध सौराष्ट्र, मत्स्य और कुरुजांगल देशॄसे होकर कितने समयमॄ यमुनाके पास पहुंचे, जहां इनको भगवान्के भक्त उद्धवजीके दर्शन हुए ।।२४ ।।

व्याख्याः 'ऋद्धम्' अर्थात् समृद्ध, इस पदसे सूचित किया है कि वहां सौराष्ट्र देशमॄ भगवान् विराजते हैं, 'सौवीर' देशसे गुजरातदेश कहा. इसके बाद मत्स्यदेश और कुरुजाङ्गल देश अर्थात् कुरुक्षेत्रका प्रदेश, प्रत्येक ग्राममॄ एक एक रात्रि रहनेकी विधि अनुसार विदुरजीको यात्रामॄ ३६(छत्तीस) वर्ष लग गए. कौरव

नाशके बाद भी छत्तीस वर्षों तक भगवान् विराजे थे, उसी समयमृ मूसलकी उत्पत्ति भी हुई, उस समय यमुनापर पहुंच गए और वहां उद्धवजीके दर्शन हुए. दर्शनमृ कारण 'भागवतं' भगवान्के सेवक थे, यह दर्शन विश्वासजनक थे. जितनेमृ वहां उद्धवजी प्राप्त हुए उतनेमृ वे(विदुरजी) भी वहां आ पहुंचे ।।२४।।

आभासार्थ: जैसे अग्निके सम्बन्धसे प्रकाश होता है वैसे ही सत्संगसे विदुरजीमृ भी तेजका प्रकाश हुआ, यह सूचित करनेके लिए श्रीशुकदेवजी उद्धवजीका वर्णन 'स वासुदेवानुचरं' श्लोकमृ करते हैं:

स वासुदेवानुचरं प्रशान्तं बृहस्पतेः प्राप्तनयं प्रतीतम् ।
आलिङ्ग्य गाढं प्रणयेन भद्रं स्वानामपृच्छद्भगवत्प्रजानाम् ।।२५।।

श्लोकार्थ: परिचित, बृहस्पतिसे नीतिशास्त्र पढे हुए, शान्त और वासुदेवके सेवक (उद्धवजी)का विदुरजी प्रेम पूर्वक दृढ आलिंगन कर, भगवान् की प्रजारूप अपने सम्बन्धियृका कुशल समाचार पूछने लगे ।।२५ ।।

व्याख्याः भगवद्भक्तपनसे भी भगवत्सेवकपन विशेष है. उद्धवजी वासुदेवके सेवक होनेसे भक्तोत्तम थे, अतः इनका दर्शन मोक्षमृ उपयोगी है, इससे सम्भाषणके योग्य हैं, यृ सूचित किया है. विदुरजी अवधूत वेषमृ होनेसे पहचाने नहीं जाते, किन्तु उद्धवजीके सामने स्वयं प्रकट हुए क्यृकि उद्धवजी नीतिज्ञ हैं. वे दूसरृको न बतायृगे कि यह विदुर है. इसलिये ही 'बृहस्पतेः प्राप्तनयम्' उद्धवजीको विशेषण दिया है, जिनने बृहस्पतिजीसे नीतिशास्त्र पढा है. यदि 'प्राप्तनयं'के स्थानपर 'प्राक्तनयं' पाठ लिया जावे तो इसका अर्थ होगा, पहले उद्धवजी बृहस्पतिजीके पुत्रपनसे रहते थे, इसलिये देवृके गुह्यविषयको भी जानते थे. 'प्रशान्त' पदसे यह सूचित किया है कि वह(उद्धवजी) स्वयं किसीसे मिलना ही नहीं चाहते थे क्यृकि शान्तिमृ रुकावट पडेगी, किन्तु विदुरजी पूर्वसे ही परिचित थे. अतः विदुरजीसे मिलनेमृ परिहार(त्याग)की सम्भावना नहीं है. विदुरजी और उद्धवजी मिले तब विदुरजीने गाढ आलिङ्गन किया क्यृकि दोनृ भगवदीय थे, इससे इनमें पूर्वसे ही परस्पर स्नेह था यह सूचित किया. 'प्रणयेन' अर्थात् प्रेमसे. इस शब्दसे सूचित किया कि, प्रश्न और आलिङ्गन दोनृ प्रेमपूर्वक हुए. अपने सम्बन्धियृके कुशल पूछनेमृ हेतु विदुरजीका लौकिक मोह नहीं था, किन्तु वे सम्बन्धी भगवान्की प्रजा थे, भगवान्से सर्व प्रकार पालन योग्य, अथवा भगवान्ने अपने अंशसे ही उनको उत्पन्न किया है, उनके दर्शनसे स्वयं भी

भगवत्सम्बन्धी थे. इस प्रकार तदीयाृके स्मरणसे पांच भूताृमृसे प्राणरूप वायु संस्कृत हुआ ।।२५।।

आभासार्थः भगवदीयाृका कुशल, सामान्य और विशेषरूपसे दो प्रकारके होते हैं. उनमृ भगवान् ही जिनका पोषण करते हैं ऐसे भगवदीयाृका कुशल भगवान्की स्थिति होनेपर ही सिद्ध होता है, इसलिए इसमृ हेतुभूत भगवान्की स्थिति निम्न श्लोकमृ पूछते हैं:

कच्चित् पुराणौ पुरुषौ स्वनाभ्यपाद्यानुवृत्त्येह किलाऽवतीर्णौ ।
आसात उर्व्याः कुशलं विधाय कृतक्षणौ कुशलं शूरगेहे ।।२६।।

श्लोकार्थः निःसंदेह अपनी नाभिसे उत्पन्न कमलसे जन्म लेनेवाले (ब्रह्मा)की प्रार्थनासे, दो पुराणपुरुष प्रकट हुए हैं, वे पृथ्वीका कुशल कर, सबको अपने आनन्दका अवसर देनेवाले, वसुदेवके घरमृ कुशलपूर्वक विराजे हैं न? ।।२६ ।।

व्याख्याः 'पुराणौ पुरुषौ' द्विवचन देनेका भवार्थ बताते हैं कि एक स्वरूप अवतार हैं, और दूसरे आवेश स्वरूप हैं, भगवत्स्वरूपाृमृ स्वगत भेद होता ही नहीं है. याृ *कहकर इनमृ जीवाृसे विलक्षणता बताई है. 'स्वनाभ्यपद्म'का अर्थ है अपनी नाभिमृ(भगवान्की नाभिमृ) उत्पन्न कमलसे प्रादुर्भूत ब्रह्मा, उसकी 'अनुवृत्या' प्रार्थनासे अवतार लिये हैं. 'किल' पदसे इन्हाृने अवतार लिया है इसमृ किसी प्रकारका संशय नहीं है, क्याृकि पुराण आदि शास्त्राृमृ इनकी कथाएं प्रसिद्ध ही हैं. पृथ्वीका भार उतारकर उसका कुशलकर , सबको आनन्द लेनेका अवसर दिया, अथवा बिना चिन्ता अपने आनन्दके अनुभव अवसर देनेवाले वसुदेवजीके घरमृ विराजे हैं, इस प्रश्नसे सबका साधारण कुशल पूछा है ।।२६।।

*'पुराणौ पुरुषौ' कहकर सूचित किया है कि ये दो पुरुषोत्तम स्वरूप होनेसे जीवाृके समान नहीं हैं.

आभासार्थः निम्न श्लोकमृ विशेष पूछता है:

कच्चित् कुरूणां परमः सुहृन्नो भामः स आस्ते सुखम् अङ्ग शौरिः ।
यो वै स्वसणां पितृवद् ददाति वरान् वदान्यो वरतर्पणेन ।।२७।।

श्लोकार्थः हे उद्धव! जो अपनी बहिनाृको उदारतासे पिताके तुल्य इच्छित पदार्थ देते हैं और अपनी बहिनाृके पतियाृको भी अभीष्ट देकर प्रसन्न करते हैं एवं जो कौरवाृका परम मित्र हमारे बहनोई वसुदेवजी प्रसन्न हैं

न ? ।।२७।।

व्याख्याः पहले ही वसुदेवजीके कुशल प्रश्न करनेका कारण कहते हैं, 'कुरूणां सुहृत् नो भामश्च'. कौरवॄके मित्र और हमारे बहनोई हैं, संस्कृतमॄ बहनोईको 'भामः' कहते हैं. परस्पर विवाहकी सम्भावनाके कारण देवकीजी भी अपनी(विदुरजीकी) बहिन हैं इस अभिप्रायसे 'भामः' कहा. वसुदेवजीका दूसरा विवाह कौरवॄके यहां हुआ था. पृथा(कुन्ती)से वसुदेवजी बड़े थे, अतः देशकी प्रथाके अनुसार छोटी बहनका पति साला होता है इसलिये वसुदेवजी बहनोई लगते हैं. और विशेषमॄ वसुदेवजीके साथ केवल सम्बन्ध ही नहीं था, किन्तु वे उपकारक भी थे, जैसे कि कहा है 'यो वै स्वसणां' शूरसेनजी स्वशुर तो देते हैं किन्तु वसुदेवजी भी बहिनॄको, जो कुछ वे चाहती थीं वो देते थे, इस प्रकार देनेकी शास्त्रमॄ आज्ञा नहीं है तो भी वसुदेवजी देते हैं इसकेलिये श्लोकमॄ 'स्वसॄभ्यः' चतुर्थी विभक्ति नहीं दी है. व्याकरण नियमानुसार जिसको दिया जाता है वह पद चतुर्थीमॄ देना चाहिये, वह न देकर 'स्वसणां' षष्ठी विभक्तिमें देकर यह सूचित किया है कि यह देना शास्त्रविहित नहीं है. अधिक दानमॄ कारण बताया है कि वसुदेवजी 'वदान्यः' उदार हैं. केवल बहिनॄको नहीं दिया किन्तु बहनोइयॄको भी खूब देकर तृप्त किया।।२७।।

आभासार्थः इस 'कच्चिद् वरूथाधिपतिः' श्लोकमॄ यादवॄमॄ सबसे उत्तम प्रद्युम्नका कुशल पूछते हैं:

कच्चिद् वरूथाधिपतिर्यदूनां प्रद्युम्न आस्ते मुखम् अङ्ग वीरः ।
यं रुक्मिणी भगवतोऽभिलेभे आराध्य विप्रान् स्मरमादिसर्गे।।२८।।

श्लोकार्थः हे उद्धव! रुक्मिणीजीने विप्रोंको पूजादिसे प्रसन्न कर, भगवान्से जिनको प्राप्त किया, और जो पूर्वमॄ सृष्टिकर्त्ता कामदेव था, वह यादवॄका सेनापति वीर प्रद्युम्न प्रसन्न है न ? ।।२८ ।।

व्याख्याः 'वरूथाधिपतिः' सेनापति, यादवॄमॄ वीर, अथवा यादवॄकी सेनाका पति होनेसे 'सेनापति' कहा जाता है, यादवॄमॄ वीर होनेसे ही प्रद्युम्नको, अपनी सेनाका पति अर्थात् सेनापति बनाया गया था, व प्रद्युम्न स्वतः वीर था. सेनासे अर्थात् सेनापति बननेसे और जन्म परम्परासे प्रसिद्धिमॄ आए हैं अतः कहते है 'प्रद्युम्न' उत्तम धनरूप होनेसे यह(प्रद्युम्न) नाम दिया है, अतः राजापेक्षासे भी पहले इसका प्रश्न किया गया है. इसके अलावा यह पहले, सृष्टिकी उत्पत्तिका हेतु

कामदेव था.

जिसको रुक्मिणीने भगवान्‌की प्रार्थना कर, वंश वृद्धिके लिय विप्रा्‌की आराधना कर धर्मसिद्धिकेलिये तपस्या कर प्राप्त किया है. रुक्मिणीजीने विप्रा्‌की आराधनाका प्रयास कर भगवान्‌से शक्तिशाली पुत्र प्राप्त किया, जिससे प्रभुने इसमृ ऐसी विशेष शक्ति स्थापित की जिससे इसका शङ्‌कर भी पराभव न कर सके।।२८।।

कच्चित् सुखं सात्त्वतवृष्णिभोज–दाशार्हकाणाम् अधिपः स आस्ते ।
यम् अभ्यषिञ्चत् शतपत्रनेत्रो नृपासनाशां परिहृत्य दूरात् ।।२९।।

श्लोकार्थ: जिसने, दूरसे अर्थात् पुत्र द्‌वारा भी राज्य मिलेगा नहीं या्‌ समझ राज्यासनकी आशा त्याग दी थी, किन्तु कमल नेत्र भगवान्‌ने कृपा कर जिसका राज्याभिषेक किया, वह सात्त्वत, वृष्णि, भोज और दाशार्होंका अधिपति उग्रसेन कुशल ही है न? ।।२९ ।।

व्याख्याः उग्रसेन राजाको राज्य तो काकतालीय न्यायके अनुसार स्वतः मिल गया, पुत्र मरनेके दुःखको भूलकर राज्य कैसे स्वीकार किया? जिसके उत्तरमृ कहते हैं कि 'यमभ्यषिञ्चत् शतपत्रनेत्रः' जिसका राज्याभिषेक कमल नयन भगवान्‌ने किया है, अर्थात् कमल नेत्र भगवान्‌की दृष्टि पड़ते ही दुःखकी निवृत्ति हो गई है, और उसकी ऐसी इच्छा होनेसे ही राज्य स्वीकार करना पड़ा, अन्यथा तो, वे पुत्र पौत्र द्‌वारा भी यह राज्य प्राप्त होगा ऐसी आशा छोड़ बैठे थे ।।२९।।

आभासार्थ: साम्ब आदिमृ असीम स्वरूप तथा शक्तिके होनेसे, उनके माहात्म्य स्वरूपको कहते हुए तत्सम्बन्धी प्रश्‍ना्‌का पूछना निम्न श्लोकसे आरम्भ करते हैं:

कच्चिद् हरेः सौम्य सुतः सदृक्ष आस्तेऽग्रणी रथिनां साधु साम्बः ।
असूत यं जाम्बवती व्रताढ्या देवं गुहं योऽम्बिकया धृतोऽग्रे।।३०।।

श्लोकार्थ: हे श्रेष्ठ! जिसको अनेक व्रत करनेवाली जाम्बवतीने जन्म दिया है और जिस देव कार्त्तिकेयको पहले अम्बिकाने गर्भमृ धारण किया, उस हरिके समान(उसका) पुत्र, रथिया्‌का नायक साम्ब कुशल तो है न ? ।।३० ।।

व्याख्याः संबोधना्‌ वहां वहां(जहां जहां प्रश्‍ना्‌के उत्तर देने हैं) कारणरूप हैं. हरिके ही समान रथिया्‌के नायक(साम्ब) कुशल हैं न? 'साम्ब' पदसे यह भाव

सूचित होता है कि पार्वती सहित महादेवने ही इस रूपसे अवतार धारण किया है. इससे इसका जन्म प्राकृत हो ऐसी संभावना ही नहीं है. 'असूत यं जाम्बवती व्रताढ्या' क्यूंकि जिसको बहुत व्रत करनेवाली जाम्बवतीने जन्म दिया है. जाम्बवान् बलमूं भगवान्के समान था और भक्त भी था, उसकी(जाम्बवान् की) कन्या उससे भी विशेष थी कारण कि भगवान्केलिये अधिक व्रत करती थीं, उसके(साम्बके) स्वरूपसे सामर्थ्य ये है कि वह कार्तिकेय देव था, कार्त्तिकेयकी उत्कर्षता इसलिये है कि, उसकी गणना भूतगणोंमूं नहीं होती है कारणकि उसमूं देवपन है अतः वह उत्तम है. दूसरा उसका यह भी उत्कर्ष है कि, उसको अग्निपत्नियोंमूं जिसकी गणना होती है उस अंबिका(पार्वती)ने इसको अपने गर्भमूं धारण किया है ।।३०।।

आभास: शूरवीरोंमूं सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्न कर अब 'कच्चिद्...' श्लोकसे शूरवीर भक्तोंका चरित्र पूछते हैं:

क्षेमं स कच्चिद् युयुधान आस्ते यः फाल्गुनाल्लब्धधनूरहस्यः ।
लेभेऽञ्जसाऽधोक्षजसेवयैव गतिं तदीयां यतिभिर्दुरापाम् ।।३१।।

श्लोकार्थ: जिसने अर्जुनसे धनुर्विद्याका रहस्य प्राप्त किया है, जो गति संन्यासियोंको नहीं मिलती है, वैसी परमभक्तिरूप भगवदीय गति, भगवत्सेवासे सरलतासे प्राप्त की है. वह युयुधान(सात्यकि) कुशल हैं? ।।३१ ।।

व्याख्याः युयुधान भी सात्यकिका नाम है जो अर्जुनका शिष्य है, उसने 'गति' फलरूपा परम भक्ति प्राप्त की, ऐसी गतिके प्राप्त करनेका साधन 'भगवत्सेवा' ही है न कि ज्ञान भी है, अर्थात् ज्ञानसे यह फलरूपा परमभक्ति नहीं मिलती है. अतः कहा है कि 'यतिभिर्दुरापां'. जो संन्यास ले ज्ञानी(ज्ञान मार्गपर चलते हैं) बने हैं उनको यह गति(फलरूपा–परमभक्ति) प्राप्त नही होती है।।३१।।

आभास: 'कच्चिद् बुधः' श्लोकमूं भगवद्भक्तकेलिए प्रश्न करते है.:

कच्चिद् बुधः स्वस्त्यनमीव आस्ते श्वफल्कपुत्रो भगवत्प्रपन्नः ।
यः कृष्णपादाङ्कितमार्गपांसुष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्यः ।।३२।।

श्लोकार्थ: प्रेमके कारण अधीर बनकर जो, श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंसे अंकित मार्गकी रजमूं लोटपोट हो रहा है और जिसने भगवान्की शरण ले ली है. इस कारण ही वह बुध कहा गया है. 'अनमीवः' और जो नीरोग है अर्थात् जो

पापरहित है. ऐसा श्वफल्कका पुत्र(अक्रूर) कुशल है न? ।। ३२ ।।

व्याख्या: भगवच्छरण लेनेसे ही वह बुद्धिमान् था. 'अनमीवः', विशेषणसे यह प्रश्न किया है कि, वह नीरोग(पापके कारण रोग होता है अतः वह निष्पाप तो है) है न? जिससे उसमृ कृष्ण सेवा करनेकी योग्यताका ज्ञान होगा. श्वफल्कका पुत्र अर्थात् अक्रूर 'भगवत्प्रपन्नः' भगवच्छरणागत, उसकी भक्ति लोकमृ प्रसिद्ध है. इसलिये कहते हैं कि 'कृष्णपादाङ्कितमार्गपांसुष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्यः'. श्रीकृष्णके दर्शन होने तक भी जो धैर्य धारण न कर सका अतः भगवान्के चरणाङ्कित रजृमृ लोटपोट होने लगा, मार्गकी रज अत्यन्त अपवित्र होती है, तो भी उसको कृष्णचरणृमृ अङ्कित देख गङ्गासे भी उसको उत्तम मानकर उसमृ लोटने लगा. 'अचेष्टत' क्रियासे यह सूचित किया कि उसमृ उस समय ऐसा भक्तिका आवेश था, जिससे यह लौकिक पदार्थ है ऐसा ज्ञान ही नहीं रहा. 'प्रेमविभिन्नधैर्यः' पदसे यह कहा है कि प्रेमके कारण धैर्य न रहनेसे एवं भक्तिके आवेशसे उसकी ऐसी स्थिति थी जो, प्रबोध कराते हुए भी जगता नहीं था, कारण कि धैर्य छूट जानेके अनन्तर समझ शक्ति रहती नहीं है।।३२।।

आभासार्थ: 'कच्चिच्छिवं' श्लोकमृ जिसकी भक्तिसे हरि, पुत्र होकर आए, उस बडी भक्ता(देवकी)का कुशल पूछते हैं:

कच्चित् शिवं देवकभोजपुत्र्या विष्णुप्रजाया इव देवमातुः ।
या वै स्वगर्भेण दधार देवं त्रयी यथा यज्ञवितानमर्थम् ।।३३।।

श्लोकार्थ: जिस तरह देवत्रयी, यज्ञृके विस्तारको करनेवाले अर्थको धारण करते हैं और जिसका विष्णु(वामन) पुत्र हुआ ऐसी देवमाता(अदिति)की तरह अर्थात् जैसे अदितिने विष्णु(वामन)को गर्भमृ धारण किया उसी तरह जिसने अपने गर्भमृ भगवान्को धारण किया है, वह भोजवंशोत्पन्न देवककी पुत्री देवकी कुशल है न? ।।३३ ।।

व्याख्याः भोज यादवृमृ एक वंशका नाम है, अतः देवक ही भोज है अर्थात् देवक और भोज पृथक् दो नही हैं. देवकके वंश परिचयकेलिये भोज कहा. भगवान् किसके पुत्र होते नहीं अतः दृष्टान्त देकर इस शङ्काका निवारण किया है, जैसे 'अदिति' वामनकी माता हैं, जिसकी सन्तति विष्णु ही हुआ. वह(अदिति) देवोंकी माता होनेसे सर्वदेव उसमृसे उत्पन्न हुए हैं, भगवान् भी स्वयं आविर्भूत हुवे हैं, पुत्रपन तो केवल गर्भमृ स्थित करनेके कारण माना जाता है, न

कि पैदा करनेसे(उदरमृसे बाहर निकालनेसे) भगवान् पुत्र हैं. वह कहते हैं कि 'या वै स्वगर्भेण दधार देवं', जिसने देवको अपने गर्भमृ धारण किया है. इन शब्दृसे यह स्पष्ट किया है कि भगवान् देवकीके पुत्र इसलिये कहलाये हैं कि उसने भगवान्को केवल गर्भमृ विराजमान किया था. वह धारण भी सर्वलोक हितार्थ था, जिसमृ अन्य दृष्टान्त देकर समझाते हैं 'त्रयी यथा यज्ञवितानम् अर्थम्' जैसे वेदत्रयी, यज्ञके विस्तार करनेकेलिये अर्थको धारण करता है, जैसे अर्थ, शब्दका सहज साथी है, वैसे अन्तर्यामी भी भीतर सदैव विराजते ही हैं, वह विद्यमान ही बाहर आये हैं, याृ सूचित किया है ।।३३।।

आभासार्थ:अनिरुद्धमृ भगवदावेशस्वरूप है, कि उत्कृष्टजीवन है. अतः इस 'अपिस्विदास्ते' श्लोकमृ भगवान्का ही माहात्म्य कहते हुए अनिरुद्धकी स्तुति करते हैं:

अपिस्विदास्ते भगवान् सुखं वो यः सात्त्वतां कामदुघोऽनिरुद्धः ।
यम् आमनन्ति स्म ह शब्दयोनिं मनोमयं सत्त्वतुरीयतत्त्वम्।।३४।।

श्लोकार्थ: जो, आप वैष्णवृकी सर्व कामनाओृको पूर्ण करनेवाले हैं. जो मनोमय अन्तःकरणका चतुर्थ तत्त्व है. इसलिए ही जिसको शब्दका प्रसिद्ध कारण माना जाता है. वह भगवान् अनिरुद्ध प्रसन्न हैं न ? ।।३४।।

व्याख्याः भगवान् अनिरुद्ध वैष्णवृकी सब कामनाओृको पूर्ण करनेवाले हैं, क्याृकि अनिरुद्ध ही पालन करनेवाले हैं. वहां मनका अधिष्ठाता देव है इसलिये ही इसको शब्दका कारण मानते हैं. 'स्म' पदसे बताया है कि, श्रुतिमृ ''मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपम्''. मनको पूर्वरूप, वाणीको पीछेका रूप कहा है, यह प्रसिद्ध है. 'ह' शब्दसे आश्चर्य प्रकट किया है कि ऐसे अनिरुद्धजीका अवतार हुआ है. क्याृकि यह मनोमय है अतः मनके देवता हैं याृ प्रसिद्ध है, इस कारणसे इनको कोई रोक नहीं सकता है जिससे ही इनका नाम 'अनिरुद्ध' है. किञ्च अन्तःकरणका चतुर्थ रूप जो मन है उसका यह(अनिरुद्ध) वास्तविक तत्त्व है. इससे यह सर्वरूप है याृ लोकसे भी सिद्ध ही है।।३४।।

आभासार्थ: इस प्रकार कितनाृ हीका विशेष रीतिसे पूछकर, अब सबका साथमृ एक ही श्लोक 'अपिस्विदन्ये' से पूछते हैं:

अपिस्विदन्ये च निजात्मदैवम् अनन्यवृत्त्या समनुव्रता ये ।
हृदीकसत्यात्मजचारुदेष्णगदादयः स्वस्ति चरन्ति सौम्य ।।३५।।

श्लोकार्थ: हे सौम्य! हृदीक, सत्याके पुत्र, चारुदेष्ण और गद आदि अन्य, जो अपने आत्मदेवकी अनन्यवृत्तिसे भक्ति करते हैं वे भी कुशलसे रहते हैं न ? ।।३५ ।।

व्याख्याः अपनी जो चैतन्यरूप आत्मा उसके भी जो देव, भगवान् हैं, उसकी अनन्य वृत्ति अर्थात् सर्वभावसे उस एकाकी ही भक्ति जो हृदीक आदि करते हैं उनका चरित्र तो श्रेष्ठ है न? वैसे सत्यभामाके पुत्र 'चारुदेष्ण', प्रद्युम्नका भ्राता गद आदि भगवान्के भाई, आदि शब्द अन्य सर्वका ग्रहण किया है, उनका चरित्र भी अच्छा है न? ।।३५।।

आभासार्थ: 'अपि स्वदोर्भ्यां' श्लोकसे युधिष्ठिरका कुशल पूछते हैं:

अपि स्वदोर्भ्यां विजयाच्युताभ्यां धर्मेण धर्मः परिपाति सेतुम् ।
दुर्योधनोऽतप्यत यत् सभायां साम्राज्यलक्ष्म्या विजयानुवृत्त्या ।।।३६।।

श्लोकार्थ: विजयाकी परंपरावाली साम्राज्य लक्ष्मीके कारण, दुर्योधन, जिसकी सभामा दुःखी होने लगा, वह धर्म(युधिष्ठिर) अर्जुन और श्रीकृष्णकी सहायतासे और अपनी भुजाओंसे धर्ममर्यादाका पूर्ण रीतिसे पालन करता है न ? ।।३६ ।।

व्याख्याः धर्म मर्यादाके सम्पूर्ण रीतिसे पालन करना असाध्य है. जिसका भी पालन किया, तो उसके पालनमा कौन सा हेतु है, वह हेतु 'विजयाच्युताभ्यां' पदसे बताया है. क्याकि वे, दो, नर-नारायण ऐसे धर्म रक्षक अंश हैं जिनको, इस कर्म करनेसे कोई शक्ति रोक नहीं सकती है, राजा स्वयं धर्म है. भुजाओंसे अपनी रक्षा की जा सकती है. इसलिये कहा है 'स्वदोर्भ्यां', अपनी दो भुजाओंसे. विजय (अर्जुन) अच्युत(भगवान्), 'सेतुं' परम्परासे आई हुई मर्यादाको, शास्त्रोक्त प्रकारसे क्या पालन करते हैं? याँ प्रश्न है. राजा स्वयं धर्म है तो धर्मसे ही पालन करेंगे तो फिर ऐसा प्रश्न क्यों? जिसके उत्तरमा कहते हैं कि सिंहासन अनर्थका मूल है, विजयका अर्थ है, जिसमा अनेक जय रही हैं ऐसी राज्य लक्ष्मी जिसके कारण अर्जुनकी सेना और साम्राज्यलक्ष्मीके कारण, जिसकी सभामा दुर्योधन दुःखी हुआ है, अथवा यह वाक्य पृथक् है. राजामा तो दो गुण(राजसूय यज्ञसे प्राप्त साम्राज्य की लक्ष्मी और अर्जुनकी की हुई सेवा) विशेष थे, जिनसे दुर्योधनको दुःख होनेकी विशेष सम्भावना है, याँ भाव है ।।३६।।

आभासार्थ: 'किं वा' श्लोकमा भीम बनिस्बत पूछते हैं:

किं वा कृताघेष्वघम् अत्यमर्षी भीमोऽहिवद् दीर्घतमं व्यमुञ्चत् ।
यस्याऽङ्घ्रिपातं रणभूर्न सेहे मार्गं गदायाश्चरतो विचित्रम् ।।३७।।

श्लोकार्थ: गदाको अनेक प्रकार फिरानेवाले जिस भीमके चरण प्रहारको कठिन भूमि भी सहन नहीं कर सकती थी, और जो भीम, अपराधीके अपराधको सर्पवत् क्षमा नहीं करता है उस भीमने बहुत समयसे विचारित वैरका त्याग किया वा नहीं? ।।३७।।

व्याख्याः अपराधियॄको क्षमा न करने वाला भीम, उनका बुरा विचार रहा है क्या? अथवा उनका बुरा विचारनेसे उनके अपराधीको सहन नहीं कर सकता है अथवा 'अघम् इति' पदका भाव यह है कि भीम पाप मति है क्यॄकि अनिष्टका ही विचार उसकी बुद्धिमॄ है और मारनेवाला है. 'अघमत्या' मारूंगा इस बुद्धिसे 'अघं' दण्डरूप अपराधका त्याग न करनेवाला अर्थात् क्षमा न करनेवाले भीमने बैर छोड़ा कि नहीं? स्वल्प भी क्षमा न करनमॄ सर्पका दृष्टान्त दिया है. 'दीर्घतमम्' पदसे यह कहा है कि यह बैर अबका नहीं है किन्तु बहुत समयसे विचारित है अथवा पुत्रादि परम्परा विषयक भी है. ऐसी प्रतिज्ञाका पालन भीमसेनने किया वा नहीं? अथवा अर्जुनने उनको मारा? उनको मारना भीम केलिये अशक्य तो था ही नहीं, कारण कि जिस भीमके चरणका प्रहार कठिन भूमि भी सहन नहीं कर सकती थीं, क्यॄकि भीम कूद कूद कर पृथ्वीपर चरण धरता था जिससे वह कूदना पृथ्वी सहन कैसे कर सकेगी? भीम गदाको अनेक प्रकारसे फिराता हुआ और कूदता हुआ चलता था. गदाका युद्ध ही कूद कर प्रहार करनेके प्रकारका होता है ।।३७।।

आभासार्थ: 'कच्चिद्यशोधा' श्लोकमॄ अर्जुन विषयक प्रश्न करते हैं:

कच्चिद् यशोधा रथयूथपानां गाण्डीवधन्वोपरतारिरास्ते ।
अलक्षितो यत् शरकूटगूढो मायाकिरातो गिरिशस्तुतोष ।।३८।।

श्लोकार्थ: मायासे भीलरूप बने शंकर, जिसके बाणॄके समूहॄसे आच्छन्न होनेके कारण जिसपर प्रसन्न हुए थे, रथॄके समूहॄके पालकॄकी कीर्तिको स्वयं धारण करनेवाले, गांडीव धनुषधारी अर्जुनने अपने शत्रुओॄका नाश कर वह शत्रु रहित हुआ या नहीं? ।।३८।।

व्याख्याः रथ समूहॄके पालकॄकी समग्र कीर्तिको स्वयं धारण करनेवाले अर्जुन. 'यशोहा' पाठ लिया जाय तो, अर्थ किया जाएगा, सबके यशको दूर

फूकनेवाले अर्थात् सबको जीत उनके यशको नाश कर स्वयं यशस्वी बने हुए अर्जुनकी या करनेमे सामर्थ्य है. गाण्डीव धनुषका धारण करनेसे 'यशोधाः' कीर्तिधारी हुवे हैं, सबकी कीर्तिको, उनको मारनेसे स्वयंने ही धारण कर ली है, अथवा उनसे आप ही यशस्वी हैं, इससे यह बताया है कि अर्जुनको शत्रुओसे विशेष सामर्थ्य स्वतः अर्थात् अपनेसे ही है. 'गाण्डीव धनुषधारी' पदसे यह सूचना दी है कि उसके तीनो लोकोमे भी शत्रु हैं, अब बताइये कि उनको नाश कर शत्रुरहित हुए हैं वा नहीं सामर्थ्य बताते हैं, अर्जुन युद्धमे शामिल हो इसलिये मायासे भीलका रूप धारण कर शिवजी युद्धमे खड़े हुए, जिनको अर्जुन पहचान न सके, अतः उनको अपने बाणोसे आच्छादित कर दिया ऐसे सामर्थ्यवालेका जय होनेमे विलम्ब होनेका अन्य कोई कारण नहीं है सिवाय शत्रुओके अभावके. इसलिये संदेह कर पूछते हैं कि इसके जो भी शत्रु हैं वे सब लड़ कर मरनेकेलिये आये वा नहीं? ।।३८।।

आभासार्थ: 'यमावुतस्वित्तनयौ' श्लोकमे नकुल, सहदेवके विषय पूछते हैं:

यमावुतस्वित् तनयौ पृथायाः पार्थैर्वृतौ पक्ष्मभिरक्षिणीव ।
रेमात उद्दाय मृदे स्वरिक्थं परात् सुपर्णाविव वज्रिवक्त्रात् ।।३९।।

श्लोकार्थ: जैसे नेत्र बरौनियो(पलको)से रक्षित हैं, वैसे पार्थोसे रक्षित पृथाके दो जोडवे पुत्र जैसे दो गरुडोने इन्द्रके मुखसे अमृत छीन लिया वैसे युद्धमे शत्रुओसे अपना भाग छीनकर आनन्द कर रहे हैं न? ।।३९।।

व्याख्याः माता और भ्राताओंसे सन्मान और शत्रु जयमे किसी प्रकारका सन्देह नहीं है, तो भी स्वतः आनन्दमे रमण करते हैं कि नहीं? इस प्रकारके सन्देह होनेसे पूछते हैं, ये(नकुल और सहदेव) माद्रीके पुत्र होते हुए भी माद्रीने पृथाको समर्पण कर दिए, अतः पृथाके ही पुत्र हैं. जैसे गरुडोने [१]इन्द्रसे अमृत छीना वैसे अपना भाग शत्रुसे बलसे(जबर्दस्ती) छीन लिया कि नहीं? 'परात्' पदका अर्थ शत्रुसे होता है. किन्तु इन्द्र गरुड़ोंका शत्रु नहीं था, अतः 'परात्' पदका प्रयोग शङ्कावाला है अथवा वैदिक है, या कहनेका भावार्थ यह है कि शत्रुको जीतकर वा बिना जीते दोनो धन लाए।।३९।।

१. इन्द्र मुखपर अमृत धरके पी रहा था वहांसे छीननेमे समर्थ गरूडोने.

आभासार्थ: 'अहो पृथाऽपि' श्लोकमे कुन्तीके विषयमे पूछते हैं:

अहो पृथाऽपि ध्रियतेऽर्भकार्थे राजर्षिवर्येण विनाऽपि तेन ।
यस्त्वेकवीरोऽधिरथो विजिग्ये धनुर्द्वितीयः ककुभश्चतस्रः ।।४०।।

श्लोकार्थः आश्चर्य है कि, जिसका सहायक केवल अपना धुनष ही है ऐसे वीर, सब रथियाृसे अधिक बलवान् जिसने अकेले ही चार दिशाएं जीत लीं, उस उत्तम राजर्षिके बिना पुत्राृके लिए ही कुन्ती प्राण धारण कर रही हैं ? ।।४० ।।

व्याख्याः क्या ? पृथा(कुन्ती) भी प्राणाृको धारण कर रही हैं, पुत्र और धनकी रक्षाकेलिये जीवन धारण कर रही हैं. 'अर्भकार्थे' नपुंसक लिंग होनेसे यह वैदिक प्रयोग है, उस राजर्षिवर्य पाण्डुके(अपने पतिके) बिना जीवित रही हैं ? पतिके होते हुए ही धन और पुत्रकी रक्षा करने योग्य हैं, पति न होनेपर भी उनकी रक्षा कर रही हैं यह आश्चर्य है, उस(पाण्डु)का सामर्थ्य बताते हैं, जिसको शत्रुओंको जीतनेकेलिये अन्यकी सहायताकी आवश्यकता नहीं थी कारण कि वह आप एक ही असामान्य वीर थे. 'वीर' शब्दका तात्पर्य है कि स्वयं ही लड़नेवाले थे, जितने रथी थे उन सबसे यह विशेष बलवान् थे, अतः चारृ दिशाएं जीत लीं, अर्थात् पृथ्वीके सब राजाआृको जीत लिया, सहायता करनेवाला केवल धनुष ही था, अन्यथा बिना धनुषके जो जीत होती है वह मन्त्रादिसे वा सिद्धिसे होती है. वह जय, आश्चर्यकारी नहीं होती है. इसलिये कहा कि इसके पास मन्त्रादि व सिद्धि नहीं थी, किन्तु केवल धनुष ही था ।।४०।।

आभासार्थः अब तक विदुरजीने अपने प्रेमियाृके विषयमृ पूछा, अब द्वेषियाृका वृत्तान्त पूछते हैं, उनमृसे पहले श्लोकमृ धृतराष्ट्रका पूछते हैं:

सौम्याऽनुशोचे तमधःपतन्तं भ्रात्रे परेताय च दुद्रुहे यः ।
निर्यापितो येन सुहृत् स्वपुर्यां अहं स्वपुत्रान् समनुव्रतेन ।।४१।।

श्लोकार्थः हे सौम्य! जिसने मरे हुए भ्रातासे द्रोह किया और पुत्राृके कहनेपर चलकर मुझ मित्रको अपने नगरसे भी निकाला, अपना अधःपतन करनेवाले धृतराष्ट्रका मैं शोक करता हूं ।।४१ ।।

व्याख्याः हे सौम्य! यह सम्बोधन उद्धवसे अपनी मित्रता जतानेके लिये दिया है. जो बात कहने जैसी न हो वह दूसराृके स्थानपर न करनी चाहिये, वह धृतराष्ट्र स्वयं अपने अधःपतनका शोक कर रहा है, शोकका कारण यह है कि उसका अधःपतन हो रहा है. अधःपतन होनेका कारण 'भ्रात्रे परेताय दुद्रुहे', मरे हुए भ्राताका द्रोह करना है, उस भ्राता पाण्डुको जीवित दशामृ भी दुःख दिए, मरनेके

बाद भी उसके पुत्रॄसे द्रोह कर उनका अपकार(बुरा) किया है. मैं जो जीवित भाई हूं उसको भी नगरसे निकाल कर बुराई की है. मैंने तो किसी प्रकार बुराई नहीं की है बल्कि 'सुहृत्' मित्र हूं तो भी निकाल दिया, यदि कहो कि उसके पुत्रॄने निकाला उसने तो नहीं निकाला, फिर उसपर दोषारोपण क्यॄ? जिसके उत्तरमॄ कहते हैं कि **''पुत्रद्वारापि कृतं स्वकृतमेव, यतः पुत्रान् स्वयम् अनुसृतः''** पुत्रॄ द्वारा किया हुआ वह पिता कृत ही माना जाता है क्यॄकि आप अपने पुत्रॄका अनुसरण कर रहा है. इस प्रकार जीवित और मरे हुए भ्राताका अपकार करनेसे इसका अधःपात हुआ है. जिसका मुझे अब तक शोक हो रहा है, अब तक शोक होनेका कोई कारण है? अथवा नहीं है, इसका उत्तर देते हैं कि, वह यह है कि, जिनका बुरा किया उनके गृहमॄ रहकर जीवन व्यतीत कर रहा है।।४१।।

१.मूल श्लोकमॄ 'स्वपुत्रान्' पदका अर्थ यॄ भी किसीने किया है कि स्व-अपुत्रान् अतिदुष्टान् यदि अति दुष्ट न होते तो पितासे ऐसे कर्म कराके उसका अधःपात न कराते.

आभासार्थः जैसे धृतराष्ट्र, पुत्रापराधके कारण शक्तिमान्की उपेक्षा करनेसे अपराधी है, वैसे मुझमे भी उपेक्षा दोषसे दुष्टपन है, ऐसी शङ्का पर निम्न 'सोऽहं' श्लोकमें कहते हैं कि, वासुदेवने जिनको मोहमॄ डाल दिया है ऐसे धृतराष्ट्र भीष्मद्रोणादिको यह भय था कि मैं शत्रुपक्षमें जाकर मिलूंगा, इस शंकाको दूर करनेके लिए जो कुछ मैंने किया, उससे अपना हित ही किया है:

सोऽहं हरेर्मर्त्यविडम्बनेन दृशो नृणां चालयितुर्विधातुः ।
नान्योपलक्ष्यः पदवीं प्रसादात् चराभि पश्यन् गतविस्मयोत्र ।।४२।।

श्लोकार्थः वह मैं, मनुष्याकृतिके अनुकरणसे मनुष्यॄकी दृष्टियॄ (चित्तवृत्तियॄ)को भ्रमित करनेवाले विधाता हरिकी कृपासे इस विषयमॄ विस्मित न होता हुआ फिर रहा हूं, कोई अवधूत वेषके कारण मुझे कोई पहचान भी नहीं सकता है इस प्रकार मैं, उसकी प्राप्तिका उपाय करता हुआ घूम रहा हूं।।४२।।

व्याख्याः धृतराष्ट्र आदिसे इस प्रकार तिरस्कृत होते हुए भी मैं, विधाताकी कृपासे विस्मित न होकर फिर रहा हूं, इस प्रकारका यह मेरा कार्य योग्य है वा अयोग्य है? इस विषयमॄ संदेह है. भगवान् हरि हैं, अतः सबके दुःखॄको हरनेवाले हैं. किस तरह? वह बताते हैं कि **''स हि यथासुखं सर्वान् अभ्युदय-निःश्रेयसादिषु योजयति'**, वे(भगवान्) ही, सुखपूर्वक सबकी उन्नति एवं

मोक्ष आदि ह्यू इसलिये उनकी प्राप्तिके कर्मोंमृ लगा देते हैं, जिनसे मनुष्य उनकी प्राप्ति करें, इसमृ जो, प्रवृत्ति मार्गसे सुखादि प्राप्तिके अधिकारी हैं, वे यदि निवृत्तिसे सुख प्राप्ति चाहते हैं तो उनको भगवान् विशेष मोहमृ डालते हैं. कैसे डालते हैं? वह बताते हैं. मनुष्यृकी सी देहका अनुकरण कर अर्थात् आपकी आकृति ऐसी न होते हुए भी मनुष्यकी देहके समान दिखावा कर मनुष्यृकी दृष्टिको अर्थात् चित्तवृत्तिको भ्रममृ डाल देते हैं, यदि इस प्रकार व्यामोह(भ्रम) उत्पन्न न करें तो मनुष्य सृष्टि कैसे बढ़े? फिर फिर सृष्टि होती रही इसलिये इनको भ्रमाते हैं. जैसे भगवान्को कोई पहचानता या जानता नहीं है वैसे ही मुझे भी इस कृत्रिम(बनावटी) वेषके कारण कोई नहीं पहचानता है, इस कारण ही समझा जा सकता है कि प्रभुकी मुझपर कृपा है. मुझे विस्मय नहीं होता है इससे उनकी कृपा भीतरकी है यृ निश्चय होता है. वैसे बाहर भी उनकी कृपा है जिसका सूचक, लोकका मुझे न पहचानना है, इस कारण ही दूसरे बान्धव गये? व मारे गये, मैं तो निःशङ्क घूम रहा हूं. भीष्म आदि मनुष्यृके अन्तःकरणकी वृत्तियृको जो प्रभु भ्रममृ डाल रहे हैं, उन प्रभुकी कृपासे मेरा अहङ्कार नष्ट हो गया है अतः मैं समझ रहा हूं कि मुझसे जो अपराधादि हुवे, वे उनकी इच्छासे ही हुए हैं, अतः चिन्ता रहित होकर उनकी इच्छा मानता हुआ निरभिमान हो उनकी प्राप्तिका उपाय तीर्थाटन भी उनकी इच्छासे ही कर रहा हूं ।।४२।।

आभासार्थः सर्व प्रकार समर्थ परमेश्वरने कौरवृकी उपेक्षा क्यृ की? जिसका उत्तर 'नूनं नृपाणां' श्लोकमृ देते हैं:

नूनं नृपाणां त्रिमदोत्पथानां महीं मुहुश्चालयतां चमूभिः ।
वधात् प्रपन्नार्तिजिहीर्षयेशोऽप्युपैक्षताघं भगवान् कुरूणाम् ।।४३।।

श्लोकार्थः निश्चयसे तीन मदृके कारण उलटे मार्गपर चलनेवाले, भूमिको बार-बार सैन्यृसे कम्पायमान करनेवाले राजाओंका वध, शरणागतृके दुःखृको हरण करनेकी इच्छावाले, भगवान्ने शक्तिमान् होते हुए भी कौरवृके दुःखृकी उपेक्षा की ।।४३ ।।

व्याख्याः हालांकि भगवान् दुष्टृके नाशार्थ ही अवतरे हैं. तो भी दुर्योधनादिको न मारा, जिसका कारण शरणागत भीमादिकी प्रतिज्ञा पूर्ण करना है. लोकमृ तीन प्रसिद्ध मद हैं १.विद्यामद २.धनमद और ३.कुटुम्बमद. इन तीन मदृसे उलटे मार्गपर चलनेवालृका वध करके भी कौरवृकी उपेक्षा की, क्यृकि

'ईशः' स्वामी हैं उनका वध भक्त द्वारा कराना था, यॄ करानेमॄ समर्थ हैं, अतः इनकी उपेक्षा की ।।४३।।

आभासार्थः उन(भगवान्)की कृपासे सब भगवच्चरित्र जानता हूं, यॄ चरित्र विषयक अपना ज्ञान निरूपणकर इस 'अजस्य' श्लोकसे कहते हैं कि मैं भगवत्स्वरूपको भी जानता हूं:

अजस्य जन्मोत्पथनाशनाय कर्माण्यकर्तुर्ग्रहणाय पुंसाम् ।
नन्वन्यथा कोऽर्हति देहयोगं परो गुणानामपि कर्मतन्त्रम् ।।४४।।

श्लोकार्थः अजन्मा भगवान्का जन्म, उलटे मार्गपर चलनेवालॄके नाशार्थ है, कर्म न करनेवाला होते हुए भी जो भगवान् कर्म करते हैं, जिसका कारण मनुष्यॄको शिक्षा देना है. यदि यॄ न होवे तो जो गुणॄसे भी परे हो, वह कर्माधीन देहसे सम्बन्ध कैसे करें।४४।।

व्याख्याः अजन्मा और अकर्ताका, जन्म और कर्म उलटे मार्गपर चलनेवाले दुष्टॄके नाशकेलिये और सत्पुरुषॄको ज्ञान देनेकेलिये है कारण कि सूर्योदयके बिना अन्धकारका नाश नहीं होता है. भगवान्के सदाचरण किए बिना कोई सदाचारी नहीं हो सकता है, अतः दुष्टॄके नाशार्थ, सुज्ञॄके सम्पूर्णतः पालन करनेकेलिये, भगवान्के जन्म और कर्म, उनके सहज धर्मोंके विरुद्ध होनेपर भी होते हैं, अन्यथा जो भगवान् कर्मकी परतन्त्रतासे परे हैं, वह जन्म लेना कैसे स्वीकार करें? अपनी इच्छासे उत्पन्न की हुई देहमॄ अग्निकी तरह भगवदावेश है. यह साधारण सिद्धान्त विदुरजी जानते हैं. जो गुणॄसे परे हैं वह गुणजनित कर्मोंके अधीन कैसे रहे? यॄ महती विलक्षणता सूचित की है. विदुरजी देह मात्रको कर्माधीन मानते हैं, जैसे सब काष्ठ अनित्य हैं वैसे उसमॄ प्रविष्ट अग्निका भी सुतराम् अनित्य आविर्भाव होता है, यॄ भाव है. अथवा जैसे स्त्रीकी देह पतिके आधीन होते हुए भी पत्नीके जीवके ही आधीन है. वैसे ही ईश्वरस्वीकृत देह भी कर्माधीन ही है, यॄ किसीका मत है. वैसे ही यह(विदुर) भी मानते हैं. इस मतको उद्धवजी आगे दूषित करॄगे ।।४४।।

आभासार्थः इस प्रकार अपनेको जितना ज्ञान था वह कहकर, उससे अधिकारी देहके हेतुभूत वायुके संस्कार हो जानेका निरूपण कर हृदयाकाश भी संस्कारवाला हो, जिसके लिए 'तस्य प्रपन्नाखिल' भगवच्चरित्र पूछते हैं:

तस्य प्रपन्नाखिललोकपानाम् अवस्थितानाम् अनुशासने स्वे ।

अर्थाय जातस्य यदुष्वजस्य वार्तां सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः ।।४५।

श्लोकार्थः हे मित्र ! शरणागत और इन्द्रादि सर्व लोकपाल, जिनकी आज्ञाका पालन करते हैं, उनके कार्य पूर्ण करनेके लिए यादवॄमॄ जन्म लेनेवाले तथा अजन्मा, तीर्थरूप कीर्तिवाले भगवान्का चरित्र वर्णन कीजिए ।।४५ ।।

व्याख्याः सब इन्द्रादि लोकपाल भगवान्के शरणमॄ आए हुए हैं अतः उनके आज्ञानुकारी हैं. वास्तविक जिसका जन्म नहीं, वे भगवान् उनके कार्य करनेकेलिये यदुकुलमॄ आर्विभूत हुए हैं, उनके चरित्रॄको कहिए. यह शङ्का हो कि तुमने तीर्थ यात्रा करनेका सङ्कल्प किया है फिर अन्य वार्ता क्यॄ पूछता है? जिसके उत्तरमॄ कहता है 'तीर्थ कीर्त्तेः' जिनकी कीर्ति तीर्थरूप है ऐसे भगवान् हैं.

हे मित्र! सम्बोधन देनेका अभिप्राय यह है कि, मैं योग्य अथवा अयोग्य जो भी पूछुं वह बताना चाहिए, इस प्रकार विदुरजीको भगवच्चरित्र और भगवदियॄका चरित्र सुननेकी इच्छा हुई तो सत्सङ्ग प्राप्त हो गया, तीर्थ और देवस्वरूपॄके दर्शनादिसे पुण्य समूह प्राप्त किया है. योग्य देह प्राप्त कर अधिकारी बने, इसी प्रकार भगवान्की प्राप्तिके अधिकार सर्गमॄ भूतसर्ग अर्थात् भूतॄकी उत्पत्तिका निरूपण किया ।।४५।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके अध्याय १ की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय २

उद्धवजी द्वारा भगवान्‌की बाललीलाओंका वर्णन

अधिकारार्थसर्गे हि भूतसर्गो निरूपितः।
मात्राणामेव सर्गोऽत्र द्वितीये विनिरूप्यते।।कारि.१।।

कारिकार्थ: प्रथम तथा द्वितीय अध्याय-को परस्पर संगति दिखानेके लिए इस प्रथम कारिकामें दोनों अध्यायोंका अर्थ कहा है, जैसे कि प्रथम अध्याय, अधिकारार्थ सर्गका है, अतः उसमें भूत सर्गका निरूपण किया. द्वितीय अध्यायमें मात्राओंके सर्गका निरूपण करते हैं।।१ ।।

मुख्याधिकारिणो भक्तौ क्रियाज्ञानविभेदतः।
अलौकिकचरित्रेण माहात्म्यं विषयो मतः।।कारि.२।।

कारिकार्थ : क्रिया और ज्ञान के भेदसे भगवान्‌ने जो-जो अलौकिक चरित्र किये हैं उनके माहात्म्यका ज्ञान ही मुख्य अधिकारीको भक्ति प्राप्त होनेमें विषय(मात्रा सर्ग)का कारण माना है ।।२ ।।

क्रिया तु भगवत्येव नान्यत्रेति निरूप्यते।
षड्भिस्तु मनसा तानि षट्कर्माणीन्द्रियैर् यतः।।कारि.३।।

कारिकार्थ: क्रिया तो भगवान्‌में ही है दूसरे स्थान पर कहीं भी नहीं है. [१]तन्मात्राओंका संस्कार छः श्लोकोंसे[२] कहा है क्योंकि इनका संस्कार कर्मेन्द्रियोंसे होता है. मन सहित कर्मेन्द्रियां छः हैं।।।३ ।।

षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नो भगवान् एकएव सः।
सप्ताधिकेन विंशत्या तावन्तो भगवद्गुणाः।।कारि.४।।
तत्त्वतो विषयाः प्रोक्तास् ते देवाः सर्वएव हि।

कारिकार्थ: छः गुणोंके ऐश्वर्यवाले भगवान् एक ही हैं, आठ श्लोकोंसे भगवान्‌के माहात्म्यका वर्णन किया है, बीस श्लोकोंसे भगवान्‌के गुणोंको कहा है. तत्त्वसे वे विषय कहे है क्योंकि वे सर्व देव[३] ही हैं।।४ ।।

कथायां त्रिभिरध्यायैर् अधुनोत्तरम् उच्यते।।कारि.५।।
सामान्यकुशले त्वत्र त्रेधाऽप्युत्तरम् उच्यते।
लोकद्वये च भक्तौ च दुर्भाग्या यादवा इति।।कारि.६।।

कारिकार्थ: अब तीन अध्यायोंसे कथा कहकर, उत्तर[४] देते हैं, यहां

सामान्य कुशलके प्रश्नाॅ तीन तरहसे उत्तर[५] कहा जाता है. यादव दोनाॅ श्लोकाॅ तथा भक्तिमाॅ तीन प्रकारके दुर्भाग्यवाले हैं ।।५-६ ।।

१.तन्मात्राआॅकी सृष्टिमाॅ उद्धवजीके माहात्म्यका वर्णन किया है, पहले भगवान्के माहात्म्यको कहा जिसका विरोध होता है, इस शंकाको मिटानेके लिए 'क्रिया तु' कारिका कही है, जिसका भावार्थ है कि यहां जो उद्धवका माहात्म्य कहा है उसमाॅ भगवान्की क्रिया शक्तिका ही प्रतिपादन है, जिसमाॅ उद्धवके माहात्म्यसे भगवान्के ही माहात्म्यको कहा है अतः विरोध नहीं है.

२.पांच तन्मात्राआॅको छः श्लोकाॅसे वर्णन कैसे? जिसका उत्तर है कि तन्मात्राआॅका संस्कार करनेवाली इन्द्रियां छः हैं अतः छः श्लोकाॅसे निरूपण किया है.

३.छः श्लोकाॅसे जब तन्मात्राओॅकी सृष्टिका वर्णन कहा है, तो फिर २८ श्लोकाॅसे कहनेका क्या प्रयोजन है? इस शंकाके निवारणार्थ यह 'षड्गुणैश्वर्य' कारिका कही है जिसमाॅ बताया है कि आठ श्लोकाॅसे भगवान्का और बीस श्लोकाॅसे उनके गुणाॅका निरूपण किया है अर्थात् जिन संस्कृताॅका ज्ञान होनेवाला है वे सब यादव संस्कृत देव हैं, अतः संस्कार करनेवाले और जिनका संस्कार होता है उनका ज्ञान करानेके लिए यह यहां है.

४.ऊपर शुक तथा व्यासका आशय कहा, इस कथाके विदुर और उद्धवके संवादमाॅ संगति समझाते हैं, इस प्रश्नोत्तररूप संवादमाॅ चार अध्याय हैं ये सामान्य संगति है.

५.समान्य कुशलके प्रश्नका उत्तर तीन तरहसे २८ श्लोकाॅसे दिया है. शेष दस श्लोक चरित्र विषयक तीसरे प्रश्नके उत्तरमाॅ कहे हैं.

आभासार्थ : वहां पहले विदुरजीने उद्धवजीसे प्रश्न किये किन्तु उद्धवजी ने उत्तर नहीं दिए. जिसका कारण इन निम्न दो कारिकाआॅमाॅ देते हैं:

भक्त्युद्रेकोद्धवे षड्भिः तादृशोक्तं फलाय हि ।
अशक्तिर् भक्तिलिङ्गं हि हेतूक्त्या तस्य साधनम् ।।कारि. १।।
सर्वव्यापाररहित्यं भक्तिलिङ्गस्य दर्शनम् ।
तथापि कृष्णमाहात्म्य-कथनाय समुद्यमः।।कारि. २।।

कारिकार्थ : द्वितीय अध्यायके छः श्लोकाॅसे उद्धवजीमाॅ भक्तिका उद्रेक (विशेष वृद्धि) हो जानेसे यह सूचित किया कि ऐसी दशा होनेपर ही फल प्राप्ति होती है. उद्धव विदुरको उत्तर देनेमाॅ असमर्थ हुए जिसका कारण भक्तिका उद्रेक है, जब भक्ति बढती है तब याॅ हो जाता है, यह भक्ति बढ जानेका चिह्न है. अशक्तिके कारण उद्धवजीका स्वभाव वर्णन किया वह ही उसका साधन है ।।१।।

सर्व प्रकारकी क्रियाआृसे रहित हो जाना, भक्तिके चिह्नका दर्शन है. ऐसी दशा होते हुए भी उद्धवजीने श्रीकृष्णके माहात्म्य कहनेके लिए उद्यम किया ।।२।।

आभासार्थ : इस प्रसंगको एक श्लोकमृ शुकदेवजी उसकी अशक्ति कहते हैं.

श्रीशुकः उवाच

इति भागवतः पृष्टः क्षत्त्रा वार्तां प्रियाश्रयाम् ।

प्रतिवक्तुं न चोत्सेह औत्कण्ठ्यात् स्मारितेश्वरः।।१।।

श्लोकार्थः इस प्रकार विदुरजीने प्रियके आश्रयवाली कथा भक्त उद्धवजीसे पूछी तो भी भगवान्का स्मरण हो जानेसे, उनसे मिलनेकी लालसासे उत्तर देनेके लिए उत्साहित नहीं हुए ।।१ ।।

व्याख्याः 'इति' शब्द देनेका तात्पर्य यह है कि, प्रथम अध्यायका अर्थ, विशेष प्रकारका होनसे नहीं कहा जा सकता है. न कहनेका कारण 'भागवतः' उद्धव भक्त हैं अतः वह कह नहीं सके, दूसरे होते तो कह सकते थे. ऐसी अवस्थामृ भी यदि भक्तसे पूछा जाए तो भगवान्की तरह, उसकी शक्ति भी अन्तर्हित हो जाती है. इसपर भी उद्धवजीसे उस कुशलसे प्रश्न किया गया है जो जानता नहीं है, अर्थात् जाननेकी इच्छासे ही जाननेवालेसे पूछा है वह कहते हैं कि 'पृष्टः क्षत्त्रा', वह विषय क्षत्त्राने पूछा है. जो वार्ता पूछी है वह वार्ता प्रियके आश्रयवाली है, अर्थात् उस कथामृ प्रीतम विराजमान हैं, उत्तर देनेपर वह प्रियाश्रय रहित हो जाएगी फिर निराश्रय कथा कोई नहीं कह सकता, अतः कहते हैं कि ''प्रियाश्रयां(कथां) प्रतिवक्तुं नोत्सेह इति'', प्रियके आश्रयवाली कथाके उत्तर देनेका उत्साह नहीं हुआ. 'च' पदका भावार्थ यह है कि उद्धवजी विदुरको याृ कहनेकेलिये भी शक्तिमान् न हुए? कि 'यह कथा मत पूछो'. उद्धवजीको उत्तर देनेका उत्साह क्याृ न हुआ? क्या उनकी इन्द्रियाृमृ सामर्थ्य नहीं थी? वा ज्ञान नहीं था, जिसकेलिये कहते हैं कि इन्द्रियाृमृ सामर्थ्य थी और ज्ञानांश भी उत्तर देनेमृ सहायता कर सकता था, किन्तु क्रिया करनेवाला जो मन है उसमृ उत्साह नहीं था अतः उद्धवजीको उत्साह नहीं हुआ बल्कि, कथाके आश्रय(भगवान्)को ढूंढनेके लिए प्रवृत्त चित्तने भगवान्का स्मरण करनेकेलिए. उत्कण्ठा(लालसा) पैदा की, इससे यह सूचना दी कि भक्ति ही वाणीके प्रतिबंध करनेमृ कारण बनी, और

ईश्वरका भाव(भक्ति) होनेसे प्राण न निकले ।।१।।

आभासार्थ: उद्धवजीको कहनेमृ अशक्त होना भक्तिका चिह्न है. दो श्लोकृसे भक्तिके हेतुकर उद्धवजी भक्त हैं वह सिद्ध करते हैं:

यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः।

तन्नैच्छद् रचयन् यस्य सपर्यां बाललीलया।।२।।

श्लोकार्थ : जो पांच वर्षकी आयुमृ बाल क्रीडामृ भी जिसकी सेवा करते हुए उसमृ ऐसे मग्न हो जाते, जो माता, प्रातः भोजनके लिए बुलाती तो भी नहीं आते ।।२।।

व्याख्या: पांच वर्षका होते ही सेवाका अधिकारी होता है. बालकको सवेरेका भोजन सारा दिन बलदायक है, माताका प्यार उसमृ उत्साह पैदा करता है, वे दो ही इसमृ पहले ही नहीं थे. बल तो भगवत् सेवासे ही प्राप्त था, उत्साह तो क्रीड़ासे ही होता था, इस समय उद्धवजी बालक नहीं थे यह बालकपन जो कहा वह उस समयका वर्णन है . वे दो ही अब नहीं अतः न बल है और न उत्साह है. इसलिए ही(सेवा न करनेसे अशक्ति होती है, यही भक्तिकी श्रेष्ठता सिद्ध करता है.) अशक्ति भक्तिका चिह्न है, इसमृ यह बताया है कि इसके हस्तकी क्रिया भगवान्मृ ही निरूपित थी, मनकी क्रिया तो प्रथम श्लोकमृ स्पष्ट बताई है. 'मात्रा याचितः', माताने भोजन करनेके लिए बुलाया तो उसकी उपेक्षा की. उसमृ यह सूचित किया है कि उद्धवजीने लौकिक(माता ने भोजनके लिए बुलाया वहां न गए भोजन न किया यह लौकिक उपेक्षा, माताकी आज्ञा न मानना यह वैदिककी उपेक्षा.) और वैदिक दोनृ धर्मोंकी परवाह नहीं की है, भोजनकी इच्छा न करनेसे यह सूचित किया है कि लौकिक पदार्थोंसे भगवदीय पदार्थ अति बलवान् हैं, उद्धवजी बाल्यावस्थामृ बालकृकी तरह अन्य क्रीड़ा न कर, भगवत्सेवाको ही अपनी क्रीड़ा समझते थे. खेलनेके लिए पहले भगवान्के बिराजनेकेलिये यह स्थान बनाते थे, फिर वहां भगवान्को विराजमान कर राजोपचारृसे सेवा करते थे, यही उनकी बचपनमृ क्रीड़ा थी।।

आभासार्थ: इस प्रकार अशक्ति भक्तिका चिह्न है, ऐसे निरूपणकर प्रकृत विषयमृ उसका हेतु कहकर अशक्ति सिद्ध करते हैं:

स कथं सेवया तस्य कालेन जरसं गतः।

पृष्टो वार्तां प्रतिब्रूयाद् भर्तुः पादावनुस्मरन्।।३।।

श्लोकार्थ : उस(भगवान्)की सेवा करते हुए काल व्यतीत होते- होते उद्धवजी वृद्ध हो गए तब स्वामीकी वार्ता पूछनेमॅ आई, जिससे उसके(स्वामी) चरणॉका स्मरण हो जानेसे कैसे उत्तर दे सकॅ ।।३ ।।

व्याख्या: उद्धवजी केवल बचपनमॅ ही ऐसे थे यॉ नहीं है, किन्तु जन्मसे लेकर भगवदीय पदार्थोंसे उनको शक्ति प्राप्त होती थी, क्यॉकि सेवा करते हुए ही वे वृद्ध हो गए थे, इससे यह बताया है कि उनकी सेवा बुढापा न आवे, इसकेलिए भी प्रभावशाली नहीं थी, आनुषङ्गिक फल अर्थात् भक्तिका गौण फल बुढापेका न होना वह भी न हुआ, क्यॉकि काल बलवान् है, अत: समझानेपर वृद्धत्व आ गया, पूर्व सिद्ध जो शक्ति हेतु सेवा थी, वह भी अब नहीं है, तो फिर उत्तर किस प्रकार दॅ? यों शक्तिके लिए प्रश्न है इस कारणसे ही वार्ता कैसे कहॅ? आगे भी वार्ता पूछी तो भी भगवान्का महात्म्य कहॅगे, वह(माहात्म्य) तो सदैव भगवान्के आधारवाला ही है, अर्थात् माहात्म्यमॅ भगवान् विराजते ही हैं, कारण कि माहात्म्य अलौकिक है, वार्ता लौकिकी है, माहात्म्य कहनेमॅ भक्तिका भी विरोध नहीं है, माहात्म्यश्रवण भी प्रकारान्तरसे भक्ति करना ही है, जैसा कि 'भर्तुः पादावनुस्मरन् इति'. उस श्रवणमॅ स्वामीके चरणॉका ही स्मरण होता रहता है. 'भर्तुः'(पति) पदसे यह बताया है कि उसकी यह लीला श्रुतियोंसे(''भर्ता सन् म्रियमाणो बिभर्ति'', पति होकर लालन पालन कर पोषण करते हैं तै...श्रुति) सिद्ध एवं उचित ही है. 'पादौ' द्विवचन पदसे, भक्तिमार्गकी स्थापनाका सूचन किया है, 'अनुस्मरन्' पदमॅ 'अनु' उपसर्ग देकर कहा है कि उपदेशका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये, इससे यह सूचना दी है कि बाहरके वाणीरूप इन्द्रियका विषय (जिसकेलिये पूछा है और जिसका उत्तर देना है वह पृथ्वीपर नहीं विराजते हैं.) अब यहां नहीं हैं ।।३।।

आभासार्थ: केवल वाणीरूप इन्द्रियॉमॅ शक्ति नहीं है, किन्तु सर्व इन्द्रियॉमॅ नहीं है यॉ बतानेकेलिए निम्न श्लोक 'स मुहूर्त्त'मॅ बताते हैं कि सर्व क्रियाओंसे रहित हो गए हैं:

स मुहूर्त्तम् अभूत् तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम् ।
तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधु निर्वृतः ।।४।।

श्लोकार्थ : तीव्र भक्तियोगसे कृष्णके चरणकमलकी सुधामॅ निमग्न हो जानेसे बहुत सुखी हो, एक मुहूर्त्त मौन धारण कर लिया ।।४ ।।

व्याख्या: उस मौनावस्थामृ भगवत्स्वरूपमृ स्थित हो रहे थे, कारण कि वह मौन धारण कलारूप था, अतः उस समय भगवच्चरणका स्मरण उनको भगवत् सान्निध्यमृ ले गया. 'तूष्णीम्', मौन धारण कहनेसे बताया है कि सर्व इन्द्रियाृकी क्रियाके त्यागी बन गए, तब उस समय उनकी सद्योमुक्तिकी दशा हो गई है, वह कहते हैं कि 'कृष्णाङ्घ्रिसुधया निर्वृतः इति', श्री कृष्णकी सुधाकी प्राप्तिसे आनन्दित हो गए अर्थात् मुक्त हो गए अर्थात् ब्रह्मानन्दको प्राप्त हुए. 'सुधा' पदसे यह बताया है कि न तो भगवच्चरणाृमृ उनके प्राणका लय हुवा और न भगवत् स्मरण होनेसे उनके आनन्दका आविर्भाव हुआ, कारण कि विदुरने भगवत् सम्बंधि प्रश्न किया, जिससे भगवान् भूतलपर अब प्रकटरूपसे विराजमान नहीं हैं, इस प्रकारका स्मरण होनेसे आनन्दका आविर्भाव नहीं हुआ एवं 'सद्यो'मुक्ति होते हुए भी प्राण लय न हुए, उसकेलिये उपाय कहते हैं कि तीव्र भक्तियोगसे व अच्छी तरह भगवान्मृ 'नितरां' मग्न हो गये थे, जिससे वे बाहर निकल नहीं सकते थे, अर्थात् बाहरके व्यापारसे सम्बद्ध तोड़ देनेकी सामर्थ्य उनमृ आ गई थी. यह भक्ति, प्रेमलक्षणा थी, अर्थात् जिस भक्तिमृ कर्म व ज्ञानका आश्रय नहीं है वह सहज भाववती है, वह सर्वदा ही भगवत् प्राप्तिका उपाय बनी हुई है. इससे यह सूचित किया है कि इस अवस्थामृ भक्तकी क्रियारूप स्पर्शेन्द्रिय लौकिक विषयाृसे निवृत्त हो जाती है तो अन्य कर्मेन्द्रियाृका शिथिल होना स्वतः समझ लेना चाहिए, याृ कहनेसे भक्ताृका विषय क्या है? यह निरूपण किया अर्थात् भक्तकी प्रेमा भक्ति ही है ।।४।।

आभास: इस प्रकार भक्तकी बाहरकी सर्व क्रियाएं निवृत हो गईं, यह निरूपणकर यह बताया कि इस प्रकारकी क्रियाआृकी निवृत्ति भक्तिका चिह्न प्रकट करनेवाली है, अन्यथा वह निरर्थक है जिसका वर्णन निम्न श्लोकमृ करते हैं:

पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्गो मुञ्चद् मीलद्दृशाऽशुचः।
पूर्णार्थो लक्षितस् तेन स्नेहप्रसरसम्प्लुतः ।।५।।

श्लोकार्थ : उस समय उद्धवजीके सर्व अंग पुलकित हो गए थे एवं बंद आंखाृसे आंसु बह रहे थे, वे स्नेहके पूरमृ डूबे हुए थे ऐसे दर्शन उनके हुए ।।५ ।।

व्याख्या: उद्धवजीके सर्व अंगाृमृ रोमांच खड़े हो गए थे, इससे सूचित किया कि वे, भीतर आनन्दसे पूर्ण हो गए हैं .वह आनन्द बाहर भी निकल रहा है,

यॄ जतानेकेलिए कहते हैं कि बन्द नेत्रॄसे आंसू बहा रहे थे. 'मीलत्'(बंद)पदसे सूचित किया है कि उद्धवजी हृदयके भीतर भगवान्के आनन्दका स्वाद ले रहे हैं, न कि जैसे जलमॄ डूबे हुएको केवल जलमॄ डूबना ही उसका स्वाद है वैसे उद्धवजी नहीं थे, वह आनन्द, शोकको मिटाकर, अश्रुरूपसे बाहर निकल रहे हैं. इस भक्तिके चिह्नको रोमाञ्चॄकी उत्पत्ति कहकर उनके चिह्न बताते हैं कि 'पूर्णार्थो लक्षितः'. ये उद्धवजी, आनन्दरूप भगवान्से परिपूर्ण हो गए हैं, नेत्रॄसे आंसुओॄके गिर जानेसे ऐसे दीखते हैं अथवा विदुरजी उनको ऐसा समझ रहे हैं, कि उनकी भक्ति देखकर अपने(विदुरजी)मॄ भक्ति उत्पन्न हो गई है, वह भक्ति अपनी आत्माको व्याकुल करती थी, भक्तिके बलवान् पूर होनेसे ये(उद्धवजी) समग्र प्लावित हो गए हैं यॄ भी लक्षित किया जाता है. 'प्लावित' पदका अर्थ यहां डूबना नहीं होगा क्यॄकि भक्ति डूबती नहीं है इसलिए स्नेहका वेग(पूर) कहा है. शास्त्रानुसार उत्पन्न भक्ति तो कार्यानुरूप ही प्रकट होती है, इससे विसर्जन (आर्द्र.) क्रियाका निरूपण किया. इस प्रकार ही सर्व इन्द्रियॄको (इन्द्रियॄसे लौकिकविषयॄका विसर्जन.) भगवद्विषय प्राप्त हुआ ।।५।।

आभासार्थ: वैसे भी उद्धवजी भगवान्के दर्शनसे उनका आश्रय प्राप्तकर भगवान्का माहात्म्य कहनेकेलिए भगवदिच्छासे विदुरको कृतार्थ करनेकेलिए, आश्रयभूत भगवान्को साथमॄ लेकर ही सावधानतापूर्वक आए यॄ 'शनकैः' श्लोकमॄ बताते हैं :

शनकैर् भगवल्लोकाद् नॄलोकं पुनरागतः ।
विमृज्य नेत्रे विदुरं प्रत्याहोद्धव उत्स्मयन्।।६।।

श्लोकार्थ: उद्धवजी भगवल्लोकसे धीरे-धीरे फिर मनुष्यॄके लोकमॄ आए और नेत्रॄको पौंछकर हंसते हुए विदुरको उत्तर देने लगे ।।६ ।।

व्याख्या: शनकैः(धीरे-धीरे) पदसे उनकी(उद्धवजीकी) सावधानता कही है. 'भगवल्लोकाद्' पदसे यह सूचित किया है कि उद्धवजीको केवल भगवत् स्मरण नहीं हुआ है, किन्तु व्यापि-वैकुण्ठमॄ जाकर वे मनुष्यलोकमॄ फिर आए हैं. 'पुनः'(फिर) पदसे यह जताया है कि उद्धवजी पहले भी भगवल्लोकसे आए हैं, यदि यॄ न होता तो 'स्वधामनयमामपि', उद्धवजीकी यह कामना कि मुझे भी अपने धाममॄ ले चलॄ, ऐसी प्रार्थना निष्फल हो जाए वहांसे आए क्यॄ? जिसके उत्तरमॄ कहा है कि पहले भगवान्की आज्ञाका पालन करनेकेलिए आए

थे, अब भक्तके पालनार्थ पधारू हैं. नेत्रूको पौंछ कर, कहनेका भावार्थ है, कि जैसे जीव सुषुप्तिमू भगवान्के पास जाकर नींद खुलनेसे उठकर लोकमू आता है, वैसे ही आप भी आए हैं. जैसे अल्प(साधारण) मनुष्य किसीका काम करनेकेलिए आए तो उनको गर्व होता है वैसे उनको(उद्धवजीको) नहीं हुआ, अतः हंसते हुए उत्तर देने लगे. 'उत्' पदसे सूचित किया है कि हास्यके कारण आपका मुख खुल गया था, जिससे निरहङ्कारता प्रकट हुई ऐसे निरहङ्कारी बन कर उत्तर दिया ।।६।।

आभासार्थ: 'कृष्णद्युमणि' इस एक श्लोकसे साधारण उत्तर देते हैं:

उद्धवः उवाच

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण हि ।
किं पुनः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम्।।७।।

श्लोकार्थ: उद्धवजीने कहा कि श्रीकृष्णरूप सूर्यके अस्त होनेसे, अजगर(अंधकार)ने घरूको निगल लिया है, जिससे सर्व 'श्री'(कान्ति) रहित हो गए हैं, ऐसी दशाका वर्णन करते हुए क्या कुशल कहूं ? ।।७।।

व्याख्याः सदानन्द स्वरूप श्री कृष्ण सर्वदा सूर्य ही(प्रकाश करनेवाले ही) हैं, सूर्य कभी भी पृथ्वीपर नहीं आता हैं वहां रहते हुए ही इस जगत्को प्रकाशित करता है वैसे ही भगवान् भी व्यापिवैकुण्ठमू ही विराजते हुए 'अस्मदादिरूप' पृथ्वीको प्रकाश देते हैं. वे अपने ऊपरके भागमू स्थित और जो उनसे बहिर्मुख नहीं हैं उनको प्रकाशित करनेकेलिए यहांसे अस्त हो गए हैं. उनके अस्त होते ही पहले उससे प्रकाशित समस्त जगत्को अन्धकारने ग्रस लिया है. यह अंधकार आधिदैविक[1] अजगर है. लोकमू जो यह अंधकार देखा जाता है वह अधिक भौतिकतम[2] है. ''**हतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते**'' 'अंधकारसे परिहत रूपवाला तेज वायुमू लीन हीन हो जाता है वह आध्यात्मिक'[3]. आत्माको निद्रा लानेवाला तम(अन्धकार) आधिदैविक है. 'महत्तत्त्व' तो मुख्य ब्रह्मा है, वह अज है तो भी उसको निगल जाता है अत: इस(तम)को 'अजगर' कहते हैं अर्थात् अजको(ब्रह्माको) निगलनेवाला, जब भगवान्के प्रकाशका अवसान होता है अर्थात् भगवान्का प्रकाश नहीं होता है तब उसने ही ये भक्षण किए हैं वे ही जिनकी मुक्ति नहीं हुई जो भगवत्के भक्त नहीं हैं उनका भक्षण करनेकेलिए इसको नियुक्त(मुकर) किया है, यह अर्थ 'हि' पदसे कहा है. यदि 'हि'के

स्थानपर 'ह' पद होए तो उसका भावार्थ यह होगा कि भगवदियॄकेलिए ँयह महदाश्चर्यकी बात है, कुशल विद्यमान होएं तो कहा जाए इतना तो हो गया अर्थात् 'कान्ति' नष्ट हो गई, यह होनेपर भी यदि कुशल रहा हो तो उसको मैं नहीं जानता हूं, ऐसी अवस्थामॄ फिर क्या कुशल कहूं? किञ्च सर्व कुशल, लक्ष्मी और भगवान्का कार्य है उनमॄ भगवान्ने कुछ कुशल नहीं किया है, लक्ष्मीजी घरमॄ और स्त्रियॄ मॄ कुशल करती हैं, वह लक्ष्मी भी भगवान्के साथ गईं, जिससे सर्व घर भी श्रीरहित हैं, तब क्या कुशल कहूं? इस प्रकार सर्व कुशलॄकी निवृत्ति हो गई है, मैं ही अब ऐसा रहा हूं जिसको देखकर ही कुशलताका अनुमान लगा लो इससे जो जानना हो वह जान लो कहनेके लिए शेष कुछ नहीं बचा है ।।७।।

१.मूल अविद्याका स्वरूप जो देवमॄ विद्यमान है. २.भौतिक तेज(दीपक आदि) जिसको ग्रस लेता है. दीपक जला, अंधकार मिट गया. ३.भूतरूप सर्व तेजमात्रको हरण करनेवाला तम आध्यात्मिक है. ४.भगवदीयॄमॄ क्रान्ति(तेज) न रहे.

आभासार्थ: भगवान्ने उनके ऊपर स्वयं उपकार क्यॄ न किया? इस शंकाके निवारणकेलिए 'दुर्भगो' यह श्लोक कहते हैं:

दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि।
ये संवसन्तो न विदुः हरिं मीना इवोडुपम्।।८।।

श्लोकार्थ: खेद है. यह श्लोक तो अभागा है ही, जैसे पास रहनेवाले चन्द्रमाको मछलियॄके न पहचाननेसे मन्द भागी हैं वैसे ही ये यादव पास रहते हुए भी हरिको न पहचान सके अतः वे सर्वदा मन्द भागी ही हैं ।।८ ।।

व्याख्या: तामस आदि गुणॄके कारण वे भगवान्को नहीं जानते हैं उनमॄ भगवान्के स्वरूपका सामान्य अज्ञान है, तथा झूठा अज्ञान एवं विरोधी ज्ञान है. इसलिए भगवान्ने उनपर उपकार नहीं किया, उनमॄ भगवान्के सम्बन्धमॄ जो सामान्य अज्ञान है, उसका हेतुपूर्वक प्रतिपादन करते हैं. यह लोक अर्थात् भूलोक(पृथ्वीपर रहनेवाले मनुष्य मात्र) दुर्भागी है, अतः खेद है. यदि भाग्य होता तो भगवान्के पधारनेपर उनके साथ जाते, यहां न रहते, अल्पभागी हैं किन्तु अभागी नहीं है, क्यॄकि यदि अभागी हो तो इतना समय भगवान्के साथ रह अनुभव न करते, अतः भगवान्का अनुभव करनेसे अभागी नहीं हैं. किञ्च विधवा स्त्री अथवा त्यागी हुई स्त्रीके समान यह लोक भी दुर्भग है, इतना समय भाग्य रहित था किन्तु दूसरी भूमिमॄ, यहां तो मनुष्य लोकसे भगवान्के साथ

वासकर अनुभव(आनन्द) लिया अब नहीं है, अतः यह लोक अल्प भाग्यवान् है, अभागा नहीं है, यादव तो नेत्र होते हुए भी कूपमॄ गिरे अतः वे बहुत मन्दभाग्यवाले हुए. चारॄ तरफसे मृत्यु प्राप्त करनेवाला यह लोक है, किञ्च यादव तो परस्पर वध कर वैसे हुए, कहनेका यॄ भाव है.

श्लोकके उत्तरार्धसे यादवॄका अन्धत्व सिद्ध करते हैं. जो यादव भगवान्के साथ एक ही स्थानपर रहते हुए भी उनको न जान सके, यदि पहचाना हो तो कौनसा लाभ होता है? इस शङ्काका उत्तर दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि न पहचाननेसे विपरीत फल हुआ. अर्थात् भगवदानन्दका लाभ(विमोक्ष) न मिला, (मीना इवोडुपम्). जैसे मत्स्यॄ(मछलियॄ)ने चन्द्रमाको न पहचाना तो अपना अमरत्व गवांया, पूर्व समयमॄ मत्स्य और चन्द्रमा दोनॄ समुद्रमॄ साथ रहते थे, तो भी चन्द्रमामॄ कौन सा गुण है, उसे जान न सके, चन्द्रमा अमृतसे भरपूर होनेसे नक्षत्रॄको सदैव चन्द्रमा न होनेपर भी उससे प्रकाश मिलता ही है. यह चन्द्रमाके अमृतत्त्वका चिह्न है. मत्स्यॄने साथ रहकर भी चन्द्रमाको नहीं पहचाना, जिससे अमृतकेलिए प्रार्थना नहीं की, यदि प्रार्थना करते तो अमृतपानसे अमर बन जाते. वह(चन्द्रमा) अमृतका निधि है, अमृत देनेमॄ समर्थ है, किन्तु प्रार्थना नहीं की, जिसका मूल कारण अज्ञान ही है, अमृत प्राप्तिके अभावसे मत्स्य सर्व प्रकारसे नष्ट होते हैं, इसी तरह यादव साथ रहते हुए भी भगवद् स्वरूपको न जान पाए जिससे मोक्षरूप फलसे वञ्चित हो गए अर्थात् चारॄ तरफसे मरते रहे. जैसे चन्द्रमाके तिरोहित होनेपर भी तारे चमकते हैं, वैसे ही भगवान्के तिरोहित होनेपर भी ये यादव प्रकाश पाते,(यदि उनको जानते तो) कारण कि भगवान् सर्व दुःखहर्ता हैं ।।८।।

आभासार्थ: मत्स्यॄमॄ तो ज्ञान नहीं था जिससे वे चन्द्रको न पहचान सके, ये तो पहचाननेकी ज्ञानशक्ति धारण करते हैं तो भी न पहचान सके यह 'इङ्गितज्ञाः' श्लोकमॄ कहते हैं:

इङ्गितज्ञाः पुरुप्रौढा एकारामाश्च सात्वताः।
सात्वताम् ऋषभं सर्वे भूतावासम् अमंसत ।।९।।

श्लोकार्थ: संकेतको जाननेवाले बहुत निपुण भगवान्के साथ ही आराम करनेवाले सर्व यादव, वैष्णवॄके पतिको सर्व भूतोमॄ निवास करनेवाले हैं, यॄ जानते थे ।।९ ।।

व्याख्याः भगवान्की चेष्टाको भी समझते हैं, कभी भगवान् कुछ करनेकी इच्छासे किसी दिशाकी तरफ देखते थे तो ये समझ जाते थें कि भगवान् यह कार्य करेगृ. इसी तरह उनकी(यादवृकी) ज्ञानशक्ति प्रकट की. 'पुरुप्रौढा' पदसे सूचित किया है कि, ये(यादव) अतिशय क्रिया शक्तिवाले भी थे, ज्ञान और क्रिया दोनृ शक्ति युक्त होनेसे ही भगवान्के साथ एक ही स्थानपर आराम करते थे, यह दोनृ शक्तियृ(ज्ञान और क्रिया शक्ति)का फल है. 'सात्वताः' पदसे वैष्णव कहे हैं. इसी तरह लौकिक प्रकारसे ज्ञान–क्रियाके फल स्वरूप भक्तियुक्त होनेपर भी नहीं जान सके(जानते हैं), जिसका कारण कहते हैं कि 'सात्वताम् ऋषभम्', समस्त वैष्णवृका स्वामी, मुक्तृकी भी कामनाओृको पूर्ण करनेवाले, भूतृमृ आवासवाले(पंचभौतिक देहमृ स्थित अथवा कारणभूत देहमृ स्थित) जानने लगे, इससे सूचित किया है कि इनमृ विपरीत ज्ञान स्थित हुआ है अतः जाननेकेलिए भी प्रयत्न नहीं करते हैं, यृ भाव है ।।९।।

आभासार्थः इसी तरह उक्त दो श्लोकृसे यादवृको भगवान्का अज्ञान और भगवान् भी हमारे समान यादव हैं, ऐसा अन्यथाज्ञान प्रतिपादन कर भगवान्का तो यादवृमृ प्रेम है, यह कहकर निम्न श्लोकसे द्वेषका प्रतिपादन करते हैं:

देवस्य मायया स्पृष्टा ये चाऽन्यद् असदाश्रिताः ।
भ्राम्यते धीर् न तद्वाक्यैर् आत्मन्युप्तात्मनो हरौ ।।१०।।

श्लोकार्थः जिनपर भगवान्की व्यामोहिका मायाका प्रभाव पडा है, और जिन्हृने असत् पुरुषृका आश्रय किया है, उनके वाक्यृसे आत्मरूप भगवान्मृ जिनकी आत्मा मिल गई हैं उनकी बुद्धि भ्रमित नहीं होती है ।।१० ।।

व्याख्याः ज्ञानस्वरूप देवकी व्यामोहिका मायाका प्रभाव जिनपर पड़ा है, वे अपने और ईश्वरके स्वरूपको जानते नहीं हैं, अतः पशु जैसे भगवान्से व्यवहार करते हैं, वैसे वे भी करते हैं और जिनपर मायाका विशेषरूपसे प्रभाव पड़ा है ऐसे जो शिशुपाल आदि हैं वे तो भगवान्से द्वेष ही करते हैं एवं ऐसे जो दूसरे दुष्ट हैं वे भगवान्से सम्बन्ध तोड़ देते हैं, और दुष्टृका आश्रय कर लेते हैं, अथवा कितने ही ऐसे होते हैं, जो दूसरे देवृका आश्रय लेते हैं, जिस कारणसे उनमृ कुछ गर्व उत्पन्न होता है, इससे भगवान्से विमुख बन जाते हैं. 'च' पदसे यह सूचित किया है कि दूसरे ऐसे हैं जो सर्व प्रकारसे भगवान्के पदके योग्य नहीं हैं, ऐसे दुष्ट पाखण्डी लोग

भगवान्‌की निन्दाके ही आश्रित होते हैं, अर्थात् वे स्वयं तो भगवन्मार्गको जानना चाहते हैं उनको भी भगवान्‌की निन्दाकर सन्मार्गसे गिराकर नाश करते हैं. यदि यॄ है तो सबका नाश हो गया, तब भगवान्‌के अवतार लेनेसे कोई लाभ नही हुआ इस प्रकारकी शङ्का मिटानेकेलिये श्लोकका उत्तरार्ध कहा है. जिनकी वे सबकी बुद्धिको भ्रमित नहीं कर सकते हैं, जिनकी भगवान्‌मॄ दृढ़ भक्ति नहीं है, शास्त्र नहीं जानते हैं, वे ही उनके वाक्य मानकर भ्रमित होते हैं, और हमारे समान आत्मरूप भगवान्‌मॄ जिन्हॄने अपनी आत्माको बो दिया है, वे उन दुष्टॄके असत् वचनोंसे भ्रमित नहीं होते हैं. एकवचन देनेका आशय है कि ऐसे मिलने कठिन हैं. पृथ्वीमॄ हल लाकर बादमॄ उसमॄ बीज डाला जाता है, बीज अंकुर रूपमॄ जब आता है, तब वह वायुसे नहीं उड़ता है, उड़ता वह है जिसकी जड़ नहीं है, विना जडके तृणादि पृथ्वीपर पडा हो, वह उड़ जाता है. 'आत्म' शब्दसे अन्तःकरणकी शुद्धता कही है. जिन लोगोंने स्वंय अपने चित्तको भगवान्‌के चरणॊंमॄ बो दिया है. उस बोये हुएके किसीके भी चित्तको भगवान् दूर नहीं करते हैं, क्यॊंकि हरि होनेसे सर्व दुःख हरनेवाले हैं. अत यहां 'हरौ' पद दिया है ।।१०।।

आभासार्थ: इसलिए ही भगवान् अपने स्वरूपका परिचय प्राप्त करानेके वास्ते पधारे थे, किन्तु लगभग सबको ही अनधिकारी समझ, अपने स्वरूपको छिपा दिया, यॊं 'प्रदर्श्य' श्लोकमॄ कहते हैं:

प्रदर्श्याऽतप्ततपसाम् अवितृप्तदृशां नृणाम् ।
आदायाऽन्तरधाद्यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम् ।।११।।

श्लोकार्थ : जिन्हॊंने तपस्या कर अपना देह परिपक्व(शुद्ध) नहीं किया है जिसके नेत्र दर्शनसे तृप्त नहीं, ऐसे मनुष्यॊंके लोकके ज्ञानरूप अपने स्वरूपका दर्शन कराके फिर उसको अन्तर्ध्यान कर दिया ।।११ ।।

व्याख्या: भगवान्‌से स्वयं प्रकट होकर तपस्या रहित अपक्व(कच्चे) लोगॊंको अच्छी तरह दर्शन कराके, उनकी दृष्टि तृप्त भी नहीं हुई इतनेमॄ आपने अपने स्वरूपको छिपा लिया. जब वे तपस्या रहित होनेसे अपक्व थे और कोई ऐसा साधन भी नहीं किया था, जिससे भगवत् दर्शनके योग्य होवॄ, तो आपने ऐसॊंको दर्शन क्यॊं दिए? भगवान्‌ने सोचा कि यदि हम अच्छी तरह दर्शन न देगॄ तो मुझपर उपेक्षाका दोष लगेगा अतः दर्शन दिए. इन्द्रियां बहिर्मुख थीं दर्शन करनेके योग्य भी न थीं तो भी भगवान् उन इन्द्रियॊंको अपनी सामर्थ्य देकर दर्शन कराए, यह 'प्र' शब्द

देनेका भावार्थ है. वे अयोग्य क्यॄ थे ? जिसके उत्तरमॄ कहते हैं कि भगवत् दर्शनके दूसरे साधनका उनमॄ अभाव था, अत: अपनी सामर्थ्यसे दर्शन मात्र कराए, दूसरा साधन तपस्या है किन्तु वह इन्हॄने नहीं की थी, जैसा कि शास्त्रमॄ कहा है ''**अतप्ततनूर्न तदामोऽश्नुते**'' तप रहित देहवाला अपक्व होनेसे अशन (भगवत् स्वरूपका भोग) नहीं कर सकता है, जैसे अपक्व घड़ेमॄ जल नहीं डाला जाता, यदि डाला जावे तो घड़ा ही फूट जावे और पानी व्यर्थ बह जावे, वैसे ही भगवान्ने अपनेको दोषारोपणसे बचानेकेलिए ही केवल दर्शन दे दिए किन्तु उनकी दृष्टिमॄ अपने स्वरूपकी स्थापना नहीं की, तपस्याके न करनेसे भगवान्मॄ उनकी अन्यथा बुद्धि होनेका सम्भव था जिससे उसका नाश हो जाता है. यदि यॄ है तो इतने समय तक कैसे स्थापित किया ? जिसका उत्तर देते हैं, कि 'अवितृप्तदृशां', नेत्रॄमॄ स्वरूप विराजमान होते हुए भी नेत्र तृप्त नहीं हुए. हम जिस वस्तु(रूप)का दर्शन कर रहे हैं वह किस प्रकारकी है ? ऐसा विचार करके केवल देख रहे थे, जिससे नाम मात्र तृप्त जैसे दिखते थे यदि वास्तविक सर्व प्रकारसे तृप्त होते तो स्वरूपको जैसा अब समझ रहे हैं वैसा न समझते किन्तु सच्चिदानन्द स्वरूप जानते ऐसा न जानकर उनने पञ्च भौतिक ही जाना है जिससे भगवान्ने अपने स्वरूपको वहांसे खींचकर अन्तर्ध्यान कर दिया. 'नृणां' पद कहनेका आशय है कि ये राजस हैं. 'आदाय' शब्दका अर्थ स्पष्ट करते हैं कि भगवान् जिस धर्म स्वरूपसे दृष्टिमॄ प्रविष्ट हुए थे उस स्वरूपको दृष्टिसे खींच आप धर्मी स्वरूप भी अन्तर्हित हो गए अथवा जब तक विराजे तब तक उनमॄ धर्म स्वरूप धरा. 'अवितृप्तदृशी' पदका भावार्थ दूसरे प्रकारसे समझाते हैं, ''अविवन् मेषवद् वा तृप्ता दृष्टिः येषाम्'', भेड़की तरह जिनकी दृष्टि तृप्त हुई है वे ऐसे थे, भेड़की तरह जिनकी दृष्टि 'तृप्त दृष्टिः येषाम्'. भेड़का मुख नीचे रहता है जिसमॄ उनसे वस्तु सरलतासे खींची जाती है, वैसे ये भी उनके समान है जिससे इनकी दृष्टिसे भी स्वरूपको खींचना सरल हुआ. स्वबिम्ब भगवान् आप सूर्य बिम्बरूप हैं अर्थात् आप और आपकी देह पृथक् नहीं यॄ कहनेसे विदुरजीका यह ज्ञान माया द्वारा उत्पन्न देहमॄ भगवान्का अग्निवत् आवेश है, वह परास्त हुआ अर्थात् झूठा सिद्ध हुआ है. जैसे तेजरूप बिम्ब है वैसे ही सच्चिदानन्दरूप(आकृति) है. किञ्च वह लोकॄका लोचन है अर्थात् ज्ञानरूप है, जब तक पदार्थके स्वरूपका ज्ञान नहीं हुआ है तब तक नेत्रसे कुछ नहीं जाना जाता है. ''**चक्षुषश्चक्षुः**'' इस श्रुतिसे भगवान्के रूपका ज्ञान ही नेत्र है अथवा भगवान्का रूप ही चक्षु है. लोचन

अपनेको देख नहीं सकती और पलकाृके गिरते ही बन्द हो जाती है इसलिए उसका तिरोभाव उचित है, इस प्रकार इसका भावार्थ है. 'तु' शब्दसे यह सूचित किया है कि भगवान् दूसरे स्वरूपसे अर्थात् अन्तर्यामी स्वरूपसे तो विराजते ही हैं ।।११।।

आभासार्थ: भगवत् स्वरूप[१] सच्चिदानन्दमय है, याृ निरूपण करनेके लिए उनके सत्, चित् और आनन्दका उत्कर्ष निम्न तीन श्लोकाृसे कहते हैं:

यद् मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग–मायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगद्र्धे परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ।।१२।।

श्लोकार्थ: जो भगवान्का रूप, मर्त्यों[२] जैसी लीला करनेमृ उपयोगी है जिसका ग्रहण अपनी योगमायाके बलको दिखानेकेलिए हुआ है जो रूप आपको भी आश्चर्यमृ डालनेवाला है(वह) सौभाग्य तथा समृद्धिका उत्तम स्थान है और जिसके श्रीअंग भूषणाृके भूषण रूप हैं ।।१२ ।।

व्याख्या: यह भगवान्का दृश्यमान रूप ही सद्रूप है पंच महाभूताृके प्रकारके समान दिखनेपर भी उनसे उत्तम है इस तरह रूपमृ सत्का उत्कर्ष है. इस रूपमृ पृथ्वीसे उत्तमता है, यह बताते हैं. 'यन्मर्त्यलीलौपयिकम् इति' मर्त्यके भावको जिन्हाृने ग्रहण किया है वे मर्त्य हैं और जो मृद्भावका त्याग करते हैं वे अमर्त्य हैं . पृथ्वीपर जो कार्य होते हैं वे कार्य, स्वरूपके क्लेश रहित एवं सबके मनको हरनेवाली चेष्टा(रूप)की लीलासे करनेमृ यहां सद्रूप उपयोगी है. मर्त्य लोग इस प्रकारकी लीला नहीं कर सकते हैं और अमर्त्योंमृ मर्त्य लीलाका अभाव है, तो भी पृथ्वीसे बनी हुई देहाृमृ इस प्रकारकी लीला करनेकी योग्यता नहीं होती है इस कारणसे ही मनुष्यरूप सदृश्य जो अलौकिक शुद्ध सद्रूप है वह ही लीलाके योग्य है क्याृकि ऐसे शुद्ध सद्रूपमृ षड्भाव विकार नहीं होते हैं जैसे लौकिक देहमृ होते हैं. इस सद्रूप ग्रहण करनेके कारण अपनी योगमायाकी शक्तिको प्रकट कर दिखाना है वह योगमाया आपकी असाधारण रूपा साधनभूता सर्वभवनसमर्था कारणरूपा शक्ति है जैसे बलिकी परीक्षाकेलिए उससे बड़े–बडे कार्य कराए जाते हैं वैसे ही सत् पदार्थोंका संचायक[३]की तरह अनन्तरूप बनानेवाली मायाका सर्व सामर्थ्य एक ही स्थान पर इकट्ठा कर [४]दिखानेकेलिए ही भगवान्ने वैसा रूप धारण किया है, जल स्वच्छ होनेसे पृथक् पृथक् अनेक रूप धारण करता है उस जलका उत्कर्ष माया है वह(माया) वैकुण्ठमृ स्थित भगवद् रूपको भी ग्रहण करती है इसलिये जलमृ स्थिति होते हुए भी उसका जलसे [५]उत्कर्ष है फिर भगवान्को भी

वह रूप विस्मयमृ डालनेवाला है भगवान् स्वयं तेजोमय और सर्व प्रकाशक हैं अपने स्वरूप अन्याृको दिखाते हैं उनको तो कुछ भी विस्मय नहीं है ऐसाृको भी यह रूप विस्मयमृ डालनेवाला है भगवान् विचारते हैं कि आश्चर्य है, मैं ऐसा रूप भी लोकमृ दिखाता हूं वह तेजोरूप होते हुए भी तेजसे उत्कृष्ट(श्रेष्ठ) है, फिर वह 'सौभगर्द्धेः परं पदम्' अर्थात् वह सौभाग्य एवं अणिमादि अष्ट सिद्धियाृका उत्तम स्थान है ये प्राण तथा योगके दो कार्य हैं इससे वह रूप प्राण होनेके कारण सद्वायुसे उत्कृष्ट है यहां सुन्दरताकी बहुलता सौभाग्य है कारण कि वह सर्व पुरुषाृको रोचक है 'ऋद्धि' अर्थात् समृद्धि युक्त वह रूप पुरुषोत्तमको भी आनन्द पैदा करनेवाला है अतएव इस कारणसे ही इस रूपमृ भगवान्को प्राणाृसे भी अधिक प्रीति है 'भूषणभूषणाङ्गम्' भगवान्के अङ्ग भूषणाृके भी भूषण हैं. अङ्गदाृसे लेकर कौस्तुभमणि तक जितने आभूषण हैं उनके भूषण भगवान्के अङ्ग हैं जैसे स्वर्णकी मणियाृका भूषण इन्द्रनील मणि है. इससे यह सूचित किया है कि जैसे आकाशमृ विमान और विद्युत बिजली आदि शोभते हैं वैसे भगवद्रूपमृ आभरण शोभा दे रहे हैं. आकाशके समान होते हुए भी आकाशसे उत्तम हैं ।।१२।।

१.भगवान् जीवके समान देहसे पृथक् नहीं हैं देह अर्थात् आपका स्वरूप आप ही हो.

२.मरण धर्मवालाृकी तरह. ३.इकट्ठे करनेवालेकी तरह.

४.अपना स्वरूप जानने वालाृको दिखाता है अतः वैसा रूप संचेय न्यायसे मायामृ बताया है.

५.जलसे उत्कर्ष कैसे? जिसको समझाते हैं कि माया स्वच्छत्व रूपा है. जैसे तेजोरूप चन्द्र आदिका प्रतिबिम्ब उनकी किरणाृके जलमृ प्रवेश होनेसे होता है उस (जल)मृ प्रविष्ट अंशमृ चन्द्रमाके सर्व धर्म मायासे दिखते हैं वा माया दिखाती है वैसे ही संचायक स्थानको प्राप्त शुद्ध सत्त्वात्मिका मायामृ संचेय न्यायसे प्रविष्ट जो भगवान्के रूपके अंश हैं उनमृ मूल धर्म मायासे दिखते हैं वा माया दिखाती है, यह मायिक होते हुए भी मायाका उत्कर्ष है इस प्रकार भगवान्की योग-माया संचेय गुणवाली है जिससे भगवान्का रूप आवृत होनेसे किसीको देखनेमृ नहीं आता है, अतएव भगवान्ने गीतामृ कहा है कि "**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योग-माया समावृतः**" योग मायासे ढका हुआ मैं सबको दिखता नहीं हूं. मायावच्छिन्नैश्वरवादमृ अर्थात् मायावादमृ मायासे मूल स्वरूपमृ धर्म प्रतीति होती है और वे धर्म वास्तव(सत्य) हैं, ब्रह्मवादमृ मायासे आच्छन्न होनेसे जैसे मगवान्मृ मर्त्य धर्मकी प्रतीति असत् है जैसे जलकम्पसे चन्द्रमृ प्रकम्पन प्रतीति झूठी है, भगवान्मृ तो वास्तविक गुण जो हैं वे मायासे आच्छादित होनेसे नहीं दिखते हैं.

आभास: इस प्रकार सत्की उत्तमता सिद्धकर चित्का उत्कर्ष 'यद् धर्मसूनोः' श्लोकसे कहते हैं:

यद् धर्मसूनोर् बत राजसूये निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः ।
कात्स्र्येन चाऽद्येह गतं विधातुर् अर्वाक्सृतौ कौशलम् इत्यमन्यत ।।१३।।

श्लोकार्थ: हर्ष है कि धर्मके पुत्रके राजसूययज्ञमॄ नेत्रॄके कल्याणका धामरूप जो कृष्णका स्वरूप था, इस स्वरूपको देखकर तीनॄ लोकॄने मान लिया कि ब्रह्माकी मनुष्यसृष्टि बनानेकी सम्पूर्ण कुशलता यहां पूरी हो गई है ।।१३ ।।

व्याख्या: निश्चय है कि धर्ममॄ ही ज्ञान प्रकट होता है. धर्मसे उत्पन्न (ज्ञानरूप भगवान्) धर्मसे भी श्रेष्ठ हैं उसका भी जो राजसूय यज्ञ है वह धर्मका उत्कृष्टरूप है. इस प्रकारकी स्थितिका धर्मसे स्मरण कर कहते हैं कि 'बत इति'. हर्ष है सबने भगवद्रूपके दर्शन कर जैसा जाना वैसेका वर्णन करते हैं 'दृक्स्वस्त्ययनं', यह रूप नेत्रॄकेलिए कल्याणरूप स्थान है कारण कि जो भी विषय हैं वे सब नेत्रॄके नाश करनेवाले हैं, जो भगवान् सम्बन्धी विषय हैं वे भी स्वरूपसे नेत्रॄके वास्ते कल्याणरूप नहीं हैं. बहुत क्या कहॄ? विषय मात्र ही नेत्रॄको दृष्टिके नाशक हैं न कि पोषक हैं. दृष्टिका पोषक तो ज्ञान ही है, ज्ञानेन्द्रियॄका तो वह(ज्ञानरूप भगवान्) ही वास स्थान है. जातीयमॄ प्रविष्ट सजातीय ही अपनी वृद्धि कर सकता है इससे विषय पक्षमॄ भी यदि ज्ञानरूप भगवान् ही विषय हो जैसे "**कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत्**" इस श्रुत्यनुसार किसी धीर पुरुषने प्रत्यगात्माका दर्शन किया और "**चक्षुषः चक्षुः**" श्रुतिके अनुसार भगवान्का रूप चक्षुका भी चक्षु है यॄ जान चक्षु जब उस ज्ञानरूपको विषय बनाता है तब कल्याणका धाम हो जाता है, नाशसे बचकर पुष्ट होता है ऐसे दर्शन कर त्रिलोकीकी जैसी बुद्धि हुई उसको कहते हैं इस यज्ञमॄ चिद्रूप (ज्ञानरूप) भगवत् स्वरूपका दर्शनकर त्रिलोकीने यॄ माना कि जगत्कर्ताका पहलेका सब कौशल्य इस चिद्रूप भगवच्छरीके निर्माणमॄ असफल हो गया है अर्थात् जो कौशल्य मनुष्यादि सृष्टि बनानेमॄ ब्रह्माने दिखाया वह यहां काम न कर सका कारण कि मनुष्यॄकी नाड़ियां नीचे बहती हैं. यह रूप तो कल्याण अर्थात् आनन्दका स्वरूप होनेसे सत्त्वसृष्टिसे अन्य प्रकारका है जो सब मानने लगे ।।१३।।

आभासार्थ: 'यस्यानुराग' श्लोकमॄ भगवान्की आनन्दरूपता कहते हैं:

यस्यानुरागप्लुतहासरास–लीलावलोकप्रतिलब्धमानाः ।

व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्त–धियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः।।१४।।

श्लोकार्थ : जिस(भगवान्)के प्रेमके कारण विशेष हासवाले रासमृ भगवान्के लीलावलोकनसे जिन्हृाने मान पाया है ऐसी व्रज सीमन्तीनियां दृष्टिके पीछे बुद्धि भी चली जानेसे निश्चय है कि अपना कार्य त्यागकर स्तब्ध हो गई ।।१४।।

व्याख्या: स्त्रियां निश्चयसे आनन्दप्रधान हैं अर्थात् स्त्रियृाकी सबसे विशेष आनन्दमृ अभिरुचि होती है अतः उनकी दृष्टि आनन्दमृ ही लगी रहती है जिससे आनन्दकी प्राप्तिकेलिए ही वे प्रयत्न करती हैं अथवा जिस साधनसे आनन्द प्राप्त हो उस साधनकेलिए प्रयत्न करती हैं. प्रकृत प्रसंगमृ कोई साधन नहीं है अर्थात् भगवान्का श्रीअंग भी साधन नहीं है अत: उपाधि रहित स्त्रियृाकी दृष्टिका विषय भगवान्का श्रीअंग होनेसे उस (श्रीअंग)का आनन्दत्व कहा जाता है. जिस भगवान्पर अनुराग अर्थात् प्रेमके कारण जो अधिक हास्य सहित रास (अधिक नाच करने वालियृाके साथ विशेष प्रकारके नृत्यको रास कहा जाता है. जिस नृत्य होते हुए अनेक प्रकारके रसृाका उद्भाव होता है.) हुआ. उस रासमृ भगवान्ने अपनी लीलामय दृष्टिसे जिनका सम्मान किया है वे ब्रजकी ही स्त्रियां हैं जिन्हृाने अभिमानका त्यागकर भक्तिमार्गके अनुसार भगवान्का शरण लिया है. शरण आनेसे सख्य पर्यन्त भगवान्का भजन करनेसे अनुराग बढा, हास सहित रास भाव(प्रेम)को बाहर उगलकर हृदयमृ भगवान्से ऐक्य प्राप्त कराता है उसमृ हास्यका भाग काममृ प्रविष्ट हो भेदको भी पैदा करता है, उस भेदके अभावार्थ प्रेममृ डूबोनेसे परम प्रेमरूप हो गया. उत्साह जनक होनेसे हासकी भी अपेक्षा है, रास वश करनेवाला है इस कारणसे ही रासमृ वशीभूत हुए भगवान्का जो लीलासे अवलोकन है उससे व्रज स्त्रियृाने जो अभिमान त्याग दिया था वह मान भगवान्ने स्थापित किया. दृष्टि द्वारा दिया यृा मान प्राप्तकर वे अब असमर्थ स्वतन्त्र हो भगवान्के आनन्दका अनुभव करने लगीं. दीनताके कारण जो भक्तिरस दूर हो गया था वह अब सबल होनेसे प्राप्त हो गया. 'व्रजस्त्रियां' पदका अर्थ है गोकुलकी स्त्रियां. 'व्रज' पदका अर्थ है सदा एक स्थानपर जिसकी स्थिती नहीं रहती है ऐसी व्रजकी स्त्रियृाका एक स्थानपर रहकर स्वाद लेना उनके स्वभावके विरुद्ध है, स्वभावपर विजय करनेवाले भगवान् आनन्दसे परिपूर्ण हैं. उन व्रज स्त्रियृामृ कामके साधकपनका अभाव कहते हैं 'दृग्भिः अनुप्रवृत्तधियः', जैसे दृष्टि

भगवान्मृ गई वैसे उसके पीछे बुद्धि भी भगवान्मृ गई, जिससे व्रज स्त्रियां चेतना(होश) न होनेसे अपने शरीरसे काम भोगकी अपेक्षा रहित हो गईं कारण कि वे भगवत् स्वरूपमृ ही आनन्दका अनुभव कर रही थीं इनको अब न काममृ आनन्द आ सकता था और न अपनेमृ उत्पन्न आनन्दका भी अनुभव हो सकता था कारण कि अन्तःकरण आदि सब भगवान्मृ ही व्याप्त थे इसलिए अपनेमृ ही आनन्द उत्पन्न करनेकी ही सामर्थ्य नहीं थी. 'किल' पदसे यह सूचित किया है कि इस विषयमृ सन्देह नहीं करना चाहिए. फिर वे घरके काम काज कृत्य शेष रखकर खड़ी रह गईं. प्रतिक्षण भगवान्मृ एकतान होनेसे गृह कार्यमृ कुछ शेष रह जाते थे क्यृकि भगवदासक्तिसे देहका भान भी नहीं रहता था, इससे भी अपनेमृ आनन्दकी उत्पत्ति नहीं होती थी जैसे दूर स्थितको दृष्टि देख सकती है वैसे दूर स्थित आनन्दरूप भगवान्को भी व्रज स्त्रियृकी दृष्टि देख सकती थी यदि यृ न हो तो आनन्द प्राप्त करनेकी इच्छावालृको इस प्रकारकी स्थिति न हो।। १४।।

आभासार्थ: भगवान्का स्वरूप(देह) सच्चिदानन्दरूप है यृ प्रतिपादन किया तो उस देहमृ भगवान्की स्थिति भी जीव जैसी कहनी चाहिए अर्थात् जैसे जीव, देहमृ प्रविष्ट होकर रहता है किन्तु देह पृथक् है और जीव पृथक् है. उसी तरह भगवान्की भी उस देहमृ जीवके समान स्थिति होगी? इस शंका निवारणार्थ कहते हैं कि इसी सच्चिदानन्दरूपात्मक अक्षर स्वरूप(देह)मृ स्थित पुरुषोत्तमका अग्निवत् प्राकट्य होता है अतः जीवकी तरह प्रविष्ट नहीं होते हैं. जीव, देहसे पृथक् है कारण कि उस(जीव)की देह पांचभौतिक है और आप भगवदंश होनेसे पांचभौतिक नहीं है. यहां सच्चिदानन्द अक्षर पुरुषोत्तमसे पृथक् नहीं, अक्षर पुरुषोत्तमका ही स्वरूप है अतः उस स्वरूपमृ ही आप अग्निवत् प्रादुर्भूत हैं यृ निम्न श्लोकमृ कहते हैं:

स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैः अभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेशो महदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाऽग्निः।।१५।।

श्लोकार्थ: भगवान् जब देखते हैं कि मेरे शान्त स्वरूपृ(देवृ)को मेरे ही अन्य रूप(दैत्य) जब पीडित करते हैं, तब दयामय अन्तःकरणवाले एवं काल और कर्म आदिको अपने वशमृ रखनेवाले प्रभु महत्तत्त्वके साथ मिलकर अजन्मा होते हुए भी अग्निकी तरह आविर्भूत होते हैं ।।१५ ।।

व्याख्या: सच्चिदानन्दात्मक अक्षरका इस प्रकार अर्थात् भगवान्के

देहरूपसे प्राकट्य तथा उसमृ ही भगवान्का आविर्भाव, बिना कारण नहीं होता है, यदि दूसरे किसीसे यह कार्य(आविर्भावका निमित्तभूत कार्य अर्थात् दैत्य वध.) करावे तो विषम(पक्षपाती) होता है, इसलिए जैसे पुत्रको शिक्षा देनेकेलिए उसकी ताड़ना की जाती है वैसे ही भगवान् दैत्यॄको मारते हैं यॄ श्लोकमृ कहा है, कि अपने शान्तरूप देवॄको जब अपने ही अशान्तरूप दैत्य पीड़ित करते हैं तथा आपके चित्तमृ दया आ जाती है. सर्वांशसे अर्थात् सब तरहसे अजन्मा होते हुए भी दोनॄका समाधान हो इसलिए अक्षर सहित पुरुषोतम स्वयं प्रकट हुआ है. यह शङ्का भी नहीं करनी कि काल और कर्मकी प्रेरणासे आप प्रकटे हैं क्यॄकि आप दोनॄके ईश(स्वामी) हैं स्वामीको सेवक प्रेरणा व आज्ञा नहीं दे सकता है.

'पुरुष' नारायण वा प्रथम पुरुष अपने आनन्द सहित भले आविर्भूत हो पुरुषोत्तमके आविर्भावसे क्या लाभ? इस शङ्काका उत्तर देते हैं कि 'महदंश-युक्तो', प्रथम पुरुषका जो महान् अंश(महत्तत्त्व) है उसको भी अपने साथ लेकर प्रकट होते हैं तथा सृष्टि कार्यकर्त्ता स्वरूप जो प्रकृति पुरुष है इसको भी अपने भीतर छिपाकर ही प्रकट होते हैं इस कारणसे ही आपमृ, यशोदा आदि जगत् देखते हैं, यह ही ब्रह्मका चिह्न है, प्रथम, पुरुष और प्रकृति पुरुष भीतर स्थित होनेसे दिखते नहीं हैं. जगत् कर्तृत्वादि गुण और विरुद्ध धर्माश्रयत्व आदि गुण ही ब्रह्म स्वरूपके पहचाननेका चिह्न है. 'भगवान्' पदसे यह सूचित किया है कि यह पुरुषोत्तम ही हैं अन्य अक्षर वा पुरुष नहीं हैं जैसे 'अग्नि', यॄ कहकर बताया है कि जो थे वह ही प्रकट हुए हैं आभासमृ इसकी व्याख्या की गई है ।।१५।।

आभासार्थ: इस तरह ऊपरके श्लोकॄमृ भगवान्की देह अक्षर (सच्चि-दानन्दात्मक) और आत्मा पुरुषोत्तम है, यॄ प्रतिपादनकर अब निम्न दो श्लोकॄसे लोककी प्रतीतिका विरोध और भगवद्वाक्यॄका विरोध इन दोनॄ विरोधॄको मिटाते हैं:

मां खेदयत्येतद् अजस्य जन्म-विडम्बनं यद् वसुदेवगेहे ।
व्रजे च वासोऽरिभयादिव स्वयं पुराद् व्यवात्सीद् यद् अनन्तवीर्यः।।१६।।

श्लोकार्थ: अजन्मा होकर वसुदेवके गृहमृ जन्म लेना और व्रजमृ जाकर रहना तथा अनन्त वीर्यवान् होते हुए भी अपना नगर छोडकर भागना ये सब वार्ताएं मुझे खेद उत्पन्न करती हैं ।।१६ ।।

व्याख्या: भगवान्ने लोकवञ्चनार्थ अपना देह प्राकृत सा प्रसिद्ध करनेके

लिए वसुदेवके पुत्र होनेका जो अनुकरण(ढ्ग) किया है यह अनुकरण करना भी सर्वथा उचित नहीं है क्यृकि सर्व समर्थकों यृ ढ्ग करनेसे क्या लाभ? अतः यृ करना मुझे दुःख पहुंचाता है, फिर वह अनुकरण भी वसुदेवके गृहमृ अर्थात् उसकी स्त्री देवकीमृ. इसकी अपेक्षा स्तम्भसे, जलसे वा ब्रह्माके हृदयसे प्रकट होना श्रेष्ठ था, यृ नहीं किया इसलिए मुझे दुःख होता है उनका व्रजमृ रहना मुझे दुःखित करता है. कहां वैकुण्ठ वास और कहां व्रज(गोकुल)मृ रहना, जहां लौकिक भी रहना नहीं चाहते हैं, यहां रहना भी मेरे लिए दुःखकर है फिर विशेष दुःखका कारण यह है कि कायर(डरपोक)की तरह जरासन्धादि शत्रुके भयसे अपनी मथुरा नगरी छोड़ दी, वह भी भागकर अर्थात् जिससे परदेशमृ रहना पड़ा. वास्तवमृ भय तो था ही नहीं अतः यह सब उचित नहीं है, कारण कि ऐसा कार्य निर्बल करते हैं. आप अनन्तवीर्य हैं ऐसे होकर भी भागना मुझे अत्यन्त दुःख देता है क्यृकि जो सर्वात्मा हैं, उनके शत्रु होते ही नहीं और न उनको किसीसे भी भय होता है कारणकि आप दूसरृके भयको भगा देते हैं तो वे डरे क्यृ? स्वयं यह सब लीला आपने की है न कि अंशद्वारा कराई है, इसलिए मेरा मन विशेष दुःखित हो रहा है ।।१६।।

आभासार्थः इस श्लोकसे भगवद्वाक्योंके विरोधका परिहार करते हैं:

दुनोति चेतः स्मरतो ममैतद् यदाह पादावभिवन्द्य पित्रोः ।
ताताऽम्ब! कंसाद् उरुशङ्कितानां प्रसीदतं नोऽकृतनिष्कृतीनाम् ।।१७।।

श्लोकार्थः हे पिता! कंससे बहुत डरकर आपके उपकारका बदला न दे सके ऐसे हैं तो भी हमपर आप प्रसन्न हों(क्षमा कृपा करो) ये वाक्य, भगवान्ने पिताके चरणृमृ प्रणाम करते हुए जो कहे, उनका स्मरण होते ही मेरे चित्तमृ दुःख उत्पन्न होता है ।।१७।।

व्याख्याः कंसका वधकर जब भगवान्, पिता वसुदेवजीके पास जाकर उनको प्रणामकर उनने जो वचन कहे वे मेरे चित्तको दुःख देते हैं, क्या कहा? वह बताते हैं, हे तात! हे अम्ब! हे पिता! हे माता! कंस हमारी कैसी हालत करेगा? इस कारणसे कंससे बहुत डरे हुए हमने आपके उपकारका बदला नहीं चुकाया तो भी हमपर आप प्रसन्न हो जावो. ये भगवान्के वचन याद आते ही मेरा चित्त दुःखी होता है. इससे भगवान्के जो भी वाक्य मनुष्य देह धारण किए हुए, वसुदेवके पुत्र मुझे वासुदेव कहते हैं, इत्यादि वाक्य लोकको व्यामोहित करनेकेलिए कहे हैं. यृ

उनकी व्याख्या की गई है, जब भगवान्के वाक्यृकी यह गति है तो उनके वचनृसे मोहितृके वचनृकेलिए क्या कहा जाय ? यृ भाव है ।।१७।।

आभासार्थः इस प्रकार सर्व विरोधका परिहारकर और श्रीकृष्णका साक्षात् पुरुषोत्तमपन सिद्धकर उनके गुण तथा कर्मोंका निरूपण करते हुए भक्ति मार्गके सिद्धिकेलिए पहले भजनके योग्य गुणृको कहते हैं:

को वा अमुष्याङ्घ्रिसरोजरेणुं विस्मर्तुम् ईशीत पुमान् विजिघ्रन् ।
यो विस्फुरद् भ्रूविटपेन भूमेः भारं कृतान्तेन तिरश्चकार ।।१८।।

श्लोकार्थः जिस प्रभुने अपनी फडकती हुई भ्रू(भ्रृह)की शाखारूप काल द्वारा भूमिके भारको दूर फैंक दिया, वैसे आपके चरणकमलके रेणुके सूंघनेवालृमृसे ऐसा कौन है जो उनको भूल सके ? ।।१८ ।।

व्याख्याः जिनका भजन किया जावे वैसे योग्य वही होते हैं, जिनमृ सात गुण हों और छः अङ्गृ सहित भजनोपयोगी महान् गुणवाले हृ. सात गुण बताते हैं. १.स्वयं(खुद) निर्भय हृ. २.एक बार भी जो शरण आया होवे उसको चारृ तरफसे आनेवाले सर्व प्रकारके भयसे छुडाते हृ. ३.इस लोक और परलोककी समृद्धि और मोक्षको दे सकते हृ. ४.भजनकी पूर्णतामृ सन्देह हो तो भी केवल सम्बन्ध होनेके कारण भी मोक्ष देते हृ. ५.स्वयं निर्दोषपूर्ण गुणवाले हृ. ६.अनधिकारीको भी मोक्ष देनेमृ शक्तिमान् हृ. अर्थात् उसकी भी गति करते हृ. ७.अन्यकेलिए अपने किए हुए नियमृका विरोध हो तो उसकी भी परवाह नहीं करते हृ. उपर्युक्त सात गुणृके कारणरूप तीन गुण हैं. १.महती शक्ति २.स्वरूप से भी सबसे उत्तमता ३.बहुत दया. ये गुण भी जिनमृ हृ वे स्वरूप भी सबको सेव्य हैं, वह सात श्लोकृसे बताते हैं, प्रत्येक श्लोक एक-एक कर सात गुण कहते हैं, जैसा कि दो श्लोकृसे, तीन श्लोकृसे, फिर दो श्लोकृसे. इस प्रकार सात श्लोकृसे सात गुणृके कारणरूप स्थूल(मूल) गुणृका वर्णन किया है.

उनमृसे प्रथम अति सामर्थ्यका निरूपण करते हुए आश्रितृके सर्व दुःख दूर कर्त्तापनका गुण 'को वा' श्लोकसे प्रतिपादन करते हैं. सर्व प्राणी, प्रायः सर्व देवृका भजन करते हैं, उनमृ रहे हुए गुण अथवा दोषृके कारण उनमृ प्रेमवाले वा उनसे विरक्त हो जाते हैं,(अर्थात् देवमृ गुण देखते हैं तो प्रेम करते हैं(भजन करते हैं). यदि दोष देखते हैं तो उनके भजनका त्याग कर देते हैं. यहां इस प्रकार ही निर्णय किया है कि जिसमृ दोष नहीं उनका भजन करते ही रहते हैं छोड़ते नहीं,

देखा जाता है कि लोकमृ सर्व देवृके तथा मनुष्यृके सेवक उनका त्यागकर भगवदीय(भगवान्के सेवक) हो जाते हैं, किन्तु भगवदीय कभी भी दूसरे देवादिके सेवक नहीं बनते हैं, जो कोई कौतुकसे भी चाहता है कि शास्त्रके इस अर्थको मैं अन्यथा कर दूंगा, अर्थात् भगवान्के मार्ग(भक्तिमार्ग-शरणमार्ग)मृ आकर उसको छोड़ना चाहता है, वह भी यृ कर नहीं सकता है, क्यृकि, एक बार भी जिसने भगवान्के चरण कमलकी रजको सूंघ लिया है वह उसको कभी भी भूल नहीं सकता उससे प्राप्त रस(आनन्द)का त्याग कर ही नहीं सकता है, अतः वह ही ईश है जो, सेवकृको आते ही वश कर लेता है, कारण कि, नाक द्वारा शरीरके भीतर गया रेणु, सूंघनेवालेकी देहको भगवदीय ही बना देता है, अतः भगवान्के लिए पैदा हुई देहवाला वह. चारृ तरफ फैली हुई उस रेणुको भूल जानेके लिए शक्तिमान् नहीं होता है.

दुःखी देहको भी भूल जाता है, क्लेश नाश करने वालेको ही अधिक मान देता है, यदि यृ कहो तो इसका उत्तर श्लोकके उत्तरार्धमृ देते हैं. यह भगवान् कल्पवृक्ष हैं जिनकी भृह उस कल्पवृक्षकी पर्ण सहित शाखा है, अनन्त शाखा वाले उस वृक्षकी यह एक शाखा स्वभावसे संहार करनेवाली है. यदि वह भी प्रसन्न हो जावे तो वह भी बहुत ऐश्वर्य देती है, अतः ऐसी शाखाके विद्यमान होनेसे भगवान् द्वारा अपने अनिष्टके नाशमृ कौनसी शङ्का है? अर्थात् कोई नहीं, कारण कि सर्वकी आधारभूत भूमिका अन्त फड़कती हुई इस शाखाने ही किया है, जहां भारकी संभावना होती है वहां भी आप पधारकर नाश करनेके स्वभाव वाली मोहरूप डालसे भारको भी दूर कर देते हैं जिस कार्यकेलिए सब देव भी महान् यत्न कर रहे हैं वे जब तक दूर करनेकेलिए आवें उससे पहले ही आप उसको अपने मोहरूप डालसे दूर कर छोड़ते हैं, जैसे सूर्यके पहले उदित किरणृसे अन्धकारका नाश हो जाता है जिससे सूर्य अन्धकारको देखता ही नहीं है वैसे ही भगवान् भक्तृके दुःखृको(पृथ्वीके भार आदिको) साक्षात् नहीं देखते हैं, क्यृकि आपकी कालरूप भौंह उनका नाश कर छोड़ती है ।।१८।।

आभासार्थः भक्तृको इच्छित फल देवृ, उस विषयमृ तो कहना ही नहीं है, क्यृकि लोभसे अभिभूत सर्व धर्मविरोधी भगवान्का तिरस्कार करनेवाला एवं असुर होनेपर वह निषिद्ध प्रकारका था तो भी केवल भगवान्से सम्बन्ध हो जानेसे उसने ज्ञानियृको भी दुर्लभ, सायुज्य प्राप्त किया, और यह अर्थ सर्वजनीन है वह

निम्न श्लोकमृ कहते हैं:

दृष्टा भवद्भिः ननु राजसूये चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोऽपि सिद्धिः ।
यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यग् योगेन कस् तद् विरहं सहेत ।।१९।।

श्लोकार्थ : जिस सिद्धिकी, योगी अच्छी तरह साधे हुए योगसे प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं वह सिद्धि राजसूय यज्ञमृ श्रीकृष्णके द्वेषी शिशुपालने प्राप्त की जिसको तुम लोगॄने नेत्रॄसे प्रत्यक्ष देखा, उस कृष्णका विरह कौन सहन कर सकता है ।।१९ ।।

व्याख्या: श्रीकृष्णके द्वेषी शिशुपालको भी राजसूयकी सभामृ जहां सब राजा सेवा कर रहे थे वहां सायुज्य मुक्ति मिली, वह तुमने ही देखी. ननु पद यहां संबोधन अर्थमृ है. यह संबोधन सम्मतिकेलिए दिया है. जिस सायुज्य मुक्तिरूप सिद्धि को, स्वभासे, उत्तम योगीजन, फलप्रद सर्वसाधन सहित योगसे भी प्राप्त करनेकी केवल इच्छा ही करते हैं, किन्तु भगवान्से सम्बन्ध किए बिना उसे प्राप्त नहीं कर सकते हैं. अतः कौन है जो उसके सम्बन्धका जिसमृ अभाव है ऐसे भगवद्विरहको सहन कर सके? भगवत्सम्बन्ध निश्चयसे कोटि कल्पवृक्षसे भी अधिक है, वह मिल जावे तो फिर उसको कौन छोड़ सकता है? कहनेका यॄ आशय है ।।१९।।

आभासार्थ: इस इच्छित पदार्थकी सिद्धिका कारण और अनिष्टॄको दूर करनेवाले भगवद्गुणका निरूपण कर, अब इस श्लोकमृ स्वरूपका वर्णन करते हुए कहते हैं कि सम्बन्ध होनेके बिना भी केवल स्वरूप सम्बन्धसे ही पूर्व कहे हुए फलसे भी अधिक फल देते हैं:

तथैव चाऽन्ये नरलोकवीरा य आहवे कृष्णमुखारविन्दम् ।
नेत्रैः पिबन्तो नयनाभिरामं पार्थास्त्रपूताः पदम् आपुरस्य ।।२०।।

श्लोकार्थ: उसी तरह ही नरलोकमृ वीर और दूसरे जो अर्जुनके अस्त्रॄसे पवित्र हुए थे, वे युद्धमृ नेत्रॄका आनन्द देनेवाले श्रीकृष्णके मुखारविन्दका नेत्रॄसे पान करते हुए उसके चरणारविन्दको प्राप्त हुए ।।२० ।।

व्याख्या: जो मनुष्य, लोकमृ वीर थे और दूसरे जो भगवत् सम्बन्ध रहित थे अर्थात् भगवान्को जानते भी नहीं वे भी युद्धमृ स्वरूपसौन्दर्यसे मोहित हो नेत्रॄसे लावण्यामृतके पूरवाले श्रीकृष्णके मुखारविन्दको देखते हुए भगवत् सायुज्यमृ प्रतिबन्धक अशुद्ध देहका निराकरण कर, अर्थात् त्यागकर अर्जुनके

अस्त्रासे पवित्र हो बहुतासे ही उसके चरणारविन्द व्यापी वैकुंठको प्राप्त किया है ।।२०।।

आभासार्थ: यदि भगवान् ऐसे हैं तो फल प्राप्तिमें काहेकी चिन्ता? किन्तु फल प्राप्तिमें एक ही व्यामोहिका भगवल्लीला बाधक है, यदि उससे मोहित न होवे तो फल प्राप्ति हो सकती है.(इससे यह बताया है कि जो मोहित हुए उनकी मुक्ति नहीं हई.) वह व्यामोहिका माया, भगवान्के सबसे उत्तम गुणको और अनपढके बुद्धिमें स्थित भजन करनेवाली चाहनाको दूर कर देती है, अतः उससे सावधान रहना चाहिए, या निम्न दो श्लोकोंसे कहते हैं:

स्वयं त्वसाम्यातिशयस् त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।
बलिं हरद्भिः चिरलोकपालैः किरीटकोटीडितपादपीठः ।।२१।।

श्लोकार्थ: लोक और वेदमें आपके समान, आपसे उत्तम, कोई नहीं है आप तो तीनोंके अधीश्वर हैं, अपने भीतरके राज्यकी लक्ष्मीसे अपनी सर्व कामनाएं स्वयं पूर्ण करली हैं, बली ले आनेवाले चिर लोकपालोंने अपने कोटि मुकुटोंसे जिसके चरणोंके आसनकी स्तुति की है ।।२१ ।।

व्याख्या: यह भगवान्की लीला व्यामोहिका(मोहमें डालने वाली) है, क्योंकि जो स्वयं ईश्वर तथा सर्वोत्तम होते हुए भी सबसे अधम और जडीभूत व आलसी(उग्रसेन)को अपना राजा बनाकर स्वयं उसकी सेवा करते हैं, जिसको देखकर भ्रान्तके हृदयमें या भासता है कि यह ऐसे(उग्रसेन)का सेवक ही है, ऐसी अवस्थामें भ्रान्तकी भ्रान्ति दूर करनेकेलिए पहले उसका सर्वोत्तमपन सिद्ध करते हैं. 'तु' शब्द भ्रान्तोंकी प्रतीतिको मिटानेकेलिए है. 'असाम्यातिशयः' पदसे कहते हैं कि लोक वा वेदमें जिसके समान तथा अधिक कोई नहीं है, क्योंकि स्वरूपसे और गुणोंसे त्र्यधीश है अर्थात् तीन गुणोंके और तीन लोकोंके ईश आप ही हैं. आपको किसी भी वस्तुकी अपेक्षा तो है ही नहीं, जो लौकिक न्यायसे सेवक बननेमें कारण बने, जिसको सिद्ध करते हैं कि अपने भीतरके स्वाराज्यकी लक्ष्मीसे अपनी कामनाएं पूर्ण कर ली हैं, जिससे उनको किसी भी वस्तुकी अपेक्षा तो है ही नहीं. इस पदके तात्पर्यको स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि अपनेमें ही राज्य है, समस्त जगत् आपके भीतर ही है, जो अपने ऊपर राज्य करते हैं वह सबपर ही करते हैं उस राज्यमें जो निरतिशय आनन्दरूपा लक्ष्मी है उससे ही सर्व कामनाएं जिसने पूर्ण कर डाली हैं. इसलिए भगवती श्रुति कहती है कि,

''**अस्यैव आनन्दस्य अन्यानि मात्राम् उपजीवन्ति**'' इसके ही आनन्दांशपर अन्य जीवन धारण करते हैं और लोकमॄ भी आपका ऐश्वर्य सिद्ध है जिससे ही बलि ले आनेवाले चिरस्थाई लोकपालॄने अपने कोटि किरीटॄसे जिसके चरणासनकी स्तुति की है वैसे भगवान् हैं.

यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिए कि मूक(वाणी रहित) 'मुकुट' कैसे स्तुति करॄगे? जिस शङ्काका निवारण करते हैं कि ''यथा पदार्थकरणपक्षः तथा किरीटैरपि पीठस्य स्तोत्रम्''. बिना शब्दवाले पदार्थ भी शब्दके गुणॄको धारण करते हैं अर्थात् उसके द्वारा अर्थ बताते हैं इस भाट्टमतानुसार मुकुटॄने स्तुति की जिससे शङ्काका कोई अवसर नहीं है, मुकुट खुद अपकृष्ट(दैन्य) भावसे नम्र हो, अपने सम्बन्धी भगवच्चरणासनकी स्तुति करते हुए उसको सबसे उत्तम बताते हैं. कितने ही जैसे श्रीधरजी कहते हैं कि मुकुटॄकी परस्पर रगड़से निकले शब्दॄसे मुकुट स्तुति करते हैं ।।२१।।

आभासार्थ: ऐसे अनुपम गुणी भगवान् अपने सिंहासनपर स्थित हो अपनी आनन्दरूप लक्ष्मीका अनुभव करें यह उचित था, न कि किंकरपन करना योग्य है यॄ इस निम्न श्लोकमॄ कहते हैं:

तत् तस्य कैङ्कर्यम् अलं भृतान्नो विग्लापयत्यङ्ग! यद् उग्रसेनम् ।
तिष्ठन् निषण्णं परमेष्ठ्यधिष्ण्ये न्यबोधयद् देव! निधारयेति ।।२२।।

श्लोकार्थ: हे अंग! ब्रह्माके आसनपर बैठे हुए उग्रसेनको जब भगवान् खडे होकर 'अनुग्रह' करो ऐसे शब्दॄसे अपना कैंकर्य(दासत्व) दिखाते थे, वह प्रभुका सेवकपन प्रकट करना, सम्पूर्णतः पोषित(मुझ)को ग्लानि पैदा करता है।।२२।।

व्याख्या: सेवक होनेके भावको सेवकपन कहते हैं, ऊपर कहे हुए भगवान्का यह प्रसिद्ध सेवकपन मेरे मनमॄ ग्लानि पैदा करता है, भगवान् कुछ भी करॄ, उसका विचार तुम क्यॄ करते हो? इसमॄ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है? इस शङ्काका उत्तर होता है कि 'अलं भृतान्नो', भगवान्ने हमारा पालन पोषण अच्छी तरह इसलिए ही किया है कि हम सेवा करॄ, यदि सृष्टिकी तरह सेवा भी भगवान्को ही करनी चाहिए, सेवा भगवत्कृतिसे ही साध्य होती है, उस पक्षमॄ भी हमको मुख्य सेवाकेलिए ही उत्पन्न किया है, अतः यह सेवा भी हमारे द्वारा ही करावॄ, सेवाकेलिए हम लोगॄको पैदाकर फिर आप ही सेवा करते हैं, इस

कैङ्कर्य(सेवकपन)से हम लोगॄको खिन्नता होती है आप खेद पाते हैं और हमको भी ग्लानि कराते हैं. 'ग्लाययति' यदि ऐसा पाठ हो तो 'ग्लय्' धातु ग्लापनार्थवाला है.

हे अङ्ग! सम्बोधनसे यह सूचित किया है कि आप ऐसे मित्र हैं जिसके आगे अपना दुःख प्रकट किया जा सकता है. 'उग्रसेन'का अर्थ है जिसकी सेना उग्र है, और जो कंसका पिता है, उसको ब्रह्माके बैठनेके योग्य सिंहासनपर बिठाया है, और आप खड़े होकर आए हुए सब लोगॄकी पहचान कराते हैं, हे देव! यह आया है, आपको प्रणाम करता है. 'पश्य' देखो, यह कहकर पहचान कराते थे, यह बहुत छोटे द्वारपालकॄका कृत्य(करम) है, हालांकि सब कार्यका कर्ता भगवान् ही हैं, किन्तु वह रूप बदलकर करते हैं यदि स्वयंको ही करना है तो तब विपरीत कार्य सेवकके बदले राजाका कार्य) क्यॄ नहीं करते हैं? इससे मेरे चित्तमॄ क्लेश हो रहा है, देव सभामॄ जहां ब्रह्मा बैठता है, वह राजासन है, इससे राज्यासनको ब्रह्माका आसन कहा है, इससे यह सूचित किया है कि ब्राह्मणॄके आनेपर भी उग्रसेन नहीं उठता है. उग्रसेन बैठा रहे भगवान् खड़े-खड़े कैङ्कर्य करॄ इस दुःखको मिटानेका कोई उपाय ही नहीं है ।।२२।।

आभासार्थ: इस प्रकार भगवान्के रूप तथा मोह करनेके वर्णन करनेसे मुझे(उद्धवजीको) क्लेश हुआ, ऐसी भी शंका नहीं करनी कि, मैं अज्ञानी हूं, उनके अभिप्रायको न जाननेसे मुझे दुःख हुआ है कारण कि उनके अभिप्रायको भी जानता हूं तो भी क्लेश हुआ है, यॄ कहनेकेलिए उन(प्रभु)की दयाका निरूपण करते हैं, भगवान्का अभिप्राय जानते हुए भी दुःख क्यॄ? जिसका उत्तर देते हैं कि क्लेश तो बुद्धिसे हुआ है भगवान् द्वारा नहीं हुआ है कारण कि भगवान् अपने समस्त भक्तॄ(सेवकॄ)को लोकमॄ अपनेसे भी उत्तम प्रकारसे प्रख्यात करते हैं, इस विषयमॄ, यदि दूसरे(उग्रसेन)को अधिक करॄ तो उसको सहन न करना उचित नहीं है. उग्रसेनको उल्हाना देना भी उचित नहीं है, क्यॄकि भगवान्ने ही यॄ किया है, विपरीत भी करते हैं. पूर्व श्लोकॄमॄ यॄ ही प्रतिपादन किया है, इससे प्रमाण बलका अतिक्रमण कर प्रमेयबलसे यॄ करते हैं, निम्न श्लोकमॄ उनके प्रमेयबलका निरूपण करते हुए कहते हैं कि भजन करने योग्य वे ही हैं:

अहो बकीयं स्तनकालकूटं जिघांसयाऽपाय यदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ।।२३।।

श्लोकार्थः इस दुष्ट बकीने मारनेकी इच्छासे, स्तनॣमॄ भरा हुआ कालकूट(विष) पिलाया, तो भी उसको माताके समान गति(मोक्ष) दी, ऐसे दयालुको छोड किसकी शरण लेवॄ ।।२३ ।।

व्याख्याः जैसे निरवधि(असीम) आनन्दरूप फलसे पूर्ण भगवान् तुच्छ फलको सिद्ध करनेवाला साधन करें, तो वह, सबको आश्चर्य कराता है, और जो तुच्छ हो एवं साधनरहित हो उसको भी पूर्ण फल दे देते हैं, भगवान्का यह कार्य आश्चर्य कारक है. बककी बहिन, दैत्य बकरूपा बकी(पूतना) थी, उस जैसे वर्तन(बर्ताव)से सत्पुरुष भी मुक्त नहीं होते हैं. 'इयं' पदसे सूचित किया है कि यह भी बुद्धिसे भगवान्के संगमॄ उपस्थित हुई, जिससे एक प्रकारका मैत्री भाव हो गया, जिस(पूतना)के स्तनमॄ कालॄका समूह था, सहस्र काल(मृत्यु) हैं, वे सब मृत्यु उसके स्तनके दूधमॄ थे. ऐसा दूध पिलाया(तो भी) भगवान् अविनाशी हैं अतः उससे, इस कालकूट मिश्रित दूधके दोषका सम्बन्ध नहीं होगा, इस पक्षमॄ भी उस(बकी)मॄ दुष्टपन आता ही है क्यॄकि वह मारनेकी इच्छासे ही आई थी, पहलेसे भी इसमॄ दुष्टपन मौजूद है अतः कहा है कि 'असाध्वी' दुष्टा है, इससे यह कहा है कि इसमॄ दैत्यॄके धर्म भी नहीं है, क्यॄकि वे जितेन्द्रिय होते हैं, यह जितेन्द्रिया नहीं है, तो भी उसकी आकृति और क्रिया माता यशोदा जैसी थी, इसलिए उसके दोषका विचार न कर क्रिया(दूध पिलाने)का फल दिया, इससे यह सूचित किया है कि भगवत्स्वरूपका किसी भी प्रकारसे सम्बंध हो जावे तो, दूसरे साधनॄकी अपेक्षा न कर, वह स्वरूपसम्बंधितको फल दे देते हैं, भगवान् तो गुणॄको ही ग्रहण करते हैं, दोषॄको ग्रहण नहीं करते हैं, इस कारणसे ही परम दयालु हैं, इसलिए कहा है कि, 'कं वा दयालुं शरणं व्रजेम' ऐसे दयालुको छोड़ कौनसे दूसरे दयालुकी हम शरण लेवॄ. 'शरण' पदसे सेवा भक्ति आदिका भी निवारण किया है ।।२३।।

आभासार्थः गीतामॄ भगवान्ने "**निबन्धायासुरी मता**", "**तान् अहं द्विषतः क्रूरान्**" इन दोनॄ श्लोकॄमॄ कहा है कि "आसुरी योनियॄकेलिए है और द्वेषी और क्रूरॄको आसुरी योनिमॄ ही पैदा करता हूं". फिर यहां उस प्रतिज्ञासे विरुद्ध कैसे? इस शंकाको मिटानेकेलिए 'मन्येऽसुरान्' श्लोक कहा है:

मन्येऽसुरान् भागवतान् त्र्यधीशे संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान् ।
ये संयुगेऽचक्षत तार्क्ष्यपुत्रम् अंसे सुनाभायुधम् आपतन्तम् ।।२४।।

श्लोकार्थ: जो असुर युद्धमॄ कन्धेपर वक्रधारीको बिठाकर सामने आते हुए गरुडको देखते हैं और क्रोध द्वारा ही मुझ(त्रिलोकेश्वर)मॄ चित्त पिरोते हैं उन असुरॄको मैं भगवदीय मानता हूं।।२४।।

व्याख्या: ''मामप्राप्यैव'' गीताके श्लोकॄमॄ कहा है कि मुझे जो प्राप्त नहीं कर सकते हैं उनकी ही अधम गति होती है, किन्तु जो दृष्टि आदिसे मुझे प्राप्त कर लेते हैं, ऐसे असुरॄको 'मामप्राप्यैव' इस गीताके वाक्यानुसार मैं उन्हें भगवदीय ही मानता हूं. उनकी अधम गति हो उसकेलिए उनको भगवान्की अप्राप्तिके अभावके कारण ही वे भी मोक्षको ही प्राप्त करते हैं, सारांश यह है कि भगवत् प्राप्ति(सम्बंधादि) होनेसे अधम गति रुक जाती है और उनका मोक्ष हो जाता है. अपनी और अन्यॄकी देहमॄ रहनेवाला जो मैं हूं उसका द्वेष करते हैं, इस प्रकारके द्वेषसे मेरी(भगवान्की) अप्राप्ति सिद्ध होती है. वे जगद्रूप(भगवान्)का ही द्वेष करते हैं, न कि साक्षात् भगवान्का जो साक्षात् भगवान्का द्वेष करते हैं. वे भगवान्को प्राप्त करते ही हैं. अन्तः करणके धर्मसे बुद्धिकी स्वांसवृत्तिसे(द्वेष, भय और काम आदि किसी भी वृत्तिसे) जो भगवान्से सम्बन्ध कर लेते हैं, वे भगवान्के होनेसे भागवत अर्थात् भगवदीय हैं. अन्यमत कितने ही कहते हैं कि ''**दानवास्तु तमोलयाः**'' दानवॄका तो अन्धकारमॄ लय होता है इस प्रकार जो वैष्णवतन्त्रॄमॄ कहा है वे स्वाभाविक दानव हैं, वे 'दानव' वेदमॄ भी देवॄके शत्रु कहे हैं, उनका मोक्ष नहीं होता है.

पूतना आदि जिनकी मुक्ति हुई है वे स्वाभाविक दानव नहीं हैं, किन्तु उनमॄ आसुरावेश है, वह आसुरावेश भगवान्से सम्बन्ध होते ही निकल जाता है, इसलिए उनकी मुक्ति हो, यह उचित ही है.

दो प्रकारॄके असुरॄकी मुक्ति और बन्धकी व्यवस्थाकेलिए भेदभाव, अर्थात् जीव वास्तविक ब्रह्मसे पृथक् वस्तु है, ऐसे नैयायिक आदि मतको, वैनाशिकी प्रक्रिया अर्थात् सृष्टिका अस्तित्व दृश्यमात्र है, वास्तवमॄ विनाशसे सम्बन्धवाला है, और अपने सिद्धान्तके विरुद्ध, जो भगवान्के वचन व वेदके वाक्य हैं उनको मोहकवाक्यवत् मानते हैं, ऐसे विचारवालॄका सिद्धान्त बहुत शास्त्रवाक्यॄसे विरुद्ध होनेसे विचारणीय है, कि वे भक्तिके प्रसारकेलिए अथवा लोकशिक्षार्थ यॄ कहते हैं.

असुर, भगवान्को प्राप्त कर सकें वह उपाय कहते हैं, ''संरम्भ-

मार्गाभिनिविष्ट-चित्तान्'', क्रोधके द्वारा जिन्हॄने भगवान्मॄ चित्त प्रविष्ट किया है, वे मुक्त हो सकते हैं, क्यॄकि ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्न ये तीन जैसे भगवत्प्राप्तिके उपाय हैं, वैसे ही क्रोध भी भगवत्प्राप्तिका मार्ग(उपाय) है, क्रोधको, भगवत्प्राप्तिका हेतु कैसे कहा? जिसके उत्तरमॄ कहते हैं कि इससे भगवान्का परम दयालुत्व सिद्ध होता है. यदि क्रोध द्वारा सम्बन्ध जोड़नेवालेको मुक्ति न देवॄ, केवल जो स्नेह द्वारा सम्बन्ध करते हैं उनको देवॄ तो भगवान्मॄ दयालुपन नहीं कहा जा सके, इससे वैष्णवॄको दोमॄ से एक बात माननी चाहिए, १.दैत्यॄके मुक्तिका अभाव, वा २.भगवान्की दयालुता, भगवान् दयालु हैं(अतः दया कर दैत्यॄको भी मुक्ति देते हैं). इन दो मतॄमॄ भगवान्की दयालुता माननेका मत बलवान् है अतः 'ये संयुगेऽचक्षत इति' कहा है, वे असुर युद्धमॄ मरनेकेलिए आते हैं, उनपर यदि भगवान् दया न करॄ तो, स्वयं सामने प्रत्यक्ष दर्शन न देकर परोक्षमॄ दूसरॄसे मरवा दॄ, यदि यॄ करॄ तो इसमॄ भक्तिमार्गसे विरोध आता है, इसलिये कहते हैं कि(तार्क्ष्यपुत्र). जिसके कन्धेपर चक्र आयुध हैं ऐसे गरुड़के दर्शन करते हैं, 'अंसेसुनाभायुधम्' इस पदमॄ अलुक् समास है, भक्त और दैत्यमॄ जो भेद है वह दिखाते हैं, भक्त सर्वरूप भगवान्को सर्वदा देखते हैं, गरुड़पर विराजे हुए स्वरूपको भी और दूसरॄके साथ लड़ाईमॄ भी दर्शन करते रहते हैं. दैत्य तो केवल लड़ाईके समय मात्र गरुड़को ही देखते हैं, किन्तु उस गरुड़पर भगवान् विराजे हैं, गरुड़ कालात्मक हैं, उसके ऊपर भगवान् विराजमान हैं, अतः असुर पहले कालको प्राप्तकर तदनन्तर भगवान्को प्राप्त होते हैं, जीवित(जीते हुए) प्राप्त नहीं होते हैं, भक्त व असुरॄमॄ इतना भेद है ।।२४।।

आभासार्थ: इस प्रकार भगवान्के स्वरूप और गुणॄका वर्णनकर इस विषयमॄ जो विदुरको अज्ञान था, वह उसका अज्ञान दूरकर निम्न श्लोक 'वसुदेवस्य देवक्यां' से दश श्लोकमॄ विदुरके प्रश्नॄका उत्तर देते हैं, जिनमॄ पहले पांच तन्मात्राओॄका निरूपण करते हैं:

गन्धो भगवत: स्थानं रस: क्रीडाऽपि बालकै:।
रूपं त्रिभङ्गिललितं सर्वदोषनिवारकम्।।का.१।।

कारिकार्थ: भगवान्का स्थान 'गन्ध' है. बालकॄके साथ क्रीडा भी 'रस' है, सर्व दोषॄका नाशक त्रिभंगवाला सुन्दर स्वरूप 'रूप' है।।१ ।।

मृत्योरमार्गतो रक्षा तस्य स्पर्शोऽभिधीयते।

लोकवेदविरोधेन मनोवागनुसारतः।।का.२।।

कारिकार्थः [1]लोक और [2]वेदसे विरुद्ध, मन और वाणीका अनुसरण कर, मार्गरहित मृत्युसे रक्षण ही उसका स्पर्श है।।२।।

प्रपन्ने भगवल्लीला दुःखाभावसुखात्मिका।
स शब्दो नाऽन्य इत्येषमात्रा रूपोऽधिकारकृत्।।का.३।।

कारिकार्थः शरणागतॄकेलिए दुःखाभावरूप[3] और सुखरूप भगवान्की लीला ही शब्द है, दूसरा कोई शब्द नहीं है, इसी तरह यह मात्राका गुण अधिकार करानेवाला है।।३।।

१. भगवान्के मनके अनुसार लोकके विरुद्ध प्रकारसे शरण आनेका प्रसंग 'अन्नकूट' समय हुआ. २.भगवान्पर प्रेमके कारण वेद विरुद्ध प्रकारसे शरण आनेका प्रसंग 'वेणुनाद' सुननेका समय हुआ. ३.'दुःखाभाव' अर्थात् जिसका अनुभव नहीं किया है ऐसा 'परम आनन्द'.

वसुदेवस्य देवक्यां जातो भोजेन्द्रबन्धने।
चिकीर्षुः भगवान् अस्याः शम् अजेनाऽपि याचितः।।२५।।

श्लोकार्थः इस पृथ्वीका कल्याण करनेकी इच्छावाले, ब्रह्माजीसे प्रार्थित भगवान्, कंसके कारागारमॄ वसुदेवकी स्त्री देवकीसे प्रादुर्भूत हुए।।२५।।

व्याख्याः जिस घरमॄ कंसका कारागार(जेलखाना) था, ऐसे घरमॄ वसुदेव की स्त्रीसे भगवान् प्रकटे, अथवा देवकीके कारण वसुदेवजी कंसके बंधनमॄ पड़े उनको छुड़ानेकेलिए आप देवकीसे प्रकटे तात्पर्य[1] आगे कहा है, भगवान्मॄ सर्व प्रकारकी मानसिक वृत्ति विकार[2] समान हैं, यॄ बतानेकेलिए लोक प्रसिद्ध कथा कहते हैं इस पृथ्वीके कल्याणकी इच्छा करनेवाले अर्थात् आपके अवतारका प्रयोजन पृथ्वीको सुख देना है, ब्रह्माकी प्रार्थना भी भक्तॄके उद्धारके लिए है. 'अपि' शब्दका यह भाव है, कि दूसरॄने जो प्रार्थनाकी वह सबके उद्धारकेलिए ही थी।।२५।

१.सर्वमुक्तिके अभावार्थ, लोकवञ्चनरूप तात्पर्य है. २.भगवान्मॄ दीखते ये विकार ठगनेके साधनरूप ह्यॄ इसलिए.

ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद् विबिभ्यता।
एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत्।।२६।।

श्लोकार्थः कंससे डरे हुए पिता, यहांसे नन्दके व्रजमॄ ले गए, वे वहां

अपने तेजको छिपाकर, बलरामजीके साथ ११वर्ष रहे ।।२६ ।।

व्याख्या: मथुरामृ प्रकट होनेके बादमृ डरे हुए पिताके द्वारा नन्दके व्रजमृ(श्रीकृष्ण) पहुंचे, वहां अपना तेज छिपाकर बलभद्रको ही अपना सहायक समझ, उसके साथ ११ वर्ष वहां रहे थे. दश श्लोक प्राणात्मक[1] हैं, दो दो श्लोक एक-एक पृथक् पृथक् [2]विषयके निरूपक हैं, इससे जन्म लेनेके तीन कारण ये हैं १.भूमिको सुख देना २.ब्रह्माकी प्रार्थना ३.भक्त हितार्थ दूसरृकी, की हुई प्रार्थना गोकुल जानेके दो कारण हैं१.पिताका कंससे डरना२.ब्रह्माकी प्रार्थनाके कारणमृ, ब्रह्माकी प्रार्थना अनुषङ्ग होनेसे कही है यृ तो इसके प्रयोजनमृ गिनती नहीं क्यृकि यह स्वतंत्ररूपसे पृथक् कही है फिर यह व्रज तो अन्तरिक्ष स्थानके समान है क्यृकि जैसे ''ते अन्तरिक्षम् अजयन्'' इस गतिसे अन्तरिक्षका देव महादेव हैं वैसे ब्रजका भी देव महादेव हैं कारण कि व्रज पशुआृका स्थान है, महादेव पशुपति हैं, अतः एवं रुद्रकी प्रसन्नताकेलिए ११ वर्ष रहे,(क्यृकि रुद्र ११ हैं) यहां भगवान्मृ वायुकी तुल्यता बताते हैं कि जैसे वायुके कार्य वायुमृ गुप्त रहते हैं, वैसे भगवान् भी अपना तेज छिपाकर रहे, अपना तेज छिपाकर रहनेसे वायुको प्रसन्न किया और महादेवके प्रसन्नतार्थ बलदेवजीके साथ रहे, कारण कि बलदेवजी स्वरूपमृ सङ्कर्षण भी हैं सङ्कर्षणका अधिदेव स्वरूप महादेव हैं, अतः इतने वर्ष बलदेवको साथमृ लेकर ब्रजमृ रहे ।।२६।।

१.इन्द्रियरूप हैं. २.सृष्टि होनेके बाद तन्मात्राएं गुणरूपसे इन्द्रियृमृ प्रविष्ट होती हैं इन्द्रियां तन्मात्राआृको गुणरूपसे ग्रहण करती हैं, जिसमृ महाभूत भी विषय होते हैं.

आभासार्थ: इस प्रकार वायुके समान अनासक्तिसे स्थित, पूर्वोक्त प्रयोजनके अभाव होनेसे ''**सप्त वै शीर्षण्या वाग् अष्टमी**'' इस श्रुतिके अनुसार शिरमृ रहे हुए सात इन्द्रियृके स्थान तथा आठवीं वाणीसे क्रीडा करने लगे, यृ आठ श्लोकृमृ कहते हैं, उनमृ पहले दो श्लोकृसे कानके विषयमृ कहा है:

परीतो वत्सपैर्वत्सान् चारयन् व्याहरद् विभुः ।
यमुनोपवने कूजद् द्विजसङ्कुलिताङ्घ्रिपे ।।२७।।

श्लोकार्थ: मधुरध्वनि करते हुए पक्षीसमूहृसे पूर्ण वृक्षृवाले, श्रीयमुनाजीके समीपके उपवनृमृ गोपगणृसे आवेष्टित(घिरे हुए) प्रभु बछडृको चराते हुए विहार करते थे ।।२७ ।।

व्याख्या: ये दो, २७-२८ वृ श्लोक 'परीतो','कौमारी' [1]स्कन्धार्थत्वसे

मुखरूप हैं और प्रकरणार्थत्वसे दो [२]कान हैं, बछड़ाके पालक गोपाल बालकासे घिरे हुए प्रभु बछड़ाको चराते हुए(बिहार करते थे) इस तरह [३]वायु और [४]प्राणाकी क्रियासे ही विहार करते थे किनके साथ विहार करते थे? इसपर कहते हैं ''बालैः सह क्रीडितवान्'' बालकाके साथ क्रीड़ा करते थे या तात्पर्य है, खेलनेमा किसी प्रकारकी रुकावट नहीं थी क्याकि [५]श्रीयमुनाजीके समीप खेलनेकेलिए उपवन था, वहां किसी प्रकार चित्तमा उद्वेग भी नहीं होता था, कारण कि वहां पेड़ापर पक्षी समूह मधुर ध्वनि करते रहते थे, जिससे आनन्द ही था, इससे या कहा कि, भगवद्भक्त वेदरूप कल्पवृक्षापर बैठकर भक्तिका आश्रय ले भगवान्के गुण गान कर रहे हैं ।।२७।।

१.स्कन्धका अर्थ, महाभूतादिकी सृष्टि है यह सृष्टि बलके बिना नहीं होती है, बल प्राणका धर्म है, प्राण जलरूप है जो रसप्रधान है उसको ग्रहण करनेवाला मुख है, अतः यहां रसका निरूपण करना उचित ही है.

२.यहां प्रकरण, श्रोताके अधिकारका है श्रोतामा सुननेकेलिए श्रोत्र(कान) प्रधान है इसलिए ये दो श्लोक, दो कान है.

३.बछड़ाको चराना यह वायुकी क्रिया है, कारण कि द्रव्यादिकोंको ले जाना वायुकी क्रिया है.

४.पक्षियाकी मधुर ध्वनिके ग्रहणमा प्राणाकी क्रिया अनुकूल है.

५.जल, रसप्रधान है अतः गोप बालकासे वहां क्रीड़ा रसवती है.

आभासार्थः वनकी क्रीडाका वर्णन कर, निम्न श्लोकमा सन्ध्या समय व्रजमा की हुई क्रीडाका वर्णन करते हैं:

कौमारीं दर्शयंश्चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम्।
रुदन्निव हसन् मुग्धबालसिंहावलोकनः ।।२८।।

श्लोकार्थः मानाा रो रहा है या अथवा हंसता हुआ, भोले बालकके समान, कभी सिंह जैसी दृष्टिवाला होकर, ये सब देखने योग्य कौमार लीलाएं व्रजवासियाको दिखाते हुए क्रीडा करते थे ।।२८ ।।

व्याख्याः कुमार अवस्था पांच वर्ष पर्यन्त गिनी जाती है, अतः पांच वर्ष तक की हुई लीला 'कौमार लीला' कही जाती है. पांच वर्षोंमा की हुई पांच प्रकारकी लीलाएं पांच प्रकारके व्रजवासियाको दिखाते हुए विहार(क्रीडा) करते थे. तीन तरहके पुरुष और दो प्रकारकी स्त्रियां थीं, क्याकि स्त्रियां सात्त्विकी नहीं

होती हैं, अतः इन सबको योग्यतानुसार देखने योग्य चेष्टाएं दिखाते हुए क्रीड़ा करते थे, याॅ सम्बन्ध है, वह प्रभु सब करनेकेलिए समर्थ हैं. 'दर्शयन्' पदका भावार्थ है कि स्वयंने वैसा नहीं किया किन्तु केवल उनको दिखा दिया, इन लीलामाॅमृ पहले वर्षमृ मानो आप रो रहे हैं, ऐसी चेष्टा दिखायी, इस चेष्टासे ही तामसी स्त्रियां प्रसन्न होती हैं और यह चेष्टा रुद्रकी प्रसन्नताकेलिए भी की है, आपने हंसते हुए दर्शन दिए जिससे राजसी स्त्रियां प्रसन्न हुईं, मुग्ध भावसे तामसी प्रसन्न हुए, बालभावसे राजस पुरुष प्रसन्न हुए, सिंह जैसी दृष्टिसे सात्त्विक पुरुष प्रसन्न हुए. यहां आकर भी पूर्व समयके भक्ताॅका स्मरण आनेसे मानो रो रहे हैं, याॅ दिखाते हैं. हंसता हुआ भोला जो बालसिंह उसके समान नेत्र जिसके हैं, ऐसा दर्शन दे रहे हैं ।।२८।।

आभास : पौगण्ड लीला कहते हैं :

सएव गोधनं लक्ष्म्या निकेतं सित–गो–वृषम् ।
चारयन् अनुगान् गोपान् रणद् वेणुर् अरीरमत् ।।२९।।

श्लोकार्थ: लक्ष्मीके धामरूप, श्वेत गौ तथा वृषभ इत्यादि गोधनको चराते हुए भगवान् वेणु बजाते हुए अपने सेवक गोपाॅको खिलाते थे ।।२९ ।।

शिष्टेषु षट्सु वर्षेषु षड्भिः श्लोकैः विशेषतः ।
तास्ताः लीला इहोद्दिष्टाः क्रमो नात्र विवक्षितः।।का.१।।

कारिकार्थ: शेष छः वर्षोंमृ की हुई पृथक् पृथक् लीला, यहां छः श्लोकाॅसे कही है जिसमृ क्रमकी अपेक्षा नहीं रखी है.

व्याख्याः वे ही प्रभु, जो पहले कहे हैं, खिलाते थे. लक्ष्मीका धाम अर्थात् अति सुन्दर गौआॅका समूह, इसको चराते हुए खिलाते थे. चरानेमृ कारण जिस गोसमूहमेॅ श्वेत गौ और वृषभ थे, इससे सूचित किया है कि विहार धर्मप्रधान है, अतः उनको चराना धर्मकार्य है, याॅ कहा है. दूसरे जो, आपकी आज्ञासे धर्म पालन कर रहे हैं, उनको भी शीघ्र ही फलसे संबंध कराया है, इस अभिप्रायसे कहते हैं कि(अनुगान्) अर्थात् अपने स्वामीके भावानुसार वर्तन करनेवाले गोपालाॅकी वेणु बजाकर, ब्रह्मामृतका पान कराके परब्रह्मके आनन्दमृ रमण कराते थे ।।२९।।

आभासार्थ: इस रमण कार्यमृ जो बाधक(विघ्न करनेवाले) थे उनको तो खेलते ही दूर फैंक दिया, याॅ इस श्लोकमृ कहते हैं:

प्रयुक्तान् भोजराजेन मायिनः कामरूपिणः।
लीलया व्यनुदत्तान् तान् बालः क्रीडनकानिव ।।३०।।

श्लोकार्थः कंस द्वारा प्रेषित मायावी स्वच्छन्दरूप धारण करनेवाले दैत्याृका लीलासे याृ नाश कर दिया जैसे बालक खेलते हुए खिलौनाृको तोड देता है ।।३० ।।

व्याख्याः कंसके भेजे हए, अनेक रूपधारी दैत्य जो दैत्य व्यामोह करानेकेलिए आए थे उनको क्रीड़ा करते हुए खेलमृ ही सबको समाप्त कर दिया, जो प्रसिद्ध थे, उन सबका भी नाश कर छोड़ा याृ करनेमृ आपको श्रम हुआ होगा? इस शङ्काको मिटानेकेलिए कहते हैं कि जैसे बालक, वस्त्राृकी बनी पुतली अथवा काष्ठके खिलौनेको खेलते हुए तोड़ देता है वैसे ही आपने भी इन मायावियाृको खेलनेमृ नाश किया, ये दोनाृ कार्य एक वर्षमृ किए हैं ।।३०।।

आभासार्थः 'विपन्नान् विषपानेन' श्लोकसे सातवृ वर्षके कृत्याृको कहते हैं :

विपन्नान् विषपानेन निगृह्य भुजगाधिपम्।
उत्थाप्याऽपाययद् गावस् तत्तोयं प्रकृतिस्थितम् ।।३१।।

श्लोकार्थः सर्पोंके स्वामीको दण्ड देकर, विषपानसे भरे हुए गौ गोपादिको जीवित कर, कालिय हृदके जलको विष रहित कर पहली स्थितिमृ लाके, वही मीठा जल गौआृ और गोपादिको पिलाया ।।३१ ।।

व्याख्याः कालिय हृदमृ विषमय जलके पानसे मृतकाृको, उनके मारनेवाले सर्पोंके स्वामीको दण्ड देकर, उन सबको जीवित दशामृ उठाकर, वह ही जल गौ आदिको पिलाया, क्याृकि भगवान्ने उस जलको पहले जैसा मिष्ट(मीठा) बना दिया था ।।३१।।

अयाजयद् गोसवेन गोपराजं द्विजोत्तमैः।
वित्तस्य चोरुभारस्य चिकीर्षुः सद्व्ययं विभुः।।३२।।

श्लोकार्थः अतिशय धनका सत् व्यय करनेकी इच्छावाले समर्थ प्रभुने उत्तम ब्राह्मणाृ द्वारा गोपराजसे [१]गोसव यज्ञ करवाया ।।३२ ।।

व्याख्याः इस श्लोकमें प्रभुकी लीला, सातवृ वर्षके अन्तमृ की हुई है उसका वर्णन किया है, 'गोसव' पद कहनेका भावार्थ है, इन्द्रकेलिए होनेवाले यज्ञको न कराके यह 'गोसव' यज्ञ करवाया, 'गोसव' यज्ञका दूसरा नाम 'वैश्य

स्तोम' है क्यूंकि इस यज्ञसे गौओंकी वृद्धि होती है जिससे वैश्योंकी समृद्धि बढ़ती है. नन्दराय, वैश्यराज होनेसे, गोसव यज्ञका समूहात्मक स्वरूप है, उसने यह यज्ञ उत्तम ब्राह्मणों द्वारा कराया, अर्थात् यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण थे न कि स्वयं भगवान् थे, इन्द्रके यज्ञका भङ्ग कर इस यज्ञको करानेका हेतु यह था कि भगवान्ने देखा कि नन्दजीके पासके कोट्यवधि असीम द्रव्य यूं ही पड़ा है उसका सदुपयोग हो इसलिए इन्द्रयाग बन्द कराके गोसव यज्ञ कराया, जिसमें धनका सदुपयोग हुआ, इन्द्रयाग परम्परासे होता आया था वह कैसे बन्द हुआ, जिसके उत्तरमें कहा है कि(विभु) भगवान् सब कुछ करानेमें समर्थ हैं अतः इन्द्रयाग भी बन्द करा दिया ।।३२।।

१. दण्ड देना, और जीवित कर उठानेका कार्य त्वचा, नेत्र और स्पर्श से होता है, अत: मृत्युसे रक्षण इन द्वारा हानेसे स्पर्शरूप है, गोसव भी स्पर्शका कार्य होनेसे स्पर्शरूप है.

आभासार्थ: 'वर्षतीन्द्रे' श्लोकमें आठवें वर्षका कार्य(लीला) कहते हैं:

वर्षतीन्द्रे व्रजः कोपाद् भग्नमानेऽतिविह्वलः ।
गोत्रलीलातपत्रेण त्रातो भद्राऽनुगृह्णता ।।३३।।

श्लोकार्थ: हे भद्र ! मान भंग होनेसे क्रोधित इन्द्रने जब खूब वर्षा की तब व्रजवासी बहुत विह्वल होने लगे, इनको विह्वल देख भगवान्ने अनुग्रह कर, पर्वतरूप छत्ता उठाके उनकी रक्षा की ।।३३ ।।

व्याख्या: भगवान्ने यज्ञमें देहवाला देवता ही होना चाहिए यह मुख्य पक्ष प्रकट करदिखानेकेलिए ही इन्द्रसे वृष्टि कराई, और पुष्टिलीला(अनुग्रहात्मक लीला)की स्थापना करनेकेलिए गोवर्धन पर्वतको उठाया, व्रज सम्बन्धित कोपके कारण इन्द्र जब मेघ द्वारा वर्षा करने लगा, तब व्रजका नाश हो जाएगा ऐसी शङ्कासे भगवान्ने व्रजकी रक्षा की, इन्द्रने यूं क्यूं किया ? जिसका उत्तर देते हैं, कि इन्द्रके मानका भंग हुआ था, इसलिए उसने ऐसी वर्षा करनेकी मेघोंको आज्ञा दी, जब इसी प्रकार मेघ वर्षा करने लगे तब भगवान्ने जैसे छत्ता उठाया जाता है वैसे खेल खेल में पर्वतरूप छत्ता उठाकर ब्रजकी रक्षा की, पृथ्वीके रक्षकोंका भी भगवान्ने उद्धार किया, क्यूंकि वे धार्मिक थे. हे भद्र! यह सम्बोधन उद्धवजीने विश्वास करनेकेलिए दिया है, अथवा यह जतानेकेलिए कि तुमको भी इस प्रकार बचाया है. पर्वत न उठाकर भी दूसरी भक्तिसे बचा सकते थे, किन्तु व्रजपर अपना परम अनुग्रह है यों लोकमें प्रसिद्ध करनेकेलिए पर्वतको उठाया है, इस

अभिप्रायको जतानेकेलिए 'अनुगृह्णता' पद दिया है, अनुग्रह करते हुए भगवान्ने या॒ किया. इससे ही पुष्टि लीला(अनुग्रहलीला)की स्थापना हुई है ।।३३।।

आभासार्थ: 'शरच्छशिकरैः' श्लोकमृ॒ चतुष्टय[१] वर्षकी लीलाका वर्णन करते हैं :

शरच्छशिकरैः मृष्टं मानयन् रजनीमुखम् ।
गायन् कलपदं रेमे स्त्रीणां मण्डलमण्डनः।।३४।।

श्लोकार्थ: स्त्रिया॒के मण्डलके आभूषणरूप भगवान् शरद् ऋतुके चन्द्रकी किरणा॒से उज्ज्वल बने हुए रात्रिके मुखका मान करते हुए, और मधुर पदा॒वाला गान करते हुए रमण करते थे ।।३४ ।।

व्याख्या: अब ही उदय हुए चन्द्रमाकी किरणा॒से उज्जवल बने हुए रजनीके मुखका आदर करते हुए रमण करते थे, रजनी(रात्रि) स्त्री है और चन्द्रमा पति है, वह बहुत समयके बाद आए थे इसलिए भीतर अन्त:करणके तापसे दु:खी उस मानिनीका अपनी किरणा॒से स्पर्श करते हुए उसके मानका मोचन कराते हैं, इतनेसे ही उसका मान दूर नहीं हुआ क्या॒कि, वह देवता है, बिना कलङ्क वालेसे रमण करना चाहती हैं, यह पति 'शशी' तो खरगोशके कलङ्कवाला है, इसलिए दोना॒(रजनी तथा चन्द्रमा)के समाधानार्थ स्वयं भगवान् उपाय करने लगे, रजनीको सहस्र स्त्रीरूप बना लिया, चन्द्रमाका अपने मनसे उद्भवकर, उस मनका अधिष्ठ देवत्व सिद्ध करनेकेलिए शब्द ब्रह्मका उच्चारण करते हुए परमा रति क्रीड़ा करने लगे, यह चन्द्र शरद् ऋतुका था, वर्षा ऋतुमृ॒ तो रात्रिके समय वर्षा होती है, अर्थात् रजनी मानो रो रही है, इस कारणसे ही वर्षा ऋतुके बीत जानेपर ही शरद् ऋतु होती है, उसमृ॒ प्रकट हुआ चन्द्रमा, अपने किरणा॒से(रजनीके) आंसुआ॒को पोंछे, यह उचित ही है अन्य रजनीके मुखका आदर नहीं करते हैं कारण कि उत्तम पुरुष उस समय रतिक्रीड़ा नहीं करते हैं, जो रससे पूर्ण हैं उसमृ॒ तो दोष होता ही नहीं है, अतः दोषरहित हो के, आदर करनेका तब ही होता है, जब भगवान्के परायण हों.

स्त्रिया॒का मण्डल जिसका भूषण है, अथवा सुवर्णमृ॒ नील मणिके समान वा कसौटीपर पड़ी हुई सुवर्णकी रेखाकी तरह, स्त्रिया॒के मण्डलका आभूषण बने हुए भगवान् रमण करते थे[२] ।।३४।।

१.पूर्व श्लोकमृ॒ आठवृ॒ वर्षकी लीला कही है, अतः वहां(चतुष्टय)का तात्पर्य है नवमां

वर्ष. पौगण्डावस्थाका चतुर्थ वर्ष नवमां होता है.

२.इस तरह आठ श्लोकाृसे शिररूप वासुदेव व्यूहकी लीला कही है, यह सर्व लीला वसुदेवके घरमृ प्रकट हुए भगवान्‌की है, वह परम पुरुष हैं, उनका उत्तम सच्चिदानन्द स्वरूप इस अध्यायके १२ श्लोकाृमृ बताया है, याृ होनेसे ही अक्षररूप पुरुषोत्तमकी देहमृ व्यूहाृके विभाग होना सिद्ध होता है, इससे ही १२ स्कन्धमृ, व्यूहाृका निरूपण करते(ब्रह्मकी) मूर्तिका व्यूह. यहां 'मूर्त्ति' शब्द दिया है मथुरामृ चार व्यूहसे प्रभु प्रकटे हैं, गोकुलमृ 'दूध' उत्पन्न करानेकेलिए वसुदेव व व्यूहसे प्रकटे हैं. पुरुषोत्तमका तो जन्म होता ही नहीं है, वे सर्वथा उत्तम सदानन्द हैं, उनके सर्व श्रीअङ्ग आनन्दात्मक हैं, आनन्दरूप अमृत प्रकाशते हैं इस श्रुत्यनुसार आप ही अपने भीतर ही प्रतिष्ठावाले रस रूप हैं. द्वादश स्कन्धमृ

''**वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम्,**
अनिरुद्ध इति ब्रह्मन्मूर्तिव्यूहोऽभिधीयते इति''.

उत्तम सदानन्दमृ प्रमाण ''**स तु अक्षरात् परतः परः**'' श्रुति, ''**अतोऽस्मिलोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः**'' स्मृति, ''**कृषिः भूवाचकः**'' इस श्रुतिसे सदानन्द, ''**आनन्दमात्र–करपाद–मुखोदरादिः**'' स्मृतिः, ''**आनन्दरूपम् अमृतं यद्विभाति**'' श्रुतिसे साकार. – 'प्रकाश'.

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके अध्याय २ की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ३

भगवान्‌की अन्य लीला–चरित्रका वर्णन

तृतीये मध्यचरितं कृष्णस्य विनिरूप्यते।
इन्द्रियाणां तथा सर्गम् अधिकारस्य पोषकम्।।कारि.१।।

कारिकार्थ: तीसरे अध्यायमें श्रीकृष्णके मध्यावस्थाका चरित्र और अधिकारका पोषण करनेवाली इन्द्रियोंके सर्गका निरूपण किया जाता है।।१।।

आविर्भूतो हि भगवान् तत्वान्येव प्रवर्तयन्।
सर्वां सृष्टिं वितनुते तावन्तोऽत्र ततो गुणाः।।कारि.२।।

कारिकार्थ: प्रकट हुए भगवान् तत्त्वोंकी प्रवृत्ति कराते हुए ही सकल सृष्टिका विस्तार करते हैं. इसलिए इस अध्यायमें उतने गुण हैं।।२।।

दशेन्द्रियाणि चत्वारि मनआदीनि देवताः।
अष्टाविंशतिरूपाणि निरूप्यन्ते ततोऽत्र हि।।कारि.३।।

कारिकार्थ: इसलिए दश इन्द्रियां, मन आदि चार और इनके देवता ये सब मिलकर २८ रूपोंका निरूपण किया जाता है।।३।।

आभासार्थ: पूर्वके अध्यायमें भगवान्‌का प्रादुर्भाव मथुरामें हुआ कहकर वहांके ही चरित्र कहने चाहिए थे किन्तु वे न कहके मध्यमें गोकुलमें वास आदि कह दिया, अब मथुरामें चतुर्व्यूह रूपसे जो स्वरूप प्रकट हुआ उसका कार्य निरूपण करते हैं, जिसमें पहले गोकुलसे लौटकर कंसको मारा, यों निम्न श्लोकमें कहते हैं:

उद्धवः उवाच

ततः स आगत्य पुरं स्वपित्रोः चिकीर्षया शं बलदेवसंयुतः।
निपात्य तुङ्गाद्रिपुयूथनाथं हतं व्यकर्षद् व्यसुमोजसोर्व्याम्।।१।।

श्लोकार्थ: उद्धवजीने कहा कि गोकुलसे यहां माता–पिताको सुखी करनेकी इच्छासे बलदेवके साथ मथुरा नगरीमें आकर, शत्रु समूहके स्वामी कंसको सिंहासनसे गिराकर मारा. पश्चात् गत प्राणवालेको अपने बलसे पृथ्वीपर घसीटने लगे।।१।।

व्याख्या: अपने माता–पिताको सुखी करनेकी इच्छासे, दोनोंका कार्य सिद्ध करनेकेलिए बलदेवजीके साथ, वे भगवान् गोकुलसे अपनी पुरी मथुरामें

आकर, प्रथम ही शत्रुयूथके नाथ कंसको सिंहासनसे नीचे पटककर, उसके ऊपर आप गिरे, जिससे वह मरा, तब माता-पिताको प्रसन्न करनेकी इच्छासे मरे हुएको अर्थात् उसकी मृतक देहको घसीटने लगे. इस प्रकारकी ही उन(माता-पिता)के मनकी कामनाएं थीं कि इसको इस प्रकारका बनाकर कौन घसीटेगा? इसके उत्तरमॄ कहते हैं कि 'ओजसा', ऐसे भगवान् ही थे जिन्होंने यॄ कर अपने बलसे ही इसको घसीटा, अर्थात् जैसे उसके अवयव विशीर्ण हो जावें,(अंग टूट जावें) वैसे महान् प्रयत्नसे उसको घसीटने लगे, यह ही भक्तॄका मन है, अर्थात् भक्तॄके मनके भावॄको जाननेवाला यह स्वरूप ही है, अतः भक्तॄके मनमॄ स्थित दैत्यको नाश कर, उनके मनको स्वस्थ किया, इस प्रकारके चरित्र होनेसे उनके मनमॄ यह विचार उत्पन्न होता है कि हमको भी वैसे ही करना चाहिए अर्थात् भगवान्की अपेक्षा रखकर रहना चाहिए, क्योंकि भगवान् ही चित्तमॄ स्थित हो दोषको निकाल अस्थिर मनको स्थिर करते हैं ।। १।।

आभासार्थः यॄ दुष्टॄके दण्ड देनेका निरूपण कर अब सभ्य पुरुषॄका पालन करनेकेलिए सत्पुरुषॄके शिक्षार्थ, स्वयं आपने पहला ब्रह्मचर्य धर्म पूर्ण रीतिसे पालन किया, यह निम्न श्लोकमॄ कहते हैं:

सान्दीपनेः सकृत् प्रोक्तं ब्रह्माऽधीत्य सुविस्तरम् ।
तस्मै प्रादाद् वरं पुत्रं मृतं पञ्चजनोदरात् ।।२।।

श्लोकार्थः सान्दीपनिसे सम्पूर्ण विस्तार सहित एक बार कहा हुआ वेद, आपने पढ लिया. पंचजनके उदरमॄ प्राप्त होकर, मरे हुए गुरु पुत्रको लाकर गुरुको वररूप दक्षिणा दी ।।२ ।।

व्याख्याः सान्दीपनका पुत्र सान्दीपनि सर्वज्ञ था, उसके पाससे वेद पढ़कर, कैसे पढ़ा? 'सकृत् प्रोक्तम्'. गुरुने एक बार कहा, आपने याद कर लिया, यॄ कहकर यह दिखाया कि लोक प्रतीतिसे आपकी बुद्धि बहुत तीव्र(तेज) है. ऐसी बुद्धिवालेको गुरुके पास जाकर पढ़नेकी क्या आवश्यकता थी? जिसके उत्तरमॄ कहते हैं कि 'विधिपरिपालनार्थं वा', वेदकी आज्ञाका परिपालन करने केलिए गुरुके पास पढ़े, जिससे अन्य भी वेदाज्ञाका पालन करॄ, केवल मूल वेद नहीं, किन्तु पूर्ण विस्तार सहित अर्थात् उसके अर्थज्ञान एवं अंगॄ सहित सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया, यॄ विद्याको(पढ़नेका कार्य) समाप्त कर, गुरुको दक्षिणा दी, जो वररूपी थी. वह वर, पुत्ररूप था और वह पुत्र भी पहले मर गया था,

अर्थात् जो गुरुपुत्र मर गया था, उसको जीवित लाकर दूंगा, ऐसा वर दक्षिणा रूपमॄ दिया था, अतः वह पुत्र पहले जिस रूपवाला था वैसा ही लाकर भेट किया. कैसे मरा? पंचजनके उदरमॄ प्राप्त होकर मरा था. भगवदाज्ञासे कालने मरणके क्षणसे लोक, सङ्घातके सर्वतत्त्व समूहमॄ प्रतिक्षण, जो विकार होते थे, उन सब विकारॄको बाहर निकाल दिया था इसलिए वह समग्र संघात जैसे पहले था वैसा ही रहा था. यह ही मनका अधिकारी देव है, कारण कि क्षीण चन्द्रमा ही बढ़ता है और शब्द(वेद) जिसका कारण है वैसा ही होता है ।।२।।

आभासार्थः इस प्रकार अपने आचरणसे शिष्टॄका परिपालन कहकर, गृहस्थाश्रम लक्षणवाले धर्मको आचरणसे प्रवृत्त कराने लगे, यॄ कहते हैं:

समाहुता भीष्मक–कन्यया ये श्रियः सवर्णेन बुभूषयैषाम्।
गान्धर्ववृत्त्या मिषतां स्वभागं जह्रे पदं मूर्ध्नि दधत् सुपर्णः।।३।।

श्लोकार्थः भीष्मककी कन्याको गान्धर्वविधिसे प्राप्त करनेकी इच्छावाले जिन राजाॲको रुक्मीने बुलाया था, उनके मस्तकपर पैर धरकर, इसके देखते हुए गरुड अपना भाग ले गए।।३ ।।

व्याख्याः भीष्मककी कन्याको प्राप्त करनेकी इच्छावाले जिन राजाॲ को रुक्मीने बुलवाया था, उनके मस्तकपर पांव धरकर गान्धर्व विध्यनुसार, उसका(रुक्मिणीका) भगवान् हरण कर गए. "**गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ**". क्षत्रियकेलिए गान्धर्व और राक्षस ये दोनॄ विवाह, धार्मिक हैं, इसलिए भगवान्ने पहले ही विवाहमॄ गान्धर्वपन और राक्षसपन दिखाया है. जैसे कि रुक्मिणीकेलिए यह विवाह 'गान्धर्व' था, कारण कि रुक्मिणीकी इच्छा ही भगवान्से विवाह करनेकी थी, राजाॲ एवं रुक्मी आदिकी दृष्टिसे बलात्कारसे रुक्मिणीको ले जाना, 'राक्षस' विवाह था. 'उनके मस्तकपर पांव धर कर' इस पदका भावार्थ यह है कि भ्राताॲको पहले उनको देनेकी इच्छा थी किन्तु एक कन्या बहुतॄको कैसे दी जायेगी, अतः उनकी फिर ऐसी इच्छा हुई कि, जो राजा कन्याको पसन्द आवे अथवा जो महान् हो वह गान्धर्वविधिसे ले लें, इसकी सिद्धिकेलिए भगवान्ने सबके मस्तकपर, सबके कार्य करनेमॄ समर्थ अथवा सबके प्रतीकरूप अपने चरण धरे, इससे राजाॲकी इच्छाॲकी भी पूर्ति की, कारण कि भगवान् सर्वके मूलरूप हैं.

अथवा रुक्मिणी लक्ष्मीके समान शोभावाली थीं जिससे उसके रूपने

राजाओंको मोहित कर बुलाया था. इस प्रकारका पाठ लेने आवे तो 'उनके मस्तकपर पैर धर कर' पदका भावार्थ होगा, उनका मोह दूर किया. यदि अपनी लक्ष्मी जैसी शोभारूप साधनसे रुक्मिणीने राजाओंको गान्धर्वविधिसे प्राप्त करनेकी इच्छासे बुलवानेका कार्य किया है तो भी यह निश्चय नहीं था, किसका वरण होगा, अतः भगवान् सर्वके प्रतीकरूप होनेसे गान्धर्व विवाह हुआ. बलात्कारसे हरण करना तो सर्वत्र(सब पक्षोंमें) समान है. 'मिषतां', देखते हुए पदसे यह चोरीसे ले गए, यों कोई भी नहीं कह सकेगा अथवा 'देखते हुए ले गए' इससे राजाओंकी निर्बलता प्रकट की. 'स्वभाग' अपना भाग पदसे यह सूचित किया है कि किसी प्रकारका धार्मिक दोष इसमें नहीं है. 'सुपर्ण' यह यहां इसलिए दिया है कि भगवान् गरुड़भावको यहां प्राप्त हुए हैं, अतः माताके प्रिय करनेकी इच्छासे अमृतकी तरह रुक्मिणीको ले गए. 'अपने भाग' शब्दका तात्पर्य यह है कि रुक्मिणी 'ज्ञान शक्ति' है. जो केवल भगवत्परायण हो, ऐसे अधिकारीकी बुद्धि ऐसी ही होती है. भगवान्ने ही, सर्व दोषोंको दूरकर, अपने लिए ही उसका अङ्गीकार किया है ।।३।।

आभासार्थः यों चन्द्रवंशोंमें विवाह कहकर अब सूर्यवंशमें उत्सव सहित विवाह निम्न श्लोकमें कहते हैं:

ककुद्मिनो विद्धनसो दमित्वा स्वयंवरे नाग्नाजितीम् उवाह।
तद् भग्नमानानपि गृध्नतोऽज्ञान् जघ्नेऽक्षतः शस्त्रभृतः स्वशस्त्रैः।।४।।

श्लोकार्थः वृषभ(सांडो)के नाकोंमें छेदकर, उसमें रज्जु(रस्सी) डालकर उनको भगवान्ने वशमें कर लिया, जिससे स्वयंवरमें नाग्नजितीसे विवाह किया. सांडोंसे जिन राजाओंका अभिमान नष्ट हुआ है तो भी नाग्नजितीकी प्राप्ति करनेकी इच्छावाले उन राजाओंको भगवान्ने आपेक्षत न होकर उनका नाश कर डाला ।।४।।

व्याख्याः शुक्लरूपमें स्वीकृत सांडोंके नासिकाको छेद कर उसमें रस्सी डाल, खींचनेसे उनके मदका दमन कर एवं उन्हें पराक्रम रहित कर, उनको वशमें कर लिया, जिससे नाग्नजितीसे विवाह हुआ.

वह भी स्वयंवरविधिसे हुआ, न कि उसके पिताने बुलाकर दान कर कन्या दी, इससे अपना धर्म गान्धर्व कहा. नाग्नजितीकी कन्या सत्यासे विवाह किया. उस विवाहमें राक्षसपन भी था, वह कहते हैं कि, पहले स्वयंवरमें आये हुए

राजाओंका, शुक्लरूपमें रखे हुए सांडोंने मान भंग कर दिया था. ऐसे होकर भी, उन राजाओंके मान भंग करनेवाले सांडोंको जीतकर नाग्नजितीसे विवाहित भगवान्‌से उसको(नाग्नजितीके) छीननेकेलिए, विशेष आकांक्षा करने लगे, इस कारणसे ही आपेक्षत न होकर अपने शस्त्रोंसे उन अज्ञ शस्त्रधारियोंका नाश कर डाला, उनको मारकर सत्याको ले आनेसे इस विवाहमें राक्षसपनका निरूपण किया है.

यह नाग्नजिती ब्रह्मरूप बुद्धिदेवता है. उसके दोष दो तरह के हैं. १.नियत और २.अनियत. नियत दोष मायाके किए हुए सात व्यसनात्मक हैं, किन्तु जो अनियत हैं वे तो अगणित हैं. इन दोनों प्रकारके दोषोंको भी भगवान् दूर कर, ''नग्नान्, पाषण्डान् जयति इति वेदो धर्मो वा'', पाषण्डोंको जीतता है वह वेद अथवा धर्म है. उससे(वेद वा धर्मसे) उत्पन्न देवताको अपनेमें निष्ठावान् किया, जो भगवदीय उनकी बुद्धि स्वभावसे भी भगवान्‌के सिवाय दूसरे विषयमें नहीं लगती है ।।४।।

आभासार्थः इस प्रकार विवाहका वर्णन कर, उसमें रमण, बिना आसक्ति के हो नहीं सकता है, इसलिए उसकी आसक्तिका कार्य निम्न श्लोकमें कहते हैं :

प्रभुः प्रियं ग्राम्य इव प्रियाया विधित्सुर् आर्च्छद् द्युतरुं यदर्थे ।
वज्राद्रवत्तं सगणो रुषाऽन्धः क्रीडामृगो नूनम् अयं वधूनाम् ।।५।।

श्लोकार्थः ग्रामीणकी तरह प्रियाके प्रिय करनेकी इच्छावाले प्रभुने पारिजात वृक्षको स्वर्गसे ले आए. अतः क्रोधान्ध हुआ इन्द्र जिस स्वर्गके वृक्ष पारिजातको भगवान्‌से लौटाकर ले जानेकेलिए गण सहित उनसे लडने लगा, कारण कि, यह इन्द्र वास्तवमें स्त्रियोंका वानर है ।।५।।

व्याख्याः अपनी प्रिया सत्यभामाका, ग्रामीणकी तरह, प्रिय करनेकी इच्छावाले प्रभु, स्वर्गका वृक्ष(पारिजात) वहांसे ले आए. पारिजात वृक्षकी मर्यादा यह है कि वह स्वर्गमें रहे और उसका उपयोग देव ही करें. उस मर्यादाको तोड़कर, प्यारीकेलिए ले आए. जैसे कायर सम्पूर्ण ग्रामीणमर्यादा तोड़ रसका अनुभव करता है, वैसे ही प्रभु अलौकिक भोग करने लगे. यह पारिजात स्वर्गमें भी दुर्लभ है यह प्रसिद्धि करनेकेलिए कहते हैं कि जिस पारिजातकेलिए इन्द्रने यह पेड़ स्वर्गमें ही रहे इसलिए ब्राह्मण पुत्रका भी वध किया, इन्द्रका ऐसा होना 'वज्री'

विशेषणसे सूचित करते हैं. 'क्रोधसे अन्धा बननेसे' बिना विचार किए अपने देवादिगण सहित भगवान्के साथ लड़नेकेलिए भगवान्के सम्मुख आ गया, यॄ कहनेसे सिद्ध किया है कि समस्त स्वर्गसे भी पारिजात विशेष उपयोगी है. जिस(पारिजात)केलिए इन्द्रादि भी मरनेकेलिए उद्यत हुए हैं. इन्द्र सर्वज्ञ देव हैं एवं बृहस्पतिका शिष्य है, उसने सर्व प्रकार जो सबको जीविका आदिसे जीवन देनेवाले भगवान् हैं उनसे नीति विरुद्ध विरोध कैसे किया? इस शंकाका समाधान करते हैं कि 'क्रीड़ामृगो अयं नूनं वधूनाम्'. यह इन्द्र, इन्द्राणी आदिका निश्चयसे क्रीड़ामृग अर्थात् वानर हैं. जैसे बन्दरको, जैसे कहा जाए वैसे ही करता है वह कुछ भी सोचता नहीं है, वैसे ही इन्द्रने भी वानरके समान बिना विचारे किया है. 'वधू' शब्द देकर यह बताया है कि, वे स्त्रियां घरकी मालकिन हैं, उनकी रक्षाकेलिए इन्द्राणीका उपयोग है, इस प्रकार यह अहंकार निरूपण किया. अर्थात् सत्यभामाके रहे हुए अहंकारका संस्कार करना है. अथवा इससे इन्द्रका अहंकार दिखाया है. भगवद्भक्तॄ भगवान्ने ही अहंकार स्थापित किया है, जिससे वह अहंकार फलदायी होता है. अहंकारका अभिमानी देव रुद्र है, उसके भक्तका निराकरण करनेसे भगवान् ही अहंकारके देवताके रूपवाले बन जाते हैं. भक्तॄके अहंकारको पालन करनेवाले रूपका इसके बादके ६ श्लोकमॄ कहॄगे ।।५।।

आभासार्थः भक्तॄके इष्ट सिद्ध्यर्थ ही भगवान् भोग करते हैं, भक्तपर दयाका प्रतिपादन करते हैं और दुष्टॄका निग्रह आदि कर, भक्तॄको जो कुछ इच्छित प्रिय है वह सब देते हुए भोग करते हैं, यॄ 'सुतं मृधे' श्लोकसे ४ श्लोकॄमॄ वर्णन करते हैं:

सुतं मृधे खं वपुषा ग्रसन्तं दृष्ट्वा सुनाभोन्मथितं धरित्र्या।
आमन्त्रितस् तत्तनयाय शेषं दत्वा तदन्तःपुरम् आविवेश ।।६।।

श्लोकार्थः शरीरसे आकाशको ग्रसनेवाले पुत्रको युद्धमॄ सुदर्शनसे खण्ड-खण्ड होके मरा हुआ देख, पृथ्वीसे आमन्त्रित भगवान्, उसके पुत्र (भगदत्त)को बचा हुआ सर्व राज्य देकर, उसके अन्तःपुरमॄ प्रविष्ट हुए ।।६ ।।

व्याख्याः भूमि, अपने पुत्र नरकासुरको भगवान्से मारा हुआ देख, उन (भगवान्)को शेष(बचे हुए)की रक्षाकेलिए प्रार्थना करने लगीं. 'कृते करणा-भावात्', जो कार्य हो गया है, उसकेलिए यदि कोई कहे कि न करो, वह तो बनेगा ही नहीं अर्थात् वह तो होगा ही नहीं. सारांश कि नरकासुर मरा सो मरा, तब पृथ्वी

द्वारा आमन्त्रित (बुलाए हुए) भगवान्ने उस(नरकासुरके पुत्र) भगदत्तको शेष सब राज्य दे दिया, फिर भगदत्तके उपयोगमृ न आनेवाले पदार्थोंको लेनेकेलिए उसके अन्तःपुरमृ प्रविष्ट हुए. भगवान् अपने भक्तृके सर्वकार्य स्वयं ही करते हैं. यृ भगवच्चरित्र कहा है. यह ही रूप अहंकार देवताका है अर्थात् मैं ही सब करता हूं ऐसी भावना कर्तापनका अभिमान ही अहंकारदेवका रूप है. नरकासुरको क्यृ मारा? जिसका कारण बताते हैं कि 'खं वपुषा ग्रसन्तं', शरीरसे आकाशको निगला जाना, मारनेमृ यह कारण है. इस विशेषणसे वृत्रासुर तुल्यता दिखाई.

ब्रह्माके स्थानपर जगत्की रक्षाकेलिए उद्यत विष्णु भगवान्ने महादेवके प्रसादसे आकाशको भी ग्रसनेकी सामर्थ्य रखनेवाले अपने पुत्रको भी जगत्की स्थितिकेलिए मार डाला. पौत्रको राज्य, स्त्रीकी प्रार्थनासे दिया. मारनेमृ दोष लगता है किन्तु 'मृधे' पद देकर यह सूचित किया है कि लड़ाईमृ मारनेपर क्षत्रियृको दोष नहीं लगता है, जो स्थान खाली होय उसको वस्तुसे भरा जा सकता है, अतः नरकासुरने आकाशको ग्रसकर अपने शरीरमृ भर दिया. 'ग्रसन्तं' पद वर्तमान कालमृ देकर यह सूचित किया है कि यह चालू समय उपाय करनेका था. भगवान्ने 'सुनाभं', सुदर्शन, 'उन्मथनम्'(खण्ड-खण्ड करना). सुदर्शनसे उसके शरीरको खंड खंड करके मारा अथवा उस शरीरका मथनकर उसमृ स्थित जीवको शरीरसे पृथक् कर उसका(नरकासुरका) उद्धार किया. उसके अन्तःपुरमृ प्रवेश करनेसे उसको अपनेमृ सायुज्य दिया, यों करनेसे यह सूचित किया है कि किसी भी अंशसे भगवान्मृ दोष नहीं है और दोष न होनेका दूसरा कारण यह है कि वे स्त्रियां, देवस्त्रियां थीं. उन स्त्रियृका भगवान्से सम्बन्ध वरदानके कारण हुआ है. यों अष्टावक्रके शाप और प्रसाद(प्रसन्नता)से हुआ है, ऐसा समझा जाता है ।।६।।

आभासार्थः अन्तःपुरमृ स्त्रियृने भगवान्को घेर लिया, यृ निम्न श्लोकमृ कहते हैं :

तत्राहृतास्ता नरदेवकन्याः कुजेन दृष्ट्वा हरिम् आर्तबन्धुम् ।
उत्थाय सद्यो जगृहुः प्रहर्ष-व्रीडानुरागप्रहितावलोकैः ।।७।।

श्लोकार्थः वहां भौमासुरकी लडाई हुई. राजकन्याएं दुःखियृके बन्धु, हरिको देख उठकर अत्यन्त हर्ष, लज्जा और प्रेमपूर्वक अवलोकनसे भगवान्को सर्वने पतिरूपमृ ग्रहण किया ।।७।।

व्याख्याः वे देवस्त्रियां अब राजग्रहमृ जन्म लेनेसे राजकन्याएं हुई हैं,

जिनको भौमासुर ले आया था. वे अब अन्तःपुरमॄ सर्वदुःखहर्ता ऐहिक तथा परलोकके दोषॄको दूर करनेमॄ समर्थ और आर्तबन्धु हैं अर्थात् प्रभु जो तदीय हैं उनका बान्धवकी तरह दुःख मिटाते हैं, अतः भोगकेलिए यॄ करते हैं, यह शंका भी आर्तबन्धु कहनेसे मिटा दी, जिससे भगवान्को देखते ही उठकर एकबार ही सबने उनको पति बना लिया. इन्होंने कृष्णकेलिए 'हरि' 'आर्तबन्धु' ये विशेषण जो दिए हैं वे जाननेसे नहीं दिए हैं किन्तु स्वरूपसे ये गुण इनमॄ हैं यों प्रतीति होनेसे कहे हैं, इससे ही भगवद्दर्शन मात्रसे, कारागृहका दुःख, बन्धुत्याग आदि सर्व दुःख ऐसे भूल गईं कि मानो हुए ही नहीं हैं, जिससे उनका फिर स्मरण ही नहीं हुआ. स्वगृहमॄ पुष्टकी तरह कामकलासे पूर्ण, कोटि कन्दर्प लावण्यवाले भगवान्को भोगेच्छासे ग्रहण किया. ग्रहणका प्रकार बताते हैं कि भगवान्को हस्तसे, दीनतासे वा शरीरसे बन्धुकी तरह ग्रहण नहीं किया किन्तु अति हर्षसे, लज्जासे और प्रेमसे जोड़े हुए अवलोकनॄसे अर्थात् आनन्दचित् और सत् भाववाली दृष्टियॄसे ग्रहण किया.

प्रारम्भमॄ आनन्दमय भगवान्को देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ, इसमॄ स्वरूप आनन्दके अनुभवकेलिए पहले कि दृष्टिको भेजा जिससे भगवान्का अधिक योग होनेसे हम पत्नियां हैं और भगवान् पति हैं. ऐसा अनुभव होते ही, लज्जाका उद्भव हुआ, अतः भोगको रोककर हम आपकी स्त्रियां हैं. ऐसे भाववाली दृष्टिको भगवान्के पास भेजा. उससे अन्तःकरणमॄ भगवान्केलिए प्रेमकी उत्पत्ति हुई. उस समय भगवान्की दृष्टिका पात भी अपनेमॄ देखकर पश्चात् रागविशेष प्रकट हुआ, उससे विशेष, वैषयिक भोगकेलिए भगवान्पर ऐसी दृष्टि डाली. ये ही अवलोकन थे जो भगवान्को पतिपनसे ग्रहण करते थे. इससे यह सूचित किया कि भगवदीयॄका ऐसा चित्त भगवान् ही बनाते हैं यॄ कहा है ।।७।।

आभासार्थः 'आसाम्' इस श्लोकमॄ कहते हैं कि भगवान्ने उनको स्वीकार किया:

आसां मूहूर्त एकस्मिन् नानागारेषु योषिताम् ।
सविधिं जगृहे पाणिम् उरुरूपः स्वमायया ।।८।।

श्लोकार्थः अपनी मायासे अनेक रूप धारणकर एक ही मुहूर्तमॄ प्रत्येक गृहमॄ जाकर पृथक्-पृथक् रूपसे इन स्त्रियॄसे भगवान्ने विधिपूर्वक विवाह किया ।।८ ।।

व्याख्या: बहुत स्त्रियाॅके साथमॅ भोग हो वह स्त्रियाॅको आनन्ददायी नहीं होता है. कालके कारण उनकी इच्छामॅ बाधा न पड़े, इसलिए भगवान्ने बहुत रूप धारण किए. लोकमॅ हीन भावना न दीखे इस वास्ते शास्त्रविधिके अनुसार समान फलकी सिद्धिकेलिए और भगवत्त्वकी प्रसिद्धिकेलिए एक ही मुहूर्तमॅ भगवान्ने पाणिग्रहण कर विवाह किया.

जगत्कर्ताकी साधनभूत अपनी मायासे बहुत रूप धारण किए हुए भगवान् स्वयं सच्चिदानन्द होते हुए भी भोगकेलिए उसके ग्रहणकी योग्यताके लिए अपने स्वरूपका आच्छादन करते हैं. इसमॅ मायाका करणत्व है अर्थात् माया साधन है जैसे भगवद्रूप समस्त ही जगत् चिदंशकी मायासे आच्छादित होनेपर ही सब अपनी इच्छानुसार अपना व्यवहार करते हैं. याॅ भगवान् भी अपनी मायासे उनके इच्छित भोगकी उनको प्राप्ति हो तदर्थ बहुत रूपवाले बने. 'योषिताम्'(स्त्रियाॅको) पदसे भोगके योग्य स्थितिको सूचित किया, जुदे-जुदे घराॅमॅ कहनेका भाव यह है कि एकान्तमॅ पूर्ण रसका आविर्भाव होता है. यहां जो विधि कही है वह गान्धर्वविधि है. यों भासता है. क्याॅकि गान्धर्वविधि क्षत्रियाॅमॅ मुख्य विधि है. इस प्रकारके ग्रहणको ही, चित्तके अधिष्ठाता वासुदेवका भक्ताॅके प्रति इस प्रकार चित्तकी प्रेरणा है याॅ कहा है ।।८।।

आभासार्थ: उनको जो फल प्राप्त हुआ उनका 'तास्वपत्य' श्लोकमॅ वर्णन करते हैं :

तास्वपत्यान्यजनयद् आत्मतुल्यानि सर्वशः ।
एकैकस्यां दश दश प्रकृतेर् विबुभूषया ।।९।।

श्लोकार्थ: प्रकृतिकी इच्छा हुई कि मैं बढ़ुं, इसलिए प्रत्येक स्त्रीमॅसे भगवान्ने सर्व प्रकारसे अपने समान दश-दश सन्तानें उत्पन्न कीं ।।९ ।।

व्याख्या: 'अपत्य' पदका तात्पर्य है सन्तान, वह पुत्र हो या पुत्री हो. हालांकि स्त्रियां, सन्तानके उत्पत्तिका स्थान हैं तो भी उनके समान सन्तान उत्पन्न नहीं किए अर्थात् कन्याआॅको उत्पन्न नहीं किया किन्तु भगवान्की इच्छासे प्रकृति-पुरुषके सम्बन्धसे ही उन स्त्रियाॅको उनके समान सन्तान पुत्र उत्पन्न होवें, याॅ नहीं हुए इसलिए कहा है कि भगवान्ने 'आत्मतुल्यात्', सर्वप्रकार अपने समान पुत्र उत्पन्न किए. 'सर्वशः' पदका भावार्थ है कि भगवान्ने शरीरसे, इन्द्रियाॅसे, प्राणाॅसे, अन्तःकरणसे और स्वरूपसे तथा उनके सर्वधर्मोंसे समान

प्रत्येक स्त्रीसे "**दश अस्यां पुत्रान् आधेहि**" इस श्रुत्यनुसार दश-दश पुत्र उत्पन्न किए. यों वेदाज्ञाका परिपालन किया. प्रकृतिकी विशेष होने की इच्छा इसमृ(दश संख्या होनेमृ) करण साधन है.

उस प्रकृतिने एक ही पुरुषको एक ही बार पाकर उससे भोग, भोगकर महत्तत्त्व उत्पन्न किया, फिर उससे सम्बन्ध करनेकी आवश्यकता न रहनेसे सकाम ही रह गई. अब जब भगवान् अनन्त रूपवाले हुए हैं तब उसके भोगके लिए फिर फिर पुरुषसे संबंध प्राप्त कर सन्तानृको पैदा करेगी, जिससे उसकी रही हुई इच्छा पूर्ण होगी. भगवद् इच्छासे कार्यमृ रुद्ध हुई यह बहुत प्रकारसे उत्पत्ति करेगी, अर्थात् यह यज्ञकी तरह साधन बनेगी. इससे अर्थात् इस श्लोक द्वारा स्कन्धके विचारसे यह वाक्य कहा है कि, सांख्यकी तरह भगवद्भक्तृके आनन्दको उत्पन्न करनेका भी इन्द्रियृकी प्रवृति होती है. यों दश संख्यासे बाहरकी इन्द्रियृका स्वरूप कहा वे(साङ्ख्य जीव) आगे बीजभावको प्राप्त नहीं होते हैं अर्थात् अपत्यरूपसे उत्पन्न नहीं होते हैं. उनका भोग अन्यकेलिए है अर्थात् दशकी संख्यासे इन्द्रियृका बाहरका स्वरूप बताया है, इस अन्यार्थ भोगमृ भी भोग करनेकी इच्छा कारण नहीं है. किन्तु बहुत होनेकी इच्छा ही कारण है ।।९।।

आभासार्थः इसी तरह काम लीलाका प्रतिपादन कर 'कालमागध' श्लोकसे लेकर सात श्लोकृमृ तर्क सहित क्रोध लीलाका वर्णन करते हैं :

काल-मागध-शाल्वादीन् अनीकै रुन्धतः पुरम् ।
अजीघनत् स्वयं दिव्यं स्वपुंसां तेज आदिशत् ।।१०।।

श्लोकार्थः पुरको सैनाओृसे रून्धनेवाले काल, मागध, शाल्व आदिको अपने पुरुषृको स्वयं अपना तेज देकर नाश किया ।।१० ।।

व्याख्याः [१]इन्द्रिय, [२]स्पर्श, कान और नेत्र, ये चार बाहरकी इन्द्रियां हैं? वे कामको उत्पन्न करनेवाली हैं और [३]संवत्सर, रुद्र, पालक तथा सूर्य ये चार क्रोधके अंश उनके रक्षक हैं ।।१०।।

१.ब्रह्मदेवताका इन्द्रिय. २.त्वगिन्द्रिय. ३.काल पवनका नाशक मुचुकुन्द, संवत्सरात्मक हैं. मागध आदिको मारनेवाला रुद्रात्मक है, पाण्डवृके पालकरूप हैं और यादव तो सूर्य हैं यृ आगे स्पष्ट होगा.

कामक्रोधौ समौ कर्तुं सप्त सप्त निरूपिताः ।

यल्लोभे गुणसङ्ख्यास्ते निवृत्तिः सप्तधा ततः ।।कारि.१।।

कारिकार्थः काम और क्रोध को समान बनानेकेलिए प्रत्येकके सात-सात श्लोक कहे हैं और लोभके पांच श्लोक कहे हैं, उनसे निवृत्ति सात प्रकारसे कही है ।।१ ।।

ततो मध्ये चतुर्मूर्त्तेः प्रद्युम्नादेर्निरूपिताः।
वासुदेवाद् भक्तरक्षा तृतीया सा निरूप्यते।।कारि.२।।

कारिकार्थः चतुर्मूर्तिमूसे यहां प्रद्युम्नादि कहे हैं. वासुदेवसे भक्तकी रक्षा की जाती है, वह तीसरी मूर्ति है ।।२ ।।

व्याख्याः क्रोधलीलामू प्रथम जो कार्य किया वह इस श्लोकमू कहते हैं कि सर्व पालनार्थ, भूभाररूप उत्कट शत्रुआूका नाश करते हैं. तीनू ही प्रसिद्ध शत्रुआूने स्वयं आकर भक्तूका द्रोह किया, इसलिए उनको मारा. उनमू काल और मागधने मथुरापुरीको घेरा और शाल्व, द्वारकाका निरोधक(घेरनेवाला) बना. कालका तात्पर्य काल भवन है. मागध, जरासन्धका नाम है, जरासन्धको काल, पवनके बाद मारा है इसलिए काल, पवनका नाम पहले दिया है. 'आदि' शब्दका तीनूसे सम्बन्ध है. इससे तामसादि गणूके तीनू अध्यक्षूको समूह सहित कहा है. 'अनीकैः', सेनाआूका पदसे तात्पर्य है कि घेरा डालनेमू साधन सेनाएं हैं, अथवा 'अनीकैः' , बहुवचनान्तसे यह सूचित किया है कि उनको जीतना कठिन है, तो भी भगवान्ने उनको मार डाला. 'स्वयं' पदसे यह सूचन किया है कि स्वयं भगवान्ने ही उनको मारा है, न कि उनके पुरुष-मुचुकुन्द, भीम प्रद्युम्न और बलभद्र आदिने मारा है, क्यूकि भगवान्ने उन(अपने पुरुषूमू) अपना जो तेज स्थापित किया उससे वे(शत्रु) मारे गए. उनमू तेजकी स्थापना उनके(पुरुषू)के यश वा प्रसिद्धिकेलिए की थी, जिससे लोक समझे कि इन्हूने मारे हैं. काल, मागध और शाल्व ये तीन प्रवाह, मर्यादा और पुष्टि मू स्थित थे. कालयवन लौकिक(प्रवाह) प्रकारसे ब्राह्मणू का भक्त था. मागध वेदानुसारी होनेसे मर्यादी था और शाल्वने अनुग्रहसे शिवकी शरण ली थी अतः पुष्टि था किन्तु भक्तूकी कामनाआूमू रुकावट डालनेवाले थे, उन रुकावटूके निवारक भगवान् त्रिमूर्ति (मुचुकुन्द, भीम और प्रद्युम्न) सात्त्विकादि तीनू कामनाआूके नियामक हैं ।।१०।।

आभासार्थः इस प्रकार भक्त द्रोहार्थ उद्यत हुए तीनूको मारकर और

स्वयं उद्यत न हुए थे उनमूसे कितनॄ ही को दूसरॄसे मरवाया, यॄ 'शम्बरं द्विविदं' श्लोकमॄ कहते हैं :

शम्बरं द्विविदं बाणं मुरं बल्वलमेव च ।
अन्यांश्च दन्तवक्रादीन् अवधीत् कांश्च घातयन्।।११।।

श्लोकार्थ: शम्बर, द्विविद, बाण, मुर, बल्वल और दन्तवक्र आदि अन्यॄको दूसरॄसे नाश कराया और कितनॄ ही को आपने भी मारा ।।११ ।।

व्याख्या: शम्बरका प्रद्युम्नसे, द्विविदको बलरामसे, बाणकी भुजाएं भगवान्ने काटीं. बल्वलको बलरामसे ही मरवाया, दन्तवक्र आदिको स्वयं भगवान्ने मारा. आदि पद उनके पक्षपाती विदूरथ आदिको भी आपने मारा, इन्हॄने किनको मरवाया और किनको मारा, इससे हाथॄका संस्कार किया, भगवान्के भक्तॄको भगवदाज्ञासे ही भगवान्का कर्तव्य कार्य करना चाहिये ।।११।।

आभासार्थ: इसी तरह दोष दूर करनेकेलिए, भक्तद्रोहार्थ तत्पर हुए अथवा जो न हुए उन सब दैत्यॄको मारकर भूमिका भार उतारा. फिर शस्त्रॄका त्याग कर दिया जिसका वर्णन निम्न दो श्लोकॄमॄ करते हैं :

अथ ते भ्रातृपुत्राणां पक्षयो: पतितान् नृपान् ।
चचाल भू: कुरुक्षेत्रं येषाम् आपततां बलै:।।१२।।

श्लोकार्थ: पश्चात् जिनकी घुसकर आती हुई सेनासे कुरुक्षेत्रकी भूमि कांपने लगी थी, उस तेरे भाईके पुत्रॄके पक्षमॄ आए हुए राजाओॄको मरवाया ।।१२।।

भक्तानामेव यद् दु:खं दोषरूपं न्यवारयत् ।
भूमेस्तु देहजो भारो न शस्त्रेण निवार्यते।।कारि.१।।

कारिकार्थ: भक्तॄको ही जो दोषरूप दु:ख था उसका भगवान्ने स्वयं नाश किया किन्तु भूमिको जो राजाओॄके सैन्यॄकी देहसे जो कष्ट हुआ, वह शस्त्रसे नहीं उतारा जा सकता है ।।१।।

उत्तारितस्तु भूभार: कण्डूयां जनयेद् ध्रुवम्।
ततस्तस्या निवृत्त्यर्थं नखरूपैर्हि पाण्डवै:।।कारि.२।।

कारिकार्थ: उतरा हुआ भूमिका भार अवश्य खुजली पैदा करता है. इससे उस(खुजली)को मिटानेकेलिए नखॄकी आवश्यकता होती है, शस्त्रॄसे

वह नहीं मिटती है. अतः नखरूप पाण्डवॄको आपने ही प्रयत्न कर, प्रेरणा की, जिससे उन्हींके द्वारा बाहरकी खुजली स्वयं ही दूर कर दी ।।२।।

प्रयत्नप्रेरितैर्बाह्यां स्वयमेव न्यवारयत्।
अन्तरन्यां च तामेव पूर्वस्पर्शसमुद्भवाम्।
कृमिकण्टकरूपां तां तन्नाशेनाऽवधीत् पुनः।।कारि.३।।

कारिकार्थ: प्रथम, स्पर्शसे उत्पन्न हुई भीतरकी कृमि कीटरूप, दूसरी खुजली जिसका वर्णन १४वॄ श्लोकमॄ है, उसका नाश यदुकुलके नाशसे किया ।।३ ।।

व्याख्या: 'अथ' पद सारथिके अभावसे पृथक् प्रक्रम बतानेकेलिए दिया है, तुम्हारे भ्रातृपुत्र पाण्डव और दुर्योधनादिके पक्षॄमॄ जो धर्मकी अपेक्षा न कर, स्नेहका ही आग्रह रखकर अधर्मके पक्षमॄ गिरे, उन पतितॄको मरवाए, इसका पूर्व श्लोकसे सम्बन्ध है, उनकी अधिकता कहते हैं, कुरुक्षेत्रकी भूमि कांपने लगी, क्यॄकि वह भूमि धर्मका स्थान है, वहां अधर्म कार्य करने लगे, पृथ्वीके कांपनेका कारण अधर्म है, वे सबके बल अधर्ममॄ ही निष्ठावाले और जातिका घात करनेवाले थे. इस कारण ही इनकी सैन्यॄसे पृथ्वी कांपने लगी, इस लीलासे हस्तके देव इन्द्रका कार्य सिद्ध किया ।।१२।।

१.जरासन्धकी लाई हुई महती सेना, तीन कोटि म्लेच्छ सेना और अन्य दुष्टॄका मथुराके समीप मारनेसे शाल्वादिकॄका द्वारकाके समीप डालनेसे पौण्ड्रकादिका वहां ही मारनेसे आपने ही भार उतारा है. श्लोकमॄ 'अथ' पदसे मित्र प्रक्रम कहनेका भाव इससे समझाया है.

आभासार्थ: अब तक अमुख्यॄ(साधारणॄ)का वध कहा, अब मुख्य (दुर्योधन)का वध निम्न श्लोकमॄ कहते हैं :

सकर्ण–दुःशासन–सौबलानां कुमन्त्रपाकेन हतश्रियायुषाम् ।
सुयोधनं सानुचरं शयानं भग्नोरुमुर्व्यां न ननन्द पश्यन् ।।१३।।

श्लोकार्थ: दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन तथा शकुनिकी दुष्टमन्त्रणा (सलाह)के फलस्वरूप जिसकी लक्ष्मी एवं आयुष्यका नाश हुआ है, ऐसे जिसने अन्य राजाओॄका नाश कराया है, पृथ्वीपर हुए टूटी जांघोवाले दुर्योधनको अनुचरॄके साथ देखकर भगवान् सन्तुष्ट न हुए ।।१३।।

व्याख्या: जब जीनेका अदृष्ट था तो सब इकठ्ठे एक ही समयमॄ कैसे

मरे? सबका प्रारम्भ एक सम न होगा? इस शंकाका उत्तर देते हैं कि, दुर्योधनके पक्षपात करनेसे सबकी आयु क्षीण हो गई थी. 'सकर्णः' अर्थात् कर्ण सहित दुर्योधन. दुःशासन भ्राता था, शकुनि मामा था. ये चारॄ दुष्ट थे. इनकी कुमन्त्रणाका जो फल यह हुआ, जो इस कुमन्त्रणामॄ शामिल थे उनकी आयु तथा श्री समाप्त हो गई, दुर्योधन भी मारा गया, टूटी हुई जांघवाले अनुचर सहित सोया(यह 'पश्यन्'का कर्म है.) हुआ देखा गया, यों सर्व कार्य करते हुए भी भारको उतारनेकेलिए प्रकट हुए भगवान् सन्तुष्ट नहीं हुए, क्यॄकि जिनके द्वारा भार उतरवाया था वह भार अब पृथ्वीपर था, भगवदीयॄकी स्पर्श करनेवाली इन्द्रियां ज्ञान ही उत्पन्न करती हैं किन्तु सुख उत्पन्न नहीं करती हैं. यों स्पर्श रूपताका निरूपण किया ।।१३।।

आभासार्थः अन्य भार दूर करनेके लिए 'कियान्' श्लोकमॄ भगवान्की प्रसन्नता ही कहते हैं:

कियान् भुवोऽयं क्षपितोरुभारो यद्द्रोणभीष्मार्जुनभीममूलैः ।
अष्टादशाक्षौहिणिको मदंशैः आस्ते बलं दुर्विषहं यदूनाम् ।।१४।।

श्लोकार्थः द्रोण, भीष्म, अर्जुन और भीमसेन जिनमॄ मुख्य हैं ऐसे मेरे अंशॄने भूमिपर जो अठारह अक्षौहिणी सेनाका भार था वह उतार दिया, किन्तु वह कितना बडा भार था? मेरे अंशरूप यादवॄके सैन्यका इतना बडा भार है, जिसके स्वल्पको भी कोई सहन नहीं कर सकता है ।।१४।।

व्याख्याः क्षुद्रॄ(तुच्छॄ)के निराकरणकेलिए उनके गांवमॄ यदि महाराज आता है तो उसकी सेनासे ही गांवका नाश हो जाता है, वहांके रहनेवाले क्षुद्र तो बहुत थोड़ा ही नाश करते हैं सैनिक तो सबका ही नाश करते हैं, इस न्यायानुसार कहते हैं कि 'भुवः कियान् वा भारो मया क्षपितः मदंशैः करणैः दूरीकृतः', साधनरूप मेरे अंशॄ द्वारा मैंने पृथ्वीका कितना भार उतारा? उन अंशॄ, मुख्यॄके नाम कहते हैं कि जिनमॄ द्रोण, भीष्म, अर्जुन और भीम जिनमॄ मुख्य हैं. दोनॄ सेनाआॄमॄ दो दो मुख्य थे, उनके मूलभूत और अपने तेजॄसे ही कितना भार उतारा? इस प्रकार चार प्रकारके तेजॄसे चतुरंग सेनारूप अठारह अक्षौहिणियॄसे हुए भारको दूर किया, किन्तु अब तक उससे भी अधिक भार भूमिपर विद्यमान है.'आस्ते बलं' पदसे कहा है, वह अधिक है, जिसमॄ कारण 'दुर्विषहम्', उस भारके बोझको कोई भी सहन नहीं कर सकता है, उनके असह्य बलका कारण यह

है कि वे यादव, मेरे संबंधवाले अंशसे युक्त हैं, अन्य सब मेरे साधारण अंशवाले हैं, वे यादव भगवद्भक्त हैं, अतः उनमें ऐसा अंश स्थापित किया है कि जिससे उनके बलका बोझ कोई सहन न कर सके, इससे भक्तका पक्षपात दिखाया है. यहां वायु, बलका अधिष्ठाता है. भगवत्संबन्धी ही स्पर्श बुद्धि उत्पन्न करता है, उसमें (भगवान्में) पूर्ण सुख है, इससे परिच्छिन्न उसको ग्रहण नहीं कर सकते हैं. परिच्छिन्नकी समानतावाला ज्ञान, भगवदभिप्रेत नहीं है. यों स्पर्श देवताका निर्णय कहा है ।।१४।।

आभासार्थः उस भारके भी उतारनेका उपाय 'मिथो यदेषां' श्लोकमें कहते हैं:

मिथो यदेषां भविता विवादो माध्व्या मदाताम्रविलोचनानाम् ।
नैषां वधोपाय इयान् अतोऽन्यो मय्युद्यतेऽन्तर्दधते स्वयं स्म ।।१५।।

श्लोकार्थः इनके वधका उपाय इतना ही है कि ये मदिराके मदसे लाल नेत्रवाले होकर अर्थात् नशेसे उन्माद दशामें आकर परस्पर वाद करते हुए लडे, अन्य कोई उपाय नहीं है. किन्तु दूसरा उपाय यह है कि मैं उद्यत हो जाऊं, जिससे ये स्वतः(स्वयं) नष्ट हो जावे ।।१५ ।।

व्याख्याः यदि इन यादवोंमें परस्पर मूर्खतापूर्ण ऐसा कलह हो जिससे उनके विवेकका नाश हो जावे, यह ही इनके वधका उपाय है. यों कैसे होगा? जिसका उपाय बताते हैं, मधुर रसवाली(माध्वी) मदिरा बहुत पी जा सकती है, ये भी जब वह विशेष पियेंगे तब उनके नशेसे लाल नेत्रवाले दो विवेकको भूल जाएंगे, तो अहंकाराविष्ट दशामें परस्पर विवाद करते हुए आपसमें लड़कर एक दूसरेको मारकर नष्ट हो जाएंगे, जो भगवदीय यादव, भगवान्की सहायता करनेके लिए आए हैं उनका इस प्रकार मदिरासे मदान्ध बन आपसमें लड़कर मरना तो उचित नहीं है, इस शंकाके निवारणार्थ ही कहा है कि इसके सिवाय इनके मरनेका उपाय अन्य है ही नहीं. जिसका कारण कहते हैं 'मय्युद्यते अन्तर्दधते स्वयं स्म', दूसरा उपाय तो मेरे अंशोंमें उद्यत होनेपर स्वयं नष्ट हो जाता है. अन्धकार सूर्योंका निराकरण नहीं कर सकता है. यही दोनों समान होते हैं तो कोई किसीको नष्ट नहीं कर सकता है. 'स्म' पद प्रसिद्धि अर्थमें है, जब जब यादवोंके नाशार्थ जरासन्धादि प्रवृत हुए तब मैं भी उनको मारनेकेलिये उद्यत हो गया. तब मेरे उद्यत होते ही उनके मरनेके उपाय तिरोहित हो गए. अतः यह ही इनके नाशका उपाय बचा है.

भगवान्‌की यह लीला कैसी? जो अपने सेवक, जो अपने संगमृ आए हैं, जिनका दूसरा कोई रक्षक नहीं है उनको आप ही अन्यायसे नष्ट करते हैं? जिसके उत्तरमृ कहते हैं कि भगवान् यों [१]सृष्टिकेलिए ही करते हैं और उनको अपने समान(अविद्यादि दोषृसे मुक्त) कर देते हैं. इसमृ भक्तिमार्गसे भी अत्यन्त विरोध नहीं है, कारण कि भगवद्‌भक्त, अब भी कर्म, उत्पत्ति और नाशसे मुक्त हैं, अतः अब भगवान्‌के तुल्य ही हैं, स्वतः वे अपना आविर्भाव तिरोभाव नहीं कर सकते हैं. अतः मायासे ही उनका आविर्भाव और तिरोभाव होता है. उनको परस्पर लड़नेमृ खेद न होवे. इसलिए उनकी ऐसी स्थिति मदान्ध की है. उत्पत्ति लीलाकेलिए यृ कहते हैं, इसलिए लीलाका विरोध नहीं होता हैं, यह जैसे सृष्टिके कारणताको प्राप्त होते हैं, वैसे आगे कहा जायेगौं, उनकी दुर्गति कभी भी नहीं होगी. एकादश स्कन्धमृ इसलिए मुक्ति प्रकरणमृ यह वृत्तान्त कहा है. सृष्टिके आरम्भ(तीसरे स्कन्ध)मृ और मुक्तिके अन्तमृ कहा हुआ होनेसे यृ सूचित किया है कि सर्वत्र उनके आश्रयके सिवाय जाना नहीं जाता, अतः जब आप प्रकट होते हैं तब उनको भी प्रकट करते हैं, फिर जब आप तिरोहित होते हैं तो उनको भी तिरोहित करते हैं. इस प्रकार उनको अपने समान करते हैं. इससे भक्तृके प्रति स्वल्प भी तिरस्कारकी लीला नहीं है. इस तरह विसर्ग लीला अर्थात् विसर्ग करनेवाली इन्द्रियके संस्कारका निरूपण किया है ।।१५।।

१.यह सृष्टि इस प्रकारकी है अर्थात् अन्यधारण किए हुए रूपका त्यागकर अपने स्वरूपको प्राप्त करना. –प्रकाश (इस लीलासे यादवृने अपने असली स्वरूपको पा लिया.)

आभासार्थः प्रद्युम्नका [१]निरूपण कर विसर्गके देवता मित्रका निरूपण करते हुए निम्न श्लोक 'एवं संचिंत्य'से ६श्लोकृमृ वसुदेवका निरूपण करते हैं. बाहरी तौरसे जो भक्तृके अहितका आभास होता है वह प्रद्युम्नके मित्रताका द्योतक है.भक्तिमार्ग नित्यकी स्थितिके विरुद्ध है जिसकी स्पष्टता निम्न कारिकाआृमृ करते हैंः

दशलीलापरे व्यापिवैकुण्ठे नित्यवत् स्थितिः।
रूपान्तरेण भजनं स्वामिसेवकयोर्हि ते।।कारि.१।।

कारिकार्थः दश लीलावाले व्यापि वैकुण्ठमृ, सदैव नित्य, जैसी समान स्थिति होती है अतः वहां [१]भजन नहीं हो सकता है, भजन तब होता है जब

स्वामी और सेवकके रूप पृथक् हू ।।१ ।।

स्वामित्वं सेवको हन्ति सेवकत्वं तथापरः।

अन्यथा सफलो न स्याद् भक्तिमार्गः ससाधनः।।कारि.२।।

कारिकार्थः सेवक जब तक स्वमित्व(स्वामीपन)का अपनेमृसे नाश नहीं करता है अर्थात् मैं सेवक हूं ऐसा भाव उत्पन्न नहीं करता है वैसे ही स्वामी अपनेमृसे सेवकत्व(सेवकपन)का नाश नहीं करता है अर्थात् मृ स्वामी हूं ऐसी भावना उत्पन्न नहीं करता है जब तक इस प्रकारके भाववाले दो स्वरूप पृथक्-पृथक् न हों तब तक साधन सहित भक्तिमार्ग सफल नहीं होता है अर्थात् अण्वी गति प्राप्त नहीं होती(निःसाधन भक्तिमार्गका प्रकार दूसरा है) ।।२।।

१.काल लीलासे अतिरुद्रका निरूपण किया, क्रोध लीला तथा तिरोभावके विचारकी लीला, मोक्षरूप सर्गमृ उपयोगी होनेसे प्रद्युम्नकी लीलाका वर्णन किया है. इसी तरह अतिरुद्र तथा प्रद्युम्नका निरूपण कर अब वासुदेवके वर्णनका प्रारम्भ करते हैं.

२.ज्ञानका आश्रय आत्मा है. गीतामृ भगवान्ने अर्जुनको कहा है कि सकल प्राणियृके हृदयमृ आत्मरूपसे रहता हूं. इस गीताके वचनानुसार उस विभूतिरूपसे आप दशमी लीला करते हैं. 'दशमसे अक्षर पर है'. वह अक्षर भगवान्का व्यापि वैकुंठधाम है. वह सर्व परब्रह्मरूप ही हैं. अतः सबकी समान स्थिति होनेसे वहां भजन नहीं हो सकता है. भजन तब हो सकता है जब स्वामी और सेवकके रूप पृथक् हो अर्थात् एक रूप स्वामीका, दूसरा सेवकका हो.

सेवादशायां चेत् स्वामी विरसः सिद्ध्यभावता।

पश्चात् चेत् सेवकत्वं स्यात् फलमीशश्च नो भवेत् ।।कारि.३।।

कारिकार्थः सेवाकी दशामृ(साधनावस्थामृ) यदि स्वामी रस रहित हो तो फल प्राप्ति नहीं होती, पश्चात् जो सेवकपन, फलरूपमृ प्राप्त हो तो सेवक स्वामी नहीं होता है ।।३ ।।

यावत् साधनमात्मानं सर्वशास्त्रविरोधिनम्।

कृत्वाऽन्ते पूर्वधर्मस्य नाशं च कुरुते फले ।।कारि.४।।

कारिकार्थः जब तक सेवक साधन(भजनादि) करता है तब तक अर्थात् उस साधन अवस्थामृ ही भगवान् भक्तको शास्त्रके बन्धनमृसे रहित प्रेमावस्था वाला बनाके साधनदशा पूर्ण होते ही पहले(सेवकके) गुणमृका नाश कर फल देते हैं ।।४।।

अतः स्थितिदशायां हि तद्विचिन्त्य हरिः स्वयम्।

स्वान् अभिप्रेतविषयान् भोजयत्येव नान्यथा ।।कारि.५।।

कारिकार्थः अतः स्थितिकी दशामृ हरि उनको फल देनेका विचार कर, स्वयंको इष्ट नहीं, ऐसे पदार्थोंका भोजन कराते हैं, अन्यथा(दूसरे प्रकारसे– फल न देनेके विचारसे) भोजन नहीं कराते हैं अर्थात् माध्वीका पान फल देनेकेलिए ही कराया है. अतः प्रद्युम्न मित्र ही है।।५।।

एवं सञ्चिन्त्य भगवान् स्वराज्ये स्थाप्य धर्मजम् ।
नन्दयामास सुहृदः साधूनां वर्त्म दर्शयन् ।।१६।।

श्लोकार्थः इसी तरह विचार कर भगवान्ने धर्मके पुत्रको परम्परासे प्राप्त अपने राज्यके सिंहासनपर बिठाया और सत्पुरुषृका मार्ग दिखाते हुए मित्रृको प्रसन्न करने लगे ।।१६ ।।

व्याख्याः इस प्रकार अच्छी तरह विचार कर पिता–पितामहादिसे प्राप्त अथवा अपने ही राज्यमृ 'शास्त्रफलम् प्रयोक्तरि' इस वाक्यानुसार शास्त्रृमृ कहा फल, कार्य करानेको ही मिलता है. अतः भगवान्के ही राज्यमृ युधिष्ठिरकी राज्यसिंहासनपर स्थापना हुई. 'भगवान्' पद देकर यह सूचित किया है कि यों करनेकी शक्ति इनमृ ही है. 'धर्मका पुत्र' पदसे यह बताया है कि इस स्थानपर बैठनेका अधिकारी यह ही है. 'नन्दयामास' पदसे यह सूचित किया है कि सकल मित्रृको सर्व प्रकारसे प्रसन्न किया, केवल लौकिक विषयृसे ही उनको समृद्ध नहीं किया, किन्तु वैदिक मार्गसे भी, इसलिए कहा कि 'साधूनां वर्त्म दर्शयन्', सत्पुरुषृका मार्ग वैदिक है उसके धर्ममृ निष्ठा दिखाते हुए यज्ञादि धर्म करते हुए वैदिक मार्गसे भी प्रसन्न किया, यों अर्थ है. इससे प्रवाह और मर्यादा दोनृको स्थिर किया ।।१६।।

आभासार्थः पुष्टिमार्गको भी 'उत्तरायां' श्लोकमृ स्थिर करते हैं:

उत्तरायां धृतः पूरोर् वंशः साध्वभिमन्युना ।
स वै द्रौण्यस्त्रसञ्छिन्नः पुनर् भगवता धृतः।।१७।।

श्लोकार्थः अभिमन्युने पुरुके वंशको उत्तरामृ स्थापित किया, जिसको अश्वत्थामाके अस्त्रने काट डाला. भगवान्ने फिर रक्षण किया ।।१७ ।।

व्याख्याः अभिमन्युने पुरुके वंश उत्तरामृ शास्त्रानुसार स्थापित किया, अर्जुनके पुत्र अभिमन्युने अपनी पत्नीमृ शास्त्रानुसार गर्भ स्थापित किया, इस शास्त्रकी मर्यादाको प्रवाहने नाश किया. कैसे नाश किया? अश्वत्थामाके

अस्त्रसे वह सम्पूर्ण कट गया, क्यूंकि वह अस्त्र ब्रह्मास्त्र था. ब्रह्मास्त्र कभी निष्फल नहीं जाता है. इसलिए वह सम्पूर्ण कट गया, जिससे आगेकी वंश परम्परा ही नष्ट हो गई. कट जानेके बाद वह ही वंश जो उत्तराके गर्भमूं अभिमन्यु द्वारा स्थापित हुआ था उसका भगवान्ने रक्षण किया. कारण कि कटा हुआ पूर्वभाग उत्तर भागको धारण नहीं करता है. वंश, दीपककी परम्परा जैसा है. जैसे तेल और बत्तीके आश्रयसे निरन्तर उत्पन्न होनेवाले तेजके अवयव अंगुलीके अग्रभाग जितनी दीपशिखाको अपने प्रवेशसे और बाहर जानेसे समान स्थितिमूं रखते हैं, वैसे ही पिताके शरीरमूं अब और आयुको प्राप्त कर, शरीरको उत्पन्न करनेवाले अवयव शरीरके भीतर आकर फिर बाहर जाकर स्थूलरूपसे देहको समावस्थामूं रखते हुए, वस्त्रकी तरह सूक्ष्म विस्तारवाला होनेसे उसके भीतर एकके बाद एक बहुत सूक्ष्मवीर्य तक सात कोशाूंको उत्पन्न करते हैं. अनन्तर सूक्ष्म वस्त्रकी तरह देहके भीतर रहा हुआ बहुत ढीले अवयवोंवाला सूक्ष्म कोश(वीर्य) स्त्रीरूप अग्निके सम्बन्धसे सर्वतः आकृष्ट हो, पिण्ड जैसा बनकर स्त्रीकी योनिमूं प्रवेश करता है. वहां भी अन्न और आयुषको निमित्त बनाकर पहलेकी तरह(पिताके शरीरकी तरह) सात धातुओंूको बनाकर, भीतर सूक्ष्म सूक्ष्म विशेष रूपाूंको उत्पन्न करते हैं. ब्रह्मासे लेकर तृण पर्यन्तके देहाूंकी इस प्रकारकी व्यवस्था है. पश्चात् उसके सन्ततिका विच्छेद हो गया क्यूंकि पूर्व तैयार हुए पिण्डका अस्त्रने नाश कर दिया. उत्तरा उसका उत्पादन करनेमूं असमर्थ थीं, भगवान्ने स्वयं उसमूं प्रविष्ट होके उस सन्ततिकी ही रक्षा की, न कि जैसे खेतमूं एक बीज नष्ट होनेपर दूसरा बीज बोकर अन्न उत्पन्न किया जाता है, वैसे नहीं. उसी ही सन्तानकी रक्षा की. शास्त्रकी अनुमति अनुसार फिर पहली ही सन्ततिको जीवित किया. प्रवाहसे मर्यादाका भंग होनेपर पुष्टिमार्ग(अनुग्रहमार्ग)की प्रवृत्ति होती है. याूं सूचित किया है ।।१७।।

आभासार्थः यदि वह पुष्टिमार्ग मर्यादाकी मर्यादापूर्वक रक्षा न करे तो वह भी प्रवाहकी तरह मर्यादा भंग करनेवाला कहा जावे. किन्तु याूं नहीं है जिसको समझनेकेलिए निम्न श्लोक कहा है :

अयाजयद् धर्मसुतम् अश्वमेधैः त्रिभिः विभुः ।
सोऽपि क्ष्माम् अनुजै रक्षन् रेमे कृष्णम् अनुव्रतः।।१८।।

श्लोकार्थः सर्व समर्थ प्रभुने धर्मके पुत्र युधिष्ठिरसे तीन अश्वमेध कराए,

वह भी छोटे भ्राताओंके साथ पृथ्वीकी रक्षा करता हुआ, भगवान्‌का सेवक बन, रमण करने लगा ।।१८।।

व्याख्या: ब्राह्मण स्वयं यज्ञ करानेमें प्रवृत नहीं होते थे, भगवान्‌की प्रेरणासे ही यज्ञ करानेमें प्रवृत हुए. इससे यों सूचित किया है कि स्वयं भगवान्‌ने ही यज्ञ कराया, अथवा भगवान् ही यज्ञमें मन्त्र सहित देवताओंको ले आते थे जिससे भगवान्‌ने ही यज्ञ सिद्ध कराए यों निश्चय होता है. ''तरति मृत्युं, तरति पाप्मानं, तरति ब्रह्म हत्याम्''. मृत्युसे पार जाता है, पापोंको तर जाता है, ब्रह्म हत्यासे तर जाता है. इस श्रुतिके अनुसार तीन प्रकारके फलकी सिद्धिकेलिए पृथक्-पृथक् आहारसे पृथक्-पृथक् फल मिलता है. इस नियमानुसार तीन अश्वमेध किए. 'विभु' नाम देनेसे बताया कि भगवान्‌में यज्ञ करानेकी सामर्थ्य थी(तीन यज्ञ करनेसे निर्दोष बने हुए युधिष्ठिरका आगेका कार्य कहते हैं छोटे भ्राताओंके साथ भूमिकी रक्षा करने लगे जिससे बताया कि युधिष्ठिर वैदिक धर्म और भगवद्‌धर्मसे युक्त होकर श्री कृष्णका भक्त बना यों देवता सहित *चरणोंका निरूपण है ।।१८।।

*.स्कन्ध विचारसे गतिके साधन, वैदिक धर्म और भगवद्‌धर्म दोनों ही दो चरण हैं. उनका पोषण करनेवाला भगवान् विष्णु हैं.

आभासार्थ: इस तरह भगवान्‌ने भक्तोंका हित पूर्णकर, धर्म स्थापनके फलके समान अपने लिए की हुई सृष्टिका भोग करने लगे. यों निम्न तीन श्लोकमें कहते हैं :

भगवानपि विश्वात्मा लोक-वेद-पथानुगः ।
कामान् सिषेवे द्‌वार्वत्याम् असक्तः साङ्‌ख्यम् आस्थितः ।।१९।।

श्लोकार्थ: लोक तथा वेदमार्गका अनुसरण करते हुए विश्वात्मा भगवान् सांख्यमें पूर्णतः स्थित होकर, अनासक्तिसे द्वारकामें इच्छित पदार्थोंका भोग करते थे ।।१९।।

व्याख्या: भगवान्‌के सेवक युधिष्ठिर आदि भी भगवान्‌के दिए हुए राज्यका ही उपभोग करते थे, भगवान् भी नाना विधि भोगोंको भोगने लगे. अपने लिए बनाए हुए जगत्‌का भोग करनेसे भगवान् भी जीवके समान होंगे, इस शंकाके निवारणकेलिए कहते हैं कि 'विश्वात्मा' अर्थात् भगवान्‌ने विश्वका विषयरूपसे भोग नहीं किया, किन्तु आत्मरूपसे भोग किया, क्योंकि आप तीन प्रकारके जो

परिच्छेद(सीमा-भाग) हैं उनसे रहित हैं, अर्थात् आप ही विश्व रूप हैं अतः आपमृ विषयका परिच्छेद नहीं है. २ आप आत्मरूप हैं अतः सर्वत्र व्याप्त होनेसे देश परिच्छेद रहित हैं. आप आत्मा होनेसे नित्य हैं अतः काल परिच्छेद रहित हैं. इसलिए केवल विश्वरूपसे भोग नहीं करते थे.

आपका विषयभोग तो सर्वत्र स्वतः ही सिद्ध है फिर यॄ विशेष कारणसे भोग होनेके कहनेका क्या कारण है? इसपर कहते हैं कि 'लोकवेदपथानुगः'. हालांकि आप सदैव ब्रह्ममतसे सर्व विषयॄका भोग करते हैं किन्तु अब लोकवत् लौकिक साधनसे और लौकिक क्रियारूपसे लौकिक विषयॄको भोगते हैं और वेदानुसार वैदिक क्रियासे वैदिक पुत्रॄको उत्पन्न कर उनका अनुभव करते हैं अतः यहां द्वारकामृ तीन प्रकारसे(अलौकिक, लौकिक और वेद प्रकारसे) भोगका अनुभव करते हैं यों तात्पर्य है.

इच्छित विषयॄका भोग किए जानेसे परिणाम यह होता है कि उससे निकल नहीं सकते क्यॄकि वह सबको ढक देता है, ऐसी अवस्थामृ भगवान्ने जीवकी तरह विषयॄका सेवन कैसे किया? जिसके उत्तरमृ कहते हैं कि 'द्वारवत्यां' द्वारकामृ किया. इससे भोगका कर्मसे विरोध है, जिसका परिहार किया अर्थात् कर्मका फल भी भोगा जाय किन्तु कर्मबन्धन भी न हो इस प्रकार भोग किया. ज्ञानका विरोध भी नहीं है क्यॄकि आसक्तिसे जो भोग किया जाता है वह ज्ञान विरोधी है. यहां तो अनासक्तिसे भोग किया है, अपने लिए बनाई हुई सृष्टिका अनुभव करते थे. यॄ जतानेकेलिए कहते हैं कि 'साङ्ख्यम् आस्थितः', साङ्ख्य मार्गमृ स्थित होकर अनुभव करते हैं. क्यॄकि संख्या तत्त्वॄकी होती है, जहां तत्त्वॄकी पृथक्तासे गणना होती है वहां साक्षीपनमृ परिणाम पाता है. तात्पर्य यह है कि तत्त्वॄसे जीवकी देह बनती है. इसलिए वह दूसरॄकेलिए है, न कि भगवान्केलिए. भगवान् तो तत्त्वॄकी इस सृष्टिमृ केवल साक्षी हैं. अतः भगवान्के भोगकेलिए जो सृष्टि है वह पृथक् प्रकारकी है. इस तरह सर्गभेदमृ हेतुका निरूपण किया, इससे भक्तिके विरोधका भी परिहार किया अर्थात् भक्तिका विरोध भी मिटा दिया. भगवान् भोग करते हैं और जीव भी भोग करता है, भगवान् जीव द्वारा भोग करते हैं, इस पक्षमृ भक्तिमार्गका विरोध होता है. यॄ 'घ्राण' इन्द्रिय कही।। १९।।

आभासार्थः भगवान् पुरुषोत्तमरूपसे और पुरुषरूपसे रमण करते हैं.

दूसरे(पुरुषरूप)मॄ रमण कहते हुए रमण कराते हैं. यॄ इसका विस्तार निम्न २ श्लोकमॄ करते हैं:

स्निग्धस्मितावलोकेन वाचा पीयूषकल्पया।
चरित्रेणाऽनवद्येन श्रीनिकेतेन चात्मना ।।२०।।

श्लोकार्थ: स्नेह और हास्यवाले अवलोकनसे, अमृतसम वाणीसे, निर्दोष चरित्रसे, लक्ष्मीके धामरूप अपने स्वरूपसे ।।२० ।।

इमं लोकम् अमुं चैव रमयन् सुतरां यदून्।
रेमे क्षणदया दत्तक्षणः स्त्रीक्षणसौहृदः।।२१।।

इस लोक और परलोकको आनन्द कराते हुए, विशेष आनन्द यादवॄको देते हुए, स्त्रियॄके सुखमॄ प्रेमवाले. ऐसे स्त्रियॄको रमणार्थ रात्रिके समय अवसर देते हुए रमण करते थे ।।२१ ।।

व्याख्या: चार साधनॄसे चार प्रकारके भूतॄका भोग वर्णन करते हैं. यहां तीन मार्गमॄ रहनेवाले तीन प्रकारके भूत हैं और एक प्रकारके व्यापि वैकुण्ठमॄ रहनेवाले, इसी तरह ४ प्रकारके भूत हैं. इसमॄ भगवान् इसलोकको स्नेह और हास्यवाली दृष्टिसे आनन्द देते थे. भूलोकमॄ, ''द्वौ भूतसर्गौ लोकेस्मिन्'' इस गीताके वाक्यानुसार दो प्रकारके जीव हैं, इनमॄसे जो दैवी जीव हैं उनको स्नेहयुक्त अवलोकनसे रतियुक्त किया, अर्थात् रतिदान दे रमण कराया. आसुरी सृष्टिवालॄको तो मन्द-मन्द मुस्कराहटसे(मोहमॄ डालनेवाली आधी मायाके मोहसे) आनन्द दिया. जो शुद्ध दैत्य हैं वे सर्वथा मुग्ध(मोहित) होते हैं. वे दोषरूप और मलरूप होते हैं, अर्द्धमुग्ध तो लौकिक होते हैं और भगवत्कृपासे सर्व विषयॄको प्राप्त करते हैं क्यॄकि उनपर भगवान्की हास्यावली दृष्टि पड़ती है.

२.परलोकके जीवॄको अमृतमयी वाणीसे आनन्द दान दिया क्यॄकि वे मर्यादावाले हैं और वैदिक फलके भोक्ता हैं, वह वैदिकफल दो प्रकारका है १.स्वर्ग २.मोक्ष. उनमॄसे भगवान्की वेदरूप वाणीसे स्वर्ग फल मिलता है. अमृतमय उपनिषद् और भागवतादिरूप वाणीसे मोक्षफल प्राप्त होता है, अपनी निर्दोष लीलाओॄसे पुष्टिमार्गमॄ स्थित सर्वभक्तोॄको और यादवॄको बहुत ही आनन्द दिया. भक्त लोग चरित्रसे ही प्रसन्न होते हैं. लोकमॄ निन्दा न होवे, ऐसे चरित्रॄसे कुलीन यादव बहुत प्रसन्न होते हैं और वैकुण्ठमॄ स्थित, लक्ष्मीके धाम सच्चिदान्दरूप भगवत्स्वरूपसे ही आनन्द प्राप्त करते हैं. 'च' पदसे यह सूचित

किया है कि 'श्री' आदि विभूतिसे भी आनन्द प्राप्त करते हैं. ''क्षणदया दत्तक्षणः', रात्रिको समय देकर आनन्द दान किया. 'स्वप्न-सुषुप्ति-सुखं निद्रया भवति इति रात्रेः क्षणदात्वं लौकिकं'', स्वप्न तथा सुषुप्तिमॄ निद्रासे ही सुख प्राप्ति होती है. यॄ रात्रि सुखदायिनी होती है, किन्तु भगवान्ने जो रात्रिमॄ अवसर प्राप्त कराके आनन्द दान दिया वह लौकिक प्रकार था. इससे यहां विशेष कहनेकेलिए कहते हैं कि, स्त्री सम्बन्धी सुखमॄ प्रेमवाले प्रभु हैं. प्रभु निष्प्रपञ्च स्वरूपमॄ स्थित होकर, वैकुण्ठमॄ रहनेवालेके सुखमॄ रमण करते हैं. रात्रिमॄ अवतीर्ण भगवान् रात्रिको ही स्त्रियॄके सुखमॄ रमण करते हैं, इस तरह चार साधनॄसे सबका रमण कहा.

बीसवें श्लोकमॄ घ्राण देवताका वर्णन किया इक्कीसवें श्लोकमॄ वाक् इन्द्रिय वाणी(वेद) कही है. इससे बाईसवें श्लोकमॄ वाणीके देवता अग्नि कहॄगे ।।२०-२१।।

आभासार्थः संकर्षण चरित्रका 'तस्यैवं' श्लोकमॄ वर्णन करते हैं:

तस्यैवं रममाणस्य संवत्सरगणान् बहून् ।
गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत ।।२२।।

श्लोकार्थः इस प्रकार बहुत वर्षों तक रमण करते हुए उस(संकर्षण)को गृहमॄ बुद्धिकी आसक्ति करनेवाले उपायॄसे वैराग्य हो गया ।।२२ ।।

व्याख्याः इसी तरह लौकिक और वैदिक प्रकारसे रमण करते हुए भोगका विरोधी, भगवान्का छठा गुण(वैराग्य) प्रकट हुआ. जिसको कहते हैं वैराग्य दो प्रकारका है. एक वैराग्य जो शास्त्र दृष्टिसे भोग्य विषयॄमॄ दोषदर्शन होनेसे उत्पन्न होता है, जिससे विषयॄका त्याग किया जाता है, वह साधारण वैराग्य है और दूसरा वैराग्य, लौकिक पुरुषॄको अतिभोग करनेसे होता है वह भी साधारण वैराग्य है. सङ्कर्षणको यह वैराग्य बहुत भोग करनेसे हुआ है. बहुत भोग करनेका हेतु कहते हैं कि 'संवत्सरगणान् बहून्' प्रभावादि बहुत संवत्सरॄमॄ भी हुआ. बहुत प्रकारके स्वरूपॄसे रमरण करनेसे वैराग्य(उदासीनता) हुआ. वैराग्यका विषय कहते हैं जिसमॄसे रुचि निकल गई. 'गृहमेधेषु योगेषु', घरमॄ वृद्धि(आसक्ति) करानेवाले उपायॄमॄसे आसक्ति निकल गई, जिससे वैराग्य उत्पन्न हुआ, किन्तु अपने रूपसे भोग करनेमॄ वैराग्य नहीं हुआ.

उपाय दो प्रकारके पहले कहे हैं एक लौकिक, दूसरा वैदिक. बहुतकर

लौकिक, जिनमृ ही बुद्धि लगी रहती है. वैराग्यका अर्थ है, गृहस्थके विषयादिमृ प्रेम न होना अथवा जो प्रेमभाव लौकिक पदार्थोंमृ है उसको हटाता है वह वैराग्य है ।।२२।।

आभासार्थ: विषयृकी असाध्यताका ज्ञान और अनिष्टका ज्ञान दोनृ राग(प्रेम)को निवृत्त करनेवाले हैं. इनमृसे अनिष्टका ज्ञान, लौकिकृमृ शास्त्रसे और वैदिकृमृ परमार्थसे होनेके कारण तुल्य बलवाले न होनेसे अकार्यताका ज्ञान अर्थात् लोकमृ हो सके वैसे ज्ञानका न होना, यह भी प्रेमका निवर्तक है. यृ मानते हुए, भगवान्मृे जो छठा गुण वैराग्य है उसको कहकर अब कहते हैं कि वे वैराग्य भगवान्के पुरुषरूपमृ भी कैमुतिक न्यायसे 'वैराग्य' इस 'दैवाधीनेषु' श्लोकमृ कहते हैं:

दैवाधीनेषु कामेषु दैवाधीनः स्वयं पुमान् ।
को विस्रम्भेत योगेन योगेश्वरम् अनुव्रतः ।।२३।।

श्लोकार्थ: जब इच्छित पदार्थकी प्राप्ति दैवाधीन है और स्वयं पुरुष भी दैवके अधीन है तो कौनसा ऐसा पुरुष है, जो योगसे योगेश्वरका अनुसरण कर उसमृ(भोग प्राप्तिमृ) विश्वास करे ।।२३ ।।

व्याख्या: जिस विषयको प्रयत्नसे प्राप्त नहीं कर सकते हैं, इस अंशसे(कारणसे) भी विषयमृ राग उत्पन्न नहीं होता है. जो पदार्थ दृष्ट है अर्थात् देखा जाता है, वह प्रयत्नसे साध्य भी हो सकता है किन्तु जो अदृष्ट है उसमृ प्रयत्न नहीं चलता है, यहां सब ही अदृष्टरूप कर्मसे ही साध्य है अर्थात् शुभदैव हो तो साध्य हो सकता है अन्यथा नहीं. उसमृ देह, भोगका अधिष्ठान है. विषय भोगनेके पदार्थ उसके आधारपर हैं और भोक्ता उसका(देहका) अभिमानी (जीव) है. ये तीनृ दैवाधीन हैं. १.जीव(पुरुष) २.इसने(पुरुषने) अपना रूप बताई हुई देह ३.पुष्पादि विषय, ये सब दैवाधीन हैं.

यदि दैवाधीन हैं तो इससे क्या? इसपर कहते हैं कि 'को विस्रम्भेत' कौन विश्वास करृ कि भोग प्राप्त होगा? यदि घुणाक्षर(घुन, छोटे कीड़ृके काष्ठपर कोरे हुए खाए हुए अक्षर) न्यायसे भोग प्राप्त हुआ दीखनेमृ आवे, तो भी जैसे घुनके अक्षरृको कोई पड़ना नहीं चाहता है, कारण कि वह लिखना नहीं जानता है, अचानक लिखे गए हैं क्यृकि यृ सदैव घुनके अक्षरृकी स्थिति नहीं रहती है. वैसे ही यदि गतिसे स्वप्नवत् कदाचित् भोग प्राप्त हो भी जावे तो भी

इस प्रकार कौन विश्वास करेगा कि यह सदा ही मिलेगा? सारा जगत् विश्वास कर रहा है आप क्यू निषेध करते हो? जिसका उत्तर देते हैं कि 'योगेन योगेश्वरम् अनुव्रतः', शास्त्रमू कहे हुए प्रकारसे शास्त्रूको जानकर, शास्त्रोक्त भक्तिमार्गके उपायूसे, सर्व उपायूमू प्रवृत्त करानेवाले योगेश्वरको जो सर्वभावसे भजता है, वह तो विश्वास नहीं करेगा, शेष प्रवाही करू तो आश्चर्य नहीं है ।।२३।।

आभासार्थः इस प्रकार वैराग्यका होना कहकर, भगवान्की सत्य संकल्पताकेलिए उसके अनुसार वैराग्य उत्पन्न करनेवाला बाहरका कारण शाप दिलाया है जिसका वर्णन 'पुर्यां कदाचित्' श्लोकमू करते हैं:

पुर्यां कदाचित् क्रीडद्भिः यदुभोजकुमारकैः ।
कोपिता मुनयः शेपुर् भगवन्मतकोविदाः ।।२४।।

श्लोकार्थः किसी दिन नगरमू खेलते हुए यदु और भोजके कुमारूने मुनियूको क्रोधित किया, जिससे भगवान्के आशयको जाननेवाले उन मुनियूने शाप दिया ।।२४।।

व्याख्याः 'पुर्यां' सप्तमी विभक्ति सामीप्य अर्थमू है. अतः द्वारकाके पास किसी *दिन यदु और भोजके कुमारूने खेलते हुए मुनियूको क्रोधित किया, 'खेलते हुए' कहनेका भाव यह है कि ये कुमार स्वभावसे दुष्ट नहीं थे अर्थात् दुष्ट स्वभावके कारण मुनियूको कोपित नहीं किया किन्तु खेलते-खेलते यों हो गया तथा ये सब कुमार भगवान्से ही उपजीव्य(पालित) थे सब भगवान्के ही थे. कुमार अवस्थामू बालकू के गुण-दोष गिने नहीं जाते हैं. यो कहकर उनकी निर्दोषता बताई है उनसे क्रोधित ब्रह्मऋषियूने शाप दिया जब वे शिशु होनेसे निर्दोष थे और स्वभावसे भी दुष्ट नहीं थे, खेलते-खेलते यू हो गया तो फिर ब्रह्मर्षियूने शाप क्यू दिया? जिसके उत्तरमू कहते हैं कि भगवान्के आशयको जानते थे कि इनका विनाश इस तरह करना है. अतः किसी प्रकारका दोष नहीं है ।।२४।।

* भगवान्ने जिस दिन इनको शाप दिलाना चाहा था.

आभासार्थः पश्चात् यादवूने तीन त्याग किये वे 'ततः कतिपयैः' श्लोकमूसे तीन श्लोकमू कहते हैं:

ततः कतिपयैर् मासैः वृष्णिभोजान्धकादयः ।
ययुः प्रभासं संहृष्टा रथैर् देवविमोहिताः ।।२५।।

श्लोकार्थः कितने मासॄके अनन्तर, देवसे विमोहित, वृष्णि, भोज और अन्धक आदि प्रसन्नतासे रथॄ द्वारा प्रभास गए ।।२५ ।।

व्याख्याः वैराग्यके दो कारणॄका हेतु शाप है. इन तीनॄका, तीन परित्यागॄमॄ अवसान हुआ, १.गृह परित्याग २.प्रवाहका परित्याग और ३. अपनी सब सम्पत्तिका परित्याग.

उनमॄसे प्रथम त्याग कहते हैं कि सब यादव तीन मासॄमॄ द्वारकासे बाहर निकल गए. वृष्णि, भोज और अन्धक कहनेसे यह सूचित किया है कि सात्त्विक, राजस और तामस गुणवाले ये सब थे वे निकल गए और 'आदि' शब्दसे बताया है कि ये और अन्य यादव इन तीन सात्विक, राजस और तामस की गणनामॄ आ गए हैं. इस कारणसे ही प्रसन्न हो रवाना हुए. भगवान्की क्या इच्छा है? जिसको सगुण जीव नहीं जान सकते हैं. 'प्रभास' शब्दका भावार्थ है कि सम्पूर्ण रीतिसे जो भानका स्थान है वह संहारकर्ता सङ्कर्षणका स्थान 'प्रभास' है. 'रथैः' बहुवचनसे यह सूचित किया है, युद्धकेलिए सामान भी ले जानेका हेतु यह है कि देवरूप भगवान्ने उनको मोहित कर दिया था, मनुष्य भावको छोड़ अपने देवभावको प्राप्त करना है, इससे यहां शाप विपरीत, निरूपण किया है, अर्थात् यादव, शापसे अधमता(मानव देह) त्याग उत्तम देव देह पाएंगे. अतः शाप आशीर्वादरूप हुआ ।।२५।।

आभासार्थः पापसे हीनता होती है न कि उत्कृष्टता होती है. ये तो शापसे देवभावको प्राप्त ह्यॄगे. इसलिए लौकिक क्रियाके परित्यागार्थ यह श्लोक कहते हैं:

तत्र स्नात्वा पितन् देवान् ऋषींश्चैव तदम्भसा।
तर्पयित्वाऽथ विप्रेभ्यो गावो बहुगुणा ददुः।।२६।।

श्लोकार्थः वहां स्नान कर, उसके जलसे पितर, देव तथा ऋषियॄका तर्पण कर, पश्चात् बहुत गुणवाली गौएं ब्राह्मणॄको दीं ।।२६ ।।

व्याख्याः अथवा इनमॄ यह ही विशेष मोह था क्यॄकि वे भगवद्भक्त थे अतः इन्हॄ भगवद्भक्तिसे ही सब समाधान करना चाहिए था तो भी इन्हॄने स्नानादिक ही किए, वहां सरस्वतीमॄ वा अग्निकुण्डमॄ स्नान कर, देवऋषि और पितरॄका तर्पण कर ब्राह्मणॄको बहुत गुणवाली गौएं दीं. बहुत और उत्तम दूध तथा साधुपन आदि गुण जिन गौआॄमॄ थे वे गौ ब्राह्मणॄको दीं. इससे यॄ कहा कि

इन्होने आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सन्तोष प्राप्त किया ।।२६।।

आभासार्थ: इस निम्न 'हिरण्यं रजतं' श्लोकमे धनके त्यागका वर्णन करते हैं:

हिरण्यं रजतं शय्यां वासांस्यजिनकम्बलान् ।
हयान् रथान् इभान् कन्यां धरां वृत्तिकरीमपि।।२७।।

श्लोकार्थ: भगवत्प्रीत्यर्थ ब्राह्मणको सुवर्ण, रौप्य, शय्या, वस्त्र, मृगका चर्म, कम्बल(ऊनके बने हुए), घोडे, रथ, हाथी, कन्या, आजीविका देनेवाली भूमि(खेत सहित गांव आदि) दान किये ।।२७ ।।

व्याख्या: 'हिरण्य'(सुवर्ण) और रजत(चांदी) देव और पितरो की प्रीति केलिए दक्षिणारूपसे दी. शय्या, और वस्त्र, रात्रि और दिनमे सुख देनेवाली वस्तु है. 'अजिन-कम्बलान्', मृग चर्म बैठनेकेलिए और कम्बल ओड़नेकेलिए हैं. वे तीन प्रकारकी वस्तुएं सत्त्व, रज और तमो भेदसे साधारण यादवो द्वारा देनेके योग्य थीं. केवल घोड़े और रथ सहित घोडे, स्वतन्त्रता हस्ती, कन्या एवं पृथ्वी यह राजस दान है, घोड़ाका दान सात्त्विक है. आजीविका देनेवाली केवल भूमि(खेत) 'धरा' पदसे ग्राम आदि जिसमे हैं ऐसी भूमि कहां, बहुत क्या कहें, जिनके पास जो कुछ ले गए थे उन सब पदार्थोंका ब्राह्मण द्वारा त्याग किया, यों अर्थ है ।।२७।।

आभासार्थ: इसी तरह परित्याग कर शुद्ध होके भगवत्प्रीति करानेवाले कर्म करने लगे, जिसका वर्णन 'अन्नं चोरुरसं' श्लोकमे कहते हैं :

अन्नं चोरुरसं तेभ्यो दत्वा भगवदर्पणम् ।
गोविप्रार्थासवः शूराः प्रणेमुः भुवि मूर्धभिः।।२८।।

श्लोकार्थ: भगवदर्पण किया हुआ(प्रसादी) विशेष रसवाला अन्न ब्राह्मणको देकर, गौ और ब्राह्मणकेलिए अपने प्राण भी देनेवाले ऐसे शूर यादव पृथ्वीपर सिर धरकर नमस्कार करने लगे ।।२८ ।।

व्याख्या: अनेक तरह पकाया हुआ और मसालासे युक्त अन्न पहले कहे हुए ही ब्राह्मणको कृष्णप्रीत्यर्थ देकर, यादव पापासे छूट निष्पाप बन गए जिससे भक्तिका आवेश होनेसे सात्त्विकभावको प्राप्त हुए. अपने धर्मके जाग्रत होनेसे राजस मिश्र सात्त्विक कैसे हुए वह समझाते हैं कि गौ और ब्राह्मणकेलिए प्राण धारण करनेवाले, इससे उनका सात्विकपन बताया है और 'शूरा' सूरवीर पदसे

राजसत्व कहा है. ऐसे सब यादवॄने जो प्रायश्चित किया वह कहते हैं . 'प्रणेमुः भुवि मूर्धभिः इति'. मस्तकॄको पृथ्वीपर गिराकर नमस्कार करने लगे, जिन्हॄने ही शाप दिया उनको अथवा उनके अनुयायियॄ(शिष्यादि)को साष्टांग प्रणाम करने लगे. [१]शेष श्लोकमॄ शेष इन्द्रियां कहीं हैं. इसी तरह [२]मर्यादासे चार प्रकारके भगवान्के चरित्रॄका यहां निरूपण किया, जैसे कि इन्द्रियॄके दो भेद एक ज्ञानेन्द्रिय, दूसरी कर्मेन्द्रिय तथा कर्मके दो भेद एक शास्त्रसे कहे हुए और दूसरे लौकिक ।।२८।।

१.स्कन्धार्थके विचारसे ६ श्लोकॄका तात्पर्य कहते हैं, 'दैवाधीन' श्लोक २३मॄ भोगॄमॄ विश्वास करनेका कार्य 'नेत्र'का कहा है. 'पुर्यां' २४मॄ श्लोकमॄ भगवान्का मत जान कर शाप देनेकी प्रेरणा करना, नेत्रेन्द्रियके देवता सूर्यका कार्य है.'ततः' २५मॄ श्लोकमॄ शाप भगवदाज्ञा है उसके श्रवणसे यादव प्रभास गए. यह 'श्रोत्र' इन्द्रियका कार्य है. 'तत्र' २६मॄ श्लोकमॄ स्नान तर्पणादि कार्य, विशेषदिशामॄ करनेका है अतः यह कर्णके देवता दिशाका कार्य है. 'हिरण्यं' २७मॄ श्लोकमॄ आजीविका देनेवाली भूमिका दान करनेकी प्रेरणा करनी, जिह्वेन्द्रियका कार्य है. 'अन्नं' २८मॄ श्लोकमॄ रस युक्त अन्न दिया यह जिह्वा इन्द्रियका स्पष्ट कार्य है.

२.यहां 'मर्यादा' पद विभागपर है. इससे सर्व लीलासे अपनेमॄ सबका निरोध करनेमॄ कोई विरोध नहीं है.

अष्टभिः सप्तभिश्चैव षड्भिः सप्तभिरेव च।
चतुर्मूर्तेः भगवतः चरित्रं खम् इह उच्यते ।।कारि.१।।
एतद्रूपाणीन्द्रियाणि नान्यं गृह्णन्ति च क्वचित्।
सर्गार्थं हेतवश्चोक्ता जन्महेतुस्वभावतः ।।कारि.२।। ।।२८।।

कारिकार्थ: आठ और सातसे तथा छः और सातसे चतुर्मूर्ति भगवान्का इन्द्रियरूपचरित्र इस अध्यायमॄ कहा है ।।१।।

कारिकार्थ: इसी प्रकारकी ये इन्द्रियां कभी भी किसी प्रसंगमॄ भी भगवान्के सिवाय दूसरेका ग्रहण नहीं करती हैं. जन्म, हेतु और स्वभावसे जो योग्य जीव हैं उनके जन्मका कारण सृष्टि है ।।२।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके अध्याय ३ की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ४

उद्धवजीसे विदा होकर विदुरजीका मैत्रेय ऋषिके पास जाना

चतुर्थे ह्यधिकारार्थं बुद्धिर् भगवतोच्यते ।
पञ्चधा साऽत्र सम्प्रोक्ता पञ्चपर्वाधिकारिणाम् ।।कारि.१।।
स्वरूपं च गुणाः प्रोक्ताः फलम् अत्र निरूप्यते ।
एतादृशे हि पुरूषे भगवान् आविशेद्यतः।।कारि.२।।
तदैव तद्गताः सर्वे बुद्ध्यन्ते नाऽन्यथा यथा ।
अतो भगवतः सर्गे हेतुश्चाऽयं निरूप्यते ।।कारि.३।।

कारिकार्थः चतुर्थ अध्यायमॄ भगवान् अधिकारकी सिद्धिकेलिए 'बुद्धि' कहते हैं. वह बुद्धि यहां पांच प्रकारकी कही गई है, पंच पर्वात्मक अविद्यासे सम्बन्धवाले अधिकारियॊके स्वरूप और गुण कहे. अब इस अध्यायमॄ फल कहा जाता है.

जब ऐसे अधिकारी पुरुषमॄ भगवान् स्वयं आवेश करते हैं तब ही उसमॄ रहे हुए सर्व वस्तुओंका वास्तविक ज्ञान होता है, दूसरी तरह वास्तविक ज्ञान नहीं होता है. इसलिए भगवत्कृत सर्गमॄ यह हेतु भी कहा जाता है ।।१-३ ।।

आभासार्थः उनमॄसे पहले भगवदिच्छासे स्मृतिरूप बुद्धि उत्पन्न हुई जिसका निम्न तीन श्लोकॊमॄ वर्णन करते हैं:

उद्धवः उवाच

अथ ते तदनुज्ञाता भुक्त्वा पीत्वा च वारुणीम् ।
तया विभ्रंशितज्ञाना दुरुक्तैर् मर्म पस्पृशुः।।१।।

श्लोकार्थः अनन्तर यादवॊने ब्राह्मणॊसे आज्ञा प्राप्त कर भोजन किया, बाद वारुणी पान करनेसे उनका ज्ञान नष्ट हो गया, जिससे ऐसे दुर्वचन कहे जिन वचनॊने यादवके मर्मका ही स्पर्श किया ।।१ ।।

व्याख्याः ''तामसी राजसी चैव सात्विकी चेति सा क्रमात्'' तीन श्लोकॊसे इसलिए कहते हैं कि वह यादवॊकी बुद्धि सात्त्विकी, राजसी और तामसी होनेसे तीन प्रकारकी थी.

पहले यादव ऐसे होते हुए भी सर्व दोषॊसे मुक्त हो गए थे. भगवदिच्छासे उनकी मति ऐसी हुई कि क्रीड़ा कर थकावट दूर करॆ पश्चात् आगेकी वासनासे

उनकी बुद्धि दुष्ट हो गई. यॄ इस श्लोकमॄ कहते हैं.

'अथ' शब्द कहकर सूचित करते हैं कि अब पृथक् विषयका प्रारम्भ होता है. पूर्व कहे हुए उन निर्दोष यादवॄने ब्राह्मणाज्ञासे भोजन किया यहां तक पूर्व अध्यायसे सम्बन्धवाला है. 'अथ' शब्दका अर्थ अनन्तर(बाद) भी होता है अतः बादमॄ 'वारुणी पीत्वा', वारुणी(मदिरा)का पान कर यादवॄने शास्त्र विरुद्ध आचरण किया जिसका फल यह हुआ कि उनका ज्ञान नष्ट हो गया.

सर्वं हि साधनं व्यर्थं यदि बुद्धिः विनश्यति।
अकर्तव्यं तदा नाऽस्ति महतामपि निश्चितम्।।कारि.१।।
तस्माद् एवं न कर्तव्यम् इति बुद्धिरिहोच्यते।
अतोऽत्र शास्त्रे सर्वत्र ह्यप्रामाण्यं स्मृतेः सदा।।कारि.२।।

कारिकार्थः अगर बुद्धि नष्ट हो जाती है तो सब साधन व्यर्थ हो जाते हैं, तब महापुरुष भी यह निश्चय नहीं कर सकते हैं कि हमको यह कार्य न करना चाहिए।।१ ।।

इसलिए यहां ऐसी बुद्धि कही जाती है जिससे ज्ञान हो जाय कि इस प्रकारका कार्य जो शास्त्र विरुद्ध है वह न करना चाहिए, अतः इस शास्त्रमॄ सदैव वह स्मृति अप्रमाण है जो शास्त्र विरुद्ध आचरण कराती हो।।२ ।।

व्याख्याः 'बुद्धिभ्रंशफलम् आह' बुद्धिके भ्रष्ट होनेका फल कहते हैं कि 'दुरुक्तैः मर्म पस्पृशुः' निरादर करनेवाले दुष्ट वचन अर्थात् जिसको जो कार्य योग्य नहीं है उससे वह कार्य प्रमादसे हो जावे अथवा ऐसे वचन कहे जावॄ तो उसको मर्म कहा जाता है अर्थात् निरादर करनेवाले वचन कहने लगे. जिन वचनॄने उन(यादवॄके परस्पर)के मर्म स्थानका स्पर्श किया जिससे वे अपना निरादर समझ परस्पर लड़ने लगे.

इन शास्त्रमॄ [1]ज्ञान स्थिर है, न कि तीन क्षण ही रहनेवाला है किन्तु जैसे नासिकासे गन्ध ग्रहण की जाती है वैसे ही मनसे यह ज्ञान[2] ग्रहण किया जाता है. वह ज्ञान भगवान्मॄ नित्य है दूसरॄमॄ तो उत्पन्न[3] होता है जैसे अन्न शरीरका पोषक है वैसे ही उस ज्ञानके पोषक लोक और शास्त्रादि[4] हैं. इन्द्रियां उसको उत्पन्न करनेवाली हैं और अभ्यास उसको दृढ[5] करता है. वह ज्ञान ही गीताके वचनानुसार सात्त्विकादि[6] भेदसे तीन प्रकारका है. देश आदि निषिद्ध किए हुए छः पदार्थ उनके नाशक हैं तो भी स्मृति अप्रमाण है यों सिद्ध करनेकेलिए ज्ञानकी

स्थिरता बताते हैं.

जो शास्त्रविहित पदार्थ अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाले हैं वे पोषक हैं. जीवके प्रयत्नसे अन्तःकरणमॄ स्थापित ज्ञान, यों, वहां(अन्तःकरणमॄ) स्थित हो जाता है. जैसे घरमॄ पड़ी हुई वस्तुएं वहांपर ही पड़ी रहती हैं. शब्द और विषय(पदार्थ) उत्पन्नका उद्दीपन करनेवाले हैं और जो ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है उस ज्ञानके उत्पन्न करनेकी सामग्रीरूप है, उस ही के नाम, चेतना और बुद्धि आदि है. वह ज्ञान भगवद्रूप होनेसे एक ही है, उनकी उत्पति अनेक रूपॉसे होती है. अनन्ततामॄ भी दस प्रकारकी लीलाकी तरह निरूपण किये जाते हैं.

१.विकार रहित, सर्वोपास्य और सर्वकी आत्मारूप बना हुआ मुख्य आश्रयरूप सब ज्ञान जिसमॄ समाए हुए हैं ऐसा एक ही(निर्विषय ज्ञान) ज्ञान है.

२.प्रकाशक गुणके रूपसे प्रकट, अविकारी वही ज्ञान भगवान्का गुण कहा जाता है, यह ज्ञान भी नित्य है किन्तु सविषय है.

३.वही ज्ञान अर्थात् भगवान्का गुण, रूप, ज्ञान फिर नामरूप सॄष्टि अथवा वैदिक सॄष्टिकेलिए वेद शरीरको ग्रहण करता है. वह वेदरूप शरीर विराट् रूपकी तरह अनन्त है. इसलिए श्रुतिने कहा है कि ''**अनन्ताः वै वेदाः**'' वेद अनन्त हैं.

४.वही शरीर युक्त होके फिर बीजकी स्थितिको भी प्राप्त होता है तब सब शब्दव्यष्टिकी तरह विकारवाले होते हैं. वही ज्ञान फिर प्रमाता(ज्ञान प्राप्त करनेवाला) और प्रमेय(जिसका ज्ञान होना है)का आश्रय करता है अर्थात् अर्थके प्रकाश करनेवाले रूपसे लोकमॄ प्रकट होनेकेलिए उन दोनॄका(प्रमाता और प्रमेय)का आश्रय होता है.

५.प्रमेय(जिस रूपका ज्ञान होता है)के अनन्तरूप होनेसे प्रमेयका आश्रय भी अनन्त(सर्वत्र व्याप्त) ही है. किन्तु प्रमेय रूपपनसे, एक प्रकारका है अतः उसको एक ही कहा जाता है परन्तु ज्ञान प्राप्त करनेवाले पुरुषमॄ, वह पुरुष अन्तःकरण और इन्द्रियॄका आश्रय करनेके कारण पांच प्रकारका है अन्तःकरणमॄ चार प्रकारका है.

६.इन्द्रियॄमॄ एक[७] प्रकारका है कारण कि वहां निर्विकल्पता है.

७.तब अन्तःकरणमॄ ४ प्रकारसे कैसे? जिसके उत्तरमॄ कहते हैं कि मनसे उत्पन्न ज्ञान संशयात्मक होता है. यहां भी अमुक पदार्थोंका जो ज्ञान होता है वह पदार्थों द्वारा ही होता है.

८.बुद्धि मिश्रित अहङ्कार स्वप्न देखता है इसलिए स्वप्नज्ञान अहंकाराश्रित है.
९.शरीराभिमान तो अहंकारके कारणसे होता है और बुद्धिके आश्रयवाला है.
१०.चित्त तो सुषुप्ति अवस्थामृ आत्माको ही देखता है, जाग्रत् और स्वप्नकी अवस्थामृ लीन हो जाता है अतः निर्विषयक ज्ञान, चित्तके आश्रित है.

उस ज्ञानकी स्थिति शास्त्रादिसे निरूपण की है इसलिए इसके नाशका प्रकार भी विशेष प्रकारसे वर्णन करते हैं. सामान्यतः पूर्वोक्त मर्यादाका अभाव ही उसका नाश है मर्यादाके अभाव व सामान्य प्रकारके नाशका कारण, ज्ञानका आच्छादन करनेवाली माया ही है. इस(माया)के ६आश्रय हैं. कलि, मागध और मदिरा आदि और दैत्य, शाक्त तथा शास्त्र निषिद्ध क्रियाएं. ये ६ योग्यतानुसार स्वरूपसे, स्थानसे और गुणसे ज्ञानका धीरे धीरे नाश करते हैं. जो ज्ञानी हो जाते हैं उनका ज्ञान भी नष्ट हो जाता है.

उनमृ(यादवृमृ) जो पहले बुद्धिके आधारवाला शरीराभिमानरूप ज्ञान था वह मदिरापानसे धीरे धीरे बुद्धिके मलिनभाग, तामसमृ, जाकर गिरा अर्थात् उनका ज्ञान नष्ट हो गया. यों कालने उनका स्वरूपसे नाश किया, मदिरापानने गुणसे थोड़ा नाश किया जिससे उनकी ऐसी बुद्धि हो गई कि हम उच्च हैं अन्य नीच हैं अर्थात् दूसरृमृ दोष ही देखने लगे.

माया जो पदार्थ न हो उनको भी बुद्धिसे स्थापित कर देती है उन पदार्थोंके सहकारसे उत्पन्न बुद्धिके आधारवाला ज्ञान 'स्मृति रूप' होता है, उससे ही पदार्थोंके संबंधवाले वचन 'दूषित वचन' होते हैं. वे दुष्ट वचन दोषयुक्त पुरुष जिनका आधार है ऐसे मर्मको स्पर्श करने लगे. उस मर्मपर थोड़ीसी भी चोट शब्दसे भी कही हुई महती व्यथा(पीड़ा) करती है. मदिरा पीनेसे नशेमृ मस्त होनेके कारण स्पर्श मात्र लिखा, आघात नहीं लिखा ।।१।।

टिप्पणी:

१. अनुभवसे उत्पन्न संस्कार स्मृतिको उत्पन्न करता है यह संस्कार प्रमाण है तो भी स्मृति प्रमाण है यृ सिद्ध करनेकेलिए ज्ञानकी स्थितरता बताते हैं.
२. ज्ञान स्थिर है तो भी उसका भान सदैव नहीं होता है. घरमृ पड़ी हुई गन्धवाली वस्तुओृकी गन्ध, नासिकाको सदैव नहीं आती है कारण कि बहुतसे संबंधके कारण ग्रहण करनेका कार्य रुक जाता है. उसका जब मनके साथ संबंध होता है तब मनसे उसका ज्ञान संबन्ध होते ही उसका भान होता है.

३.भगवान्को सकल विषयाका ज्ञान नित्य है यह सर्वसंमत सिद्धान्त है. शेष दूसराूमें ज्ञान उत्पन्न होता है अतः वह अनित्य होनेसे उसका भान कदाचित् है अर्थात् पदार्थोंमा जैसे-जैसे विकार हो तदनुसार वह ज्ञान उत्पन्न हो पोषित तथा दृढ़ हो तब भान होता है अन्यथा भान नही होता है.

४.पोषणका तात्पर्य, अपने सम्बन्धियाूसे मिल जाना.

५.दृढ करनेका तात्पर्य है सजातीयतामा अचल स्थिति, इस मतानुसार स्मृतिके उत्पन्न करनेमा पृथक् संस्कारकी आवश्यकता नहीं है कारण कि सूक्ष्म अवस्थामा रहा हुआ ज्ञान ही संस्कार है.

६.याा तो ज्ञान स्थिर है तो भी उसके पोषक और नाशक पदार्थ भी हैं उनको गीतामा जो सात्विकादि प्रकार कहा है वह कहते हैं.

७.बाहरकी इन्द्रियां ५ हैं, वे विकल्प बिना अनेक प्रकारसे ज्ञान कराती हैं तो भी उसको एक प्रकारका कैसे कहा? जिसके उत्तरमा कहा है कि प्रत्येक इन्द्रियसे एक प्रकारका ही ज्ञान होता है शेष संयोग और पदार्थ विचाररूप प्रकाश आदिके ज्ञानमा कारण हैं न कि इन्द्रिय, अतः इन्द्रिय द्वारा एक प्रकारका ही ज्ञान होता है.

८. शास्त्राामा कही हुई आज्ञाआाके संबंधका अभाव.

९. 'मर्म' पद 'मृङ् प्राण-परित्यागे' धातुको द्वित्व(दो बारा) कर 'उत्' प्रत्यय लगाकर बनाया है जिसका भावार्थ है कि उसपर थोड़ा भी आघात हो तो उसको बहुत पीड़ा होती है अर्थात् मृत्युको प्राप्त होते हैं.

आभासार्थ: इस प्रकार शास्त्रविरुद्ध आचरण मद्यपानसे जब स्वरूपको भूल गए तब विपरीत पदार्थ(विचार) होनेसे विपरीत शब्दाके स्पर्श(श्रवण)से अन्तःकरणमा पैदा होनेसे शास्त्रादिसे भी लडने लगे जिसका वर्णन निम्न श्लोकसे करते हैं:

तेषां मैरेयदोषेण विषमीकृत-चेतसाम्।
निम्लोचति रवावासीद् वेणूनामिव मर्दनम् ।।२।।

श्लोकार्थ: सूर्य अस्त होनेपर मद्यपानके दोषसे जिनकी बुद्धि विपरीत हो गई है वे(यादव) परस्पर बांसकी तरह परस्परमा लडकर नष्ट हो गए।।२।।

व्याख्या: मदिरापानके कारण पहलेका नीतियुक्त ज्ञान नष्ट होकर विपरीत ज्ञानका उदय हुआ जिसके दोषसे स्वस्थ एवं समझवाली परस्पर प्रेमयुक्त सुन्दर बुद्धि दूषित(खराब) हो गई. दृष्टिज्ञान, पदार्थके आश्रित है तो भी उसको तेजके प्रकाशकी आवश्यकता है अन्यथा अन्धकार होनेपर पदार्थ होते हुए भी

दृष्टिज्ञान निरर्थक है. इस अभिप्रायको समझानेकेलिए कहा है कि सूर्य अस्त हो जानेके बाद घर्षण हुआ. सर्वत्र दोषकी समानता हो गई अर्थात् अन्धकार भी हुआ, मद्यपानसे बुद्धि विपरीत हुई अतः वेणुवत्(बांसकी तरह) परस्पर घर्षण कर केवल वाक्-युद्धसे नहीं किन्तु शस्त्रास्त्रसे भी लड़कर यादव नष्ट हो गए ।।२।।

आभासार्थः इस प्रकार उन(यादवास्त्र)की पहली स्थिति(शांत स्थिति) साधन(मद्यपान)से और साध्य(दुष्ट बुद्धि)से तिरोहित कर अपना भी अनीश्वरत्व (मनुष्यनाट्य) तिरोहित करनेकेलिए साधन और साध्यका वर्णन निम्न श्लोकमस्त्र करते हैं:

भगवान् स्वात्ममायायाः गतिं ताम् अवलोक्य सः ।
सरस्वतीम् उपस्पृश्य वृक्षमूलम् उपाविशत् ।।३।।

श्लोकार्थः वे षड् गुणैश्वर्य प्रभु अपनी मायाकी चिदंशकी उस गतिको देखकर सरस्वती(नदी)स्त्र स्नानकर वृक्षकी जडके पास आकर बिराजे ।।३ ।।

व्याख्याः श्रीकृष्णने अपनेस्त्र अनैश्वर्यका(माया मनुष्यरूपका) तिरोभाव करना चाहा, जिसका कारण दिखानेकेलिए कहा है कि वे(भगवान्) हैं. षड्गुण संयुक्त विभु प्रभु होनेसे सब करनेस्त्र समर्थ हैं. अपने चिदंश आत्माकी व्यामोहिका मायाका कार्य देखकर अर्थात् मद्यपानसे विपरीत बुद्धि होनेसे परस्पर संघर्षकर वेणुवत् नष्ट होना देखकर अपने अनैश्वर्यके तिरोभावकी लीला करनेकी इच्छा की.

अनैश्वर्यका तिरोभाव दो प्रकारसे होता है. १.वेदास्त्रसे २.वैष्णवास्त्रसे. वे दोनास्त्र साधन करने लगे. सरस्वती वेदरूपा नदी है. उसस्त्र स्नान कर दिखाया कि अपनी आत्माको वेदास्त्र स्थापित किया है. वृक्षकी मूलस्त्र विराजे, इससे सूचित किया है कि "**वैष्णवा वै वनस्पतयः**" इस श्रुत्यनुसार वृक्षादि लता पताकाएं सर्व वैष्णव हैं. जिस रूपसे विष्णुने पैदा किए उनकी बीजरूप मूल(जड़) है अतः बीज रूप विष्णुस्त्र अर्धांशको स्थापित किया. इसी तरह ऐश्वर्यादि गुणास्त्रको एक स्थानपर और स्वरूपको दूसरे स्थानपर स्थापित करनेसे अनैश्वर्यका कोई आश्रय नहीं रहा जिससे उसका स्वतः निराकरण हो गया.

भगवान्ने इनको बीजस्त्र क्यो स्थापित किया? वैकुण्ठस्त्र स्थापित करना चाहिए था. इस शंकाका निराकरण 'उपाविशत्' पदसे किया है. जिसका आशय यह है कि वैकुण्ठ दूर है. वहां स्थापित करनेसे सर्गलीला करनेस्त्र परिश्रम वा वह

कार्य अशक्य होता. अतः यहां बीजमृ स्थापित इसलिए कि फिर सर्ग करनेके समय देरी व श्रम न हो, इसलिए ही पहले यह कथा कही है. जैसे भगवान् बीजमृ प्रविष्ट होते हैं. यह(बुद्धिमृ स्थित) ही अधिकार है.

माहात्म्य, रूप, लीला, विषय, चरित्र, इन्द्रियां अपने अंशसे कारणमृ प्रवेश और बुद्धि, यह सर्व बीजरूप सर्ग हैं.

जो विष्णुसे उत्पन्न हैं वे वैष्णव हैं. और जो विष्णुके ये सेवकादि हैं वे भी वैष्णव हैं. अतः भगवान् स्वयं वृक्षमूलमृ विराजमान होके, सृष्टिके कारणरूप बीजको और मोक्ष कारणरूप बीजको उत्पन्न करनेकेलिए पहलेही उद्धवजीको ध्यानमृ रखा था. नव लीलाआृमृसे पहली मुझे(भगवान्को) करनी चाहिए, अन्तिम इसको(उद्धवको) तथा बीचकी लीलाएं कालादि करते रहृगे.

उद्धवजीकी कामना थी कि 'मुझे भी स्वधाम ले चलो'. यह शंका कि उद्धवको क्यृ नहीं ले गए? जिसका उत्तर है कि जहां आप(भगवान्) विराजते हैं वह स्वधाम(भगवान्का धाम) ही है. अब बीजात्मक कारणरूप विष्णुमृ आप विराजमान हुए हैं.

उद्धवजी भी कारणरूप अमृतकी गुफारूप बदरीकाश्रममृ आनन्दके अनुभवार्थ मोक्षका एक ही साधनरूप तप है जो वहां सुलभ(समीप) ही है. वहां उद्धवजी रहे. यों भगवान्ने विचारा है ।।३।।

आभासार्थः उसकी भी प्रथम स्थितिका नाश होनेवाला है इसलिए विनाश स्थान प्रभासमृ आवे ऐसी इच्छा की. अतः द्वितीय बीजका निरूपण करते हुए निश्चयात्मिका बुद्धिका वर्णन उन्नीस श्लोकसे करते हैं. अष्टादश विद्याके अतिक्रमण करनेके बाद ही बुद्धि निश्चित होती है. मीमांसा सहित वेदके अंग स्वतन्त्रतासे प्रकाश देनेवाला द्वादशात्मक सूर्य, इससे ही प्रथम अवस्थाका नाश होता है. मुक्तिमृ तो कारण कहा नहीं जा सकता है. इस ही लीलाको अन्य प्रकारसे कहा है, जैसे बीजसे ही फलमृ विस्तार होता है. अतः पहले उद्धवजी वह कह बताते हैं जो भगवान्ने उनको कहा.

अहं चोक्तो भगवता प्रपन्नार्त्तिहरेण ह ।
बदरीं त्वं प्रयाहीति स्वकुलं सञ्जिहीर्षुणा ।।४।।

श्लोकार्थः शरणागतृकी आर्ति देखनेवाले और अपने कुलको साथ ले जानेवाले प्रभुने मुझे कहा कि तुम शीघ्र बदरीको जाओ ।।४ ।।

व्याख्या: जो दूसरे अपने थे, उनको कहा कि प्रभास जाओ, केवल मुझे कहा कि तू बदरी जल्दी जा. किन्तु श्लोकमृ 'च' पदका आशय है कि प्रभास होकर पश्चात बदरी जा 'भगवता' पदसे यह समझाया है कि आपके इस प्रकारके वाक्यृसे कार्य सिद्धि अवश्य होगी. इस प्रकारकी आज्ञा उद्धवको क्यृ दी? इसके उत्तरमृ उद्धव कहता है कि आप शरणागतृके दुःखृको हरनेवाले हैं अतः सृष्टिमृ सब प्रकारके ऐश्वर्य देकर शरणागतृके सर्व क्लेशृको हरूंगा. इस आज्ञासे इस प्रकारकी सूचना दी है. 'ह' पदसे आश्चर्य प्रदर्शित किया है क्यृकि विरुद्ध साधनृ से साध्य सिद्ध करना है. 'बदरी' *अरण्यरूप है किन्तु फलार्थ अमृतरूप है. कारण कि 'बदरी'का अर्थ है अमृतकी दरी(गुफा). वहां तू शीघ्र जा. जल्दी कहनेका आशय है, कि 'बदरी' पदके यौगिक भावार्थको भूल न जाओ, अपने कुल जो सृष्टिमृ उपयोगमृ आते हैं उनको अपने साथ ले जानेकी इच्छावाले. अन्यथा अनन्त प्रकारकी सृष्टि न हो सके ।।४।।

*''अरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके'' इति श्रुतेः. स्मृतिमृ भी कहते हैं कि ब्रह्मलोकमृ अमृत समुद्र एवं सागर दोनृ हैं अतः बदरी अरण्य ब्रह्मलोकात्मक है.

आभासार्थ: हालांकि भगवान्ने मुखसे यृ कहा कि बदरी जाओ तो भी हृदयका अभिप्राय था कि प्रभास होके फिर बदरी जल्दी जा, क्यृकि वहां जानेसे पूर्वावस्थाका त्याग न हो सकेगा. वह इस निम्न श्लोकमृ कहते हैं:

अथापि तदभिप्रेतं जानन् अहम् अरिन्दम।
पृष्ठतोऽन्वगमं भर्तुः पादविश्लेषणाक्षमः ।।५।।

श्लोकार्थ: तो भी हे शत्रुदमन! उनका अभिप्राय जाननेवाला मैं, स्वामीके चरणोमृ पृथक् होनेसे उनके पीछे जाने लगा ।।५ ।।

व्याख्या: उनके मनका अभिप्राय जो प्रथम कहा वह जान लिया था. कैसे जाना? इस प्रश्नके उत्तरमृ कहते हैं कि भगवदुपदेशसे प्राप्त ज्ञानसे मेरेमृ सर्वज्ञता उत्पन्न हुई जिससे यों जान लिया. एवं भगवत्कृपा भी इस ज्ञानके होनेमृ कारण है किन्तु मैंने ही यह जाना. 'हे अरिन्दम' यह सम्बोधन विदुरको, यह ज्ञान हो इसलिए दिया है. राजनीतिके अनुसार भी स्वामीके हार्दिक अभिप्रायानुसार कर्तव्य करना सेवकका धर्म है, इससे मौखिक आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं होता है. तो भी प्रभुके साथ न गया, पहले ही बदरीकाश्रमकी यात्रा की. विदुरजी गिरनार तक साथ आकर पश्चात् प्रभास गया यों जाना जाता है. भगवान्के अभिप्रायमृ

सन्देह होनेपर भी पूर्वावस्थाके विद्यमान(मौजूद) होनेसे स्नेह भी गया. याॄ कहते हैं कि प्रभुके चरणॄका वियोग अथवा पूर्वावस्था(प्रेम)का त्याग दोनॄका होना आवश्यक है, जिससे मैं(विदुर) प्रभास गया ।।५।।

आभासार्थः यद्यपि(हालांकि) इच्छित विषयका केवल विचार ही किया था तो भी वह सचमुच हो गया. यह निम्न श्लोकमॄ कहते हैं:

अद्राक्षम् एकम् आसीनं विचिन्वन् दयितं पतिम् ।
श्रीनिकेतं सरस्वत्यां कृतकेतम् अकेतनम् ।।६।।

श्लोकार्थः ढूंढते हुए मैंने सरस्वतीके किनारेपर विराजमान केतन रहित, लक्ष्मीके धामरूप प्रिय स्वामीको अकेले बैठा हुआ देखा ।।६ ।।

व्याख्याः उस समय भगवान्का ऐश्वर्य पूर्ण प्रकट हुआ था जिससे मैंने भगवान्के स्वरूपमॄ षोडश १६ कलाओॄका दर्शन किया. वह पूर्ण थे इस कारणसे यहां भगवान्के सोलह विशेषण दिए हैं. ये सोलह विशेषण(गुण) व्यास सूत्रॄके तृतीयाध्याय तीसरेपाद(गुणोपसंहार)मॄ षोडशाधिकरणॄसे प्रतिपादन किए हैं. इसी तरह सर्वगुण विशिष्ट(फलरूप) भगवान्के मैंने साक्षात्कार दर्शन किए जो भगवान् सर्वका उपसंहार कर सर्व प्रपंचातीत होनेसे 'एक' होके विराजे हैं. वे ही कारण रूप हैं और विशेष यह है कि भगवान् सर्वत्र ही बैठे हुए हैं, विशेषरूपसे वैष्णवॄके समीप उस समय व्यग्रता नहीं थी क्यॄकि कोई कार्य नहीं था. इससे यह भी सूचित किया है कि मैं याॄ बैठे-बैठे ही सृष्टि कर देता हूं इससे श्लोकॄमॄ अवयवॄका उपसंहार(छिपाने)का सूचन किया है. भगवान्के दर्शन भी भगवदिच्छासे हुए हैं, क्यॄकि सर्वत्र गरुड़ध्वजवाले रथको ढूंढा कि वह कहां है? किन्तु देखनेमॄ नहीं आया, अन्तमॄ भगवत्कृपा हुई, उनकी इच्छासे जहां विराजे थे वहां आ गया और दर्शन किए .इससे यह जताया है कि जब भगवान्का विचार(चिन्तन) किया जाए तब सर्वभूतॄमॄ स्थित उस एकका ही चिन्तन करॄ. जब याॄ किया जाता है तब वह प्रियत्व और आत्मत्वसे जाना जाता है अनन्तर वही ब्रह्मात्मभाववाला हो जाता है. ऐसी परिस्थितिके बाद ही वह पतिरूपसे अन्तःकरणमॄ विराजता है वह ही फलरूप आत्मा सर्व प्रकारसे असीम आनन्द रसपान कराता है, कारण कि अगणितानन्द अक्षरब्रह्मका भी वह पुरुषोत्तम पति है. इस तरह प्रमेयमॄ चतुरूप प्रभुने कहे, साधन और फलके भेदसे प्रमाणमॄ उसके तीन रूप हैं. वे कहते हैं वहां 'अर्थ' शब्द और फलकी प्रधानता है. इनसे 'श्रीनिकेतनः' पदसे अर्थ कहा है और

इससे भगवान्की प्रपंचरूप यज्ञ एवं सौभाग्यवाला कहा है. सरस्वतीपर बैठक होनेसे यह सूचित किया है कि आप वेदसे ही जाने व पाए जाते हैं. 'अकेतन' (जिसको किसी अन्यके आश्रयकी आवश्यकता नहीं है) पदसे बताया है कि यह ही फलरूप हैं. क्यूंकि सर्वाश्रय रहित होनेसे स्वरूपमूं ही स्थित स्वरूप 'फलरूप' होता है. दर्शनके समय उद्धवजीने श्री वत्सचिह्नपर लक्ष्मी बैठी हैं ऐसा दर्शन किया. शुद्ध सरस्वतीके तीरपर स्थित होनेका कारण उपदेश देनेकेलिए स्थित होता है. किसी प्रकारका आश्रम आदिका आश्रय न लेनेसे यह सूचित किया है कि सर्व प्रकार हेतुवाद और विरोध आदिका परिहार कर लिया है. अतः गृह, रथ और आसनादि भी वहां नहीं थे. इस तरह एक ही श्लोकमूं प्रमाण और प्रमेयका निर्णय किया, जिससे चतुर्मूर्ति और त्रिमूर्ति बताई. एक होनेसे, 'सङ्कर्षण' बैठनेसे, 'वासुदेव' प्रिय होनेसे, 'प्रद्युम्न' पति होनेसे, 'अनिरुद्ध' रूप हैं. यों चार स्वरूप कहे हैं. 'श्रीनिकेतन' पदसे विष्णु कहा है, दूसरे दो ब्रह्मा और शिव कहे. जिसके ६-७ दो विशेषणूंसे ज्ञात होता है ।।६।।

आभासार्थः इस प्रकार प्रमेय तथा प्रमाणरूप भगवान्का निरूपण कर, निम्न श्लोकमूं भगवान्के फलस्वरूप पांच स्वरूपूंका वर्णन करते हैं:

श्यामावदातं विरजं प्रशान्तारुणलोचनम्।
दोर्भिश्चतुर्भिः विदितं पीतकौशाम्बरेण च ।।७।।

श्लोकार्थः श्याम और वही तेजस्वी रजरहित विशेष शान्त और लाल नेत्रवाले चार भुजाओं और पीत रेशमी वस्त्रवाले प्रभुको देखा ।।७।।

व्याख्या:

१. 'श्यामावदातं' प्रभु श्याम होते हुए भी सूर्य मण्डल स्वहिरण्मय पुरुषके समान प्रकाश स्वरूप थे. ''**आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्**'' इस श्रुतिके अनुसार जैसे सूर्यका वर्ण तमसे परे प्रकाश स्वरूप है वैसे ही प्रभु भी थे. सूर्य मण्डलमूं जो कृष्णता दिखती है वह ''**तन्मध्ये यत् कृष्ण तदन्नस्य**'' इस श्रुत्यनुसार पार्थिवांश है, किञ्च हिरण्यमय पुरुषका भास्वर(प्रकाशमान) श्याम रूप है कि पार्थिव श्याम, इस स्वरूपके वर्णनसे यह सूचित किया है कि सारूप्य रूपा मुक्तिदाता यह स्वरूप है.

२. 'विरजं' रज(रजोगुण) रहित निर्मल स्वरूप थे. इससे यह सूचित किया कि व्यापि वैकुण्ठमूं रजोगुणका अभाव है अर्थात् इसी स्वरूपमूं वैकुण्ठस्थ

स्वरूपके भी दर्शन दिए. यह स्वरूप सालोक्य मुक्तिदाता है. अतः वहां उत्पत्ति करानेवाले रज तथा कर्मके संस्कारवाले महाभूत भी नहीं हैं, इससे यह बताया है सालोक्य मुक्ति हो जानेके अनन्तर फिर जन्म लेना नही पड़ता है इसलिए जिसको मुक्तिका उपदेश दे रहे हैं उसको ऐसे स्वरूपका दर्शन देकर बताते हैं कि वह मेरा ज्ञानियृाकेलिए फलरूप स्वरूप है एवं षोडश कलावाले मनोमय वेदरूप भी हैं.

३. 'प्रशान्तारुणलोचनम्' विशेष शान्त और लाल नेत्रवाले, इससे यह सूचित किया है कि आपके दो नेत्र ज्ञान शक्ति तथा क्रिया शक्ति रूप हैं, दोनृा नेत्र साधनृाके साहित्य रूप हैं अर्थात् ज्ञान एवं क्रिया(क्रम) दो ही साधन हैं यृा दिखाया है. इससे सार्ष्टि मुक्तिकी प्राप्ति कही है.

समान ऐश्वर्य दिखा कर यह बताया है कि यहां ही सामीप्य है मुक्ति है क्यृाकि ज्ञान और क्रिया शक्ति सम्पन्न पुरुष ही भगवान्के समीप रह सकता है. इससे यह भी बताया है कि यहां वेदार्थ भी इतना ही प्रसिद्ध है.

४. 'दोर्भिश्चतुर्भिः विदितम्' वाम पार्श्वकी दो भुजा, दक्षिण पार्श्वकी भुजाएं मिला कर चार भुजा कही गई हैं. ऐसे चतुर्भुज स्वरूपसे दर्शन दे रहृा हैं. इस स्वरूपसे यह सूचित किया कि सायुज्य मुक्तिदाता मैं हूं और 'दोर्भिः चतुर्भिः' और 'विदितम्' इन तीन पदृाके साथमृा कहनेका भावार्थ यह है कि क्रिया(कर्म) ज्ञान और भक्तिसे 'सायुज्य' मुक्तिकी प्राप्ति होती है. 'दोर्भिः' पदसे क्रिया सूचित किया है. 'चतुर्भिः' पदसे पादसेवनादि भक्ति कही और 'विदितं' विशेषेण 'हितं' जिसका भावार्थ है सर्व प्रकारके अज्ञानको नष्ट करनेवाला ज्ञान व कालका भी निवर्तक ज्ञान यदि कर्म, ज्ञान एवं भक्ति तीनृाका सूचन न करना होता तो केवल 'चतुर्भुज' ही कहते.

५. 'पीतकौशाम्बरेण' पति रेशमी वस्त्रसे विदित है,(जाना जाता है). इससे बताया है ब्रह्मभान होनेमृा भी 'ज्ञान' अङ्ग है. इसलिए इस प्रकार विशेषण दिया है. 'पति' पदसे बताया है कि आपमृा अहंता, ममताका अभाव है. जिसका भावार्थ है कि जो पुरुष अहंता ममताका त्याग करता है उसको सायुज्य प्राप्ति होती है. 'कौशेय' वस्त्रसे यह शिक्षा दी है कि यह वस्त्र कुश संबंधी है. जिससे यम नियमका सूचन किया है. यम नियमादिका पालन करोगे तो सायुज्य पाओगे. 'अम्बर' शब्दसे यह शिक्षा दी है कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन

तीनॄ अवस्थाओॄके अतिक्रमण करनेपर सायुज्य प्राप्ति होगी. उपर्युक्त तीन अवस्थाओॄके परित्यागसे अम्बर(आकाश)(ब्रह्मा)वत् निर्लेपता आती है, वैराग्य, तप और समाधि ये तीन ही ब्रह्मभाव होनेमॄ ज्ञानके साधन हैं. 'च' पदसे यह सूचित किया है कि जो फल नहीं कहे हैं वे भी भगवान् हैं क्यॄकि सर्व फलरूप भगवान् हैं ।।७।।

आभासार्थ: इस प्रकार फलरूप भगवान्का निरूपण कर, अब साधन रूप भगवान् चर्तुरूप हैं जिसका वर्णन निम्न श्लोकमॄ करते हैं:

वाम ऊरावधिश्रित्य दक्षिणाङ्घ्रि–सरोरुहम् ।
अपाश्रिताभ्रकाश्वत्थम् अकृशं त्यक्तपिप्पलम् ।।८।।

श्लोकार्थ: वाम उरुपर दक्षिण चरण कमलको धरकर छोटे(बाल) पीपलका आश्रय कर विराजमान, अकृश(पूर्ण ज्ञान स्वरूप) जिसने कर्म फल त्याग कर दिया है. ऐसे प्रभुके दर्शन किये ।।८ ।।

व्याख्या: जिस प्रभुने अपना दक्षिण चरण, कमल अपनी वाम ऊरूपर धरा है वैसे प्रभु स्वरूपके दर्शन किए, इस प्रकारके स्वरूपसे यह सूचन किया है कि मेरी प्राप्तिका साधन भक्ति ही है. भगवान् स्वरूप जैसे सुन्दर परम भगवदीयाॄमॄ कमल सुन्दर(कोमल) तथा सर्वको तृप्ति(आनन्द) देनेवाला भगवद्भक्ति मार्ग मैंने स्थापित किया है, चरणको 'सरोरुहम्' विशेषण देकर यह सूचित किया है कि वह भक्ति प्रेमसे ही प्रकट होती है. 'दक्षिण' पदसे भक्ति मार्गमॄ तीन विशेषण(गुण) सूचित किए हैं ६ 'चातुर्यं दक्षिणो देश: पाषण्डाभावः', १.चतुराई २. दक्षिण देश और ३.पाषण्डका अभाव, ये तीन गुण हैं. 'ऊरु' पदसे प्रकट किया है कि भक्त, कुटुम्बसहित भक्ति परायण होता है तथा उनके पुत्र स्त्री आदिमॄ भी भक्ति होती है जिससे पाकादि सेवामॄ सब उपयोगी होते हैं. अतः वैष्णवाॄसे संस्कृत(संस्कार प्राप्त) भक्तिमार्ग साधन होता है. याॄ भक्तिका साधनपन निरूपण कर अब कर्मोंका साधनत्व निरूपण करते हैं. 'अपाश्रिता–भ्रकाश्वत्थम्' इति छायार्थ जिसने छोटे(कोमल) पीपलका आश्रय लिया है. 'अर्भक'पदका आशय बताते हैं कि वह पीपल 'बालकाॄको सुख देनेवाला है अथवा छोटा होनेसे अभी तक कोमल है. इस वृक्षकी लकड़ीसे अरणियां बनाई जाती हैं. वे ही अरणियां सर्व कर्मोंके साधनरूप हैं. उनके बिना कर्म पूरा नहीं होता है. 'अपाश्रय' पदका भावार्थ है कि साधनरूपसे कर्मोंकी अपेक्षा है, किन्तु

फलकी अपेक्षा नहीं है. इस लीलासे यह स्पष्ट किया है कि 'कर्ममृ बालकृका अधिकार है.

'अकृशं' विशेषणसे भगवान्का पूर्णत्व बताया है तथा वे ज्ञानरूप हैं. इसी तरह भगवत्स्वरूप कहनेका आशय यह है कि दूसरे अपूर्ण होनेसे परिच्छेद वाले हैं इसलिए भगवत्प्राप्तिका पूर्ण सत्य ज्ञान ही साधन है, न कि शारीरिक भाष्यमृ कहे हुए मायावादादि खंड ब्रह्मज्ञान साधन है. ज्ञानियृसे भक्त दुर्बल हैं. इस शंकाका निवारण भगवान्ने भक्तृको अपनेमृ सायुज्य मुक्ति दे के किया है जिसमृ वे निर्बल नहीं किन्तु सबसे सबल हैं यृ सिद्ध किया है, इसके दूसरे वैदिक धर्म उनमृ(भगवान्मृ तथा भगवदीयृमृ) नहीं है यह भी सिद्ध किया है.

जैसे अक्षरब्रह्ममृ उत्पति, कार्य तथा तपस्या आदि नहीं हैं, वैसे भगवान्मृ भी नहीं हैं कारण कि आप ब्रह्म होनेसे अक्षरके समान भी हैं.

'अकृशं' पदमृ 'अस भुवि' धातु, 'डुकृञ् करणे' धातु एवम् 'शम उपशमे' धातु इन तीनृ धातुओृके प्रथम अक्षर लिए हैं, जिससे प्रपंच, कर्म और ज्ञान अथवा ज्ञानके साधन कहे हैं. इससे समझा जाता है कि साधन सहित ज्ञान कहा है. 'त्यक्तपिप्पलम्' त्यागा है, पिप्पल(कर्म फल) जिसने ऐसे प्रभुके दर्शन किए, इससे वैराग्य प्रदर्शित किया है.

'पिप्पलं, पिप्पान् लाति इति पिप्पलम्' जो कर्मोंको करावे वह पिप्पल है, 'पिपः पान्ति इति पिप्पाः' कालकी रक्षा करनेवाले(कर्म), 'पिबति इति पिप्पलम्' सबको पी जाता है वह काल, यह काल सर्वको भक्षण करता है इस कालके रक्षक कर्म हैं, कारण कि वे समय-समयपर किए जाते हैं. कर्म फल प्राप्तिकेलिए किए जाते हैं अतः कहा गया है कि कर्म निष्काम होकर करने चाहिए अर्थात् कर्मफलकी इच्छा मात्र भी नहीं करनी चाहिए जिससे वैराग्य दृढ हो जाय.

वैराग्यानन्तर भी लौकिक, दैहिक एवं भक्तिमार्गके सेवादि कर्म करनेका निषेध नहीं है, इसी तरह नित्य कर्म(सन्ध्या वन्दनादि) करनेका भी निषेध नहीं है. कारण कि वे फल देकर चित्तको लोभ द्वारा आकर्षित नहीं करते हैं. नैमित्तिक कर्म किये वा न किए जाएं स्वेच्छा है, शेष काम्य कर्म तो नहीं करने चाहिए.

गीतामृ यज्ञ, दान, तपरूप कर्मका त्याग नहीं करना चाहिए ऐसी आज्ञा है. ये सर्व वृद्धावस्थामृ भी किए जा सकते हैं अतः नित्य, सदा करनेकी अनुमति

दी गई है. किन्तु जब तक सुख पूर्वक बन सके तब तक अवश्य करने चाहिए. इसी तरह षोडशकलावाले परमात्माके दर्शन किए ।।८।।

१.अर्भक 'बालक' पदका गूढ़ अभिप्राय यह है कि कर्मरूप साधन बालकॄ(अज्ञॄ)के लिए है. २. ज्ञान एवं भक्तिके अधिकारी.

प्रमेये साधने चैव चतुर्मूर्तिः फले पुनः।

पञ्चात्मकस्त्रिमूर्तिस्तु प्रमाण इति निश्चयः।।कारि.१।।

कारिकार्थः प्रमेय तथा साधनमॄ चतुर्मूति, फलमॄ पांच रूपवाले और प्रमाणमॄ तीन रूपवाले भगवान् हैं इस प्रकार ६ कलावाले हैं यॄ निश्चय है.

आभासार्थः जब मैंने(उद्धवने) भगवान्के दर्शन किये तब उस समय मैत्रेयजी भी आ गए क्यॄकि विदुरके उद्धारार्थ उनको(मैत्रेयको) भगवान् लाए थे, इससे मैत्रेयके कहे हुए भगवान् भी मुख्य हैं, मैत्रेय ब्रह्मा जैसे हैं कारण कि भगवान्ने जैसे ब्रह्माको भागवत सुनाया वैसे ही यहां मैत्रेय भी भगवान्से सुनॄगे, अतः ब्रह्मा, उद्धव और मैत्रेय तीनॄ इस विषयमॄ समान स्थितिवाले हैं, अतः शुकका कहा हुआ न कहकर मैत्रेयने जो कहा वही कहा. एकके ही मध्यमॄ रहजानेसे दो लीलाओंसे ही विदुर कृतार्थ हो गया, इसी तरह उद्धव प्रोक्त भागवतसे कल्पान्तरमॄ यॄ होगा. ब्रह्मा, उद्धव और मैत्रेय तीनॄ सूक्ष्म लीला मात्र श्रवणसे कृतार्थ हो गए हैं. 'परमो स्थितं' इस वाक्यसे जाना जाता है कि वह लीला 'आश्रय रूपाथी' उस(मैत्रेय)का आना भी भगवदिच्छासे हुआ है. प्रथम भी वह वेद व्यासके समान थे तथा शुक और नारदके समान भी हैं अतः ब्रह्माकी परम्परामॄ जितने सर्व भागवत वक्ता हुए हैं. उतना एक ही मैत्रेय है, इससे दोनॄ परम्पराओंमॄ किञ्चित्मात्र भी विलक्षणता(भेद) नहीं है, ऐसे मैत्रेय वहां आए यॄ निम्न श्लोकमॄ कहते हैं:

तस्मिन् महाभागवतो द्वैपायनसुहृत् सखा।

लोकाननुचरन् सिद्धः आससाद यदृच्छया।।९।।

श्लोकार्थः द्वैपायन(व्यास)का हितकारी एवं निम्न, महान् भगवदीय मैत्रेयजी लोकॄमॄ घूमते हुए अकस्मात् स्वेच्छासे वहां आ गए।।९।।

व्याख्याः उस देशमॄ और उसी समय मैत्रेयजी आ पहुंचे, वे(मैत्रेय) परम भगवदीय थे यॄ कहनेसे यह सूचित किया जाता है कि उनमॄ भगवद्भक्तॄको भी कृतार्थ करनेका सामर्थ्य था.

'द्वैपायन' इस नामसे बताया है कि भागवतको रचनेकेलिए ही यह

[1]भगवदवतार पुष्टि(अनुग्रह)से हुआ है, यह(मैत्रेय) भी वैसे ही हैं, मैत्रेय पाराशरजीके शिष्य होनेके नाते उनका(व्यासजीको) हित करनेवाले और मित्र हैं. इससे यह भी सूचित किया है कि इसने परम्परासे व्यासकी तरह पुराण पाराशरजीसे सीखे हैं न कि भागवत व्यासने भी नारदसे ही [2]भागवत जाना मैत्रेय पुराणकी कथा भगवदाज्ञासे करने लगे. अतः अधिकारी व्यासजीके साथ विरोध होनेका कोई कारण नहीं है और शुकदेवजीको भी मैत्रेयने उपदेश किया है जिससे भी विरोधका अभाव और मित्रताका भाव होना उचित ही है, मैत्रेय लोकाटन करता वहां पहुंचा इससे वह शुकवत् सिद्ध है. अचानक स्वेच्छतासे आ गए या कहकर नारदकी समानता दिखाई है, नारद भी रटन करते रहते हैं, अचानक स्वेच्छासे कहीं भी आ जाते हैं ।।९।।

१.ज्ञानावतार व्यासजी. २.भगवान्की लीलाआका वर्णन करो यह ज्ञान प्राप्त किया अनन्तर समाधिमा अनुभव कर लीलाआका वर्णन किया.

आभासार्थः इसी प्रकार भगवान् सबकी पूरी तरह स्थितिका विधान कर पूर्वावस्थाको छुडानेकेलिए जो असाधारण कारण कृपा है वह(कृपा) स्वयं ही करने लगे, जिसका वर्णन निम्न श्लोकमा कहते हैं:

तस्याऽनुरक्तस्य मुनेर् मुकुन्दः प्रकृष्टमोदानतकन्धरस्य ।
आशृण्वतो माम् अनुरागहास–समीक्षया विश्रमयन्नुवाच ।।१०।।

श्लोकार्थः विशेष आनन्दसे नम्र गरदनवाले उस प्रेमपूर्ण मुनिके सुनते हुए प्रेम सहित एवं हासयुक्त दृष्टिसे मेरे श्रमका निवारण करते हुए मुकुन्द मुरारी मुझे कहने लगे ।।१० ।।

गोप्या दयोपदेशश्च उपदेशो न हि द्वयोः,
भिन्नप्रकारयोर् जात्या स्वरूपेण गुणेन च।।कारि.१।।

कारिकार्थः दया और उपदेश दोनाको गुप्त रखना चाहिए. अतः जाति स्वरूप और गुणसे जो भिन्न प्रकारके हा उन दोनाको साथमा उपदेश नहीं देना चाहिए.

व्याख्याः उपर्युक्त शंकाका निवारण इस श्लोक द्वारा करते हैं. यहां जो उपदेश दिया है वह मुख्यतः उद्धवको ही दिया है. यद्यपि (हालांकि) वहां मैत्रेयभी थे किन्तु वे भक्तिसे कृतार्थ हो गए थे इसलिए 'अनुरक्तस्थ' विशेषणसे उनकी प्रेम निमग्नता कही है. और 'मुनि' विशेषणसे यह सूचित किया है वह जो कुछ भी

उपदेश सुनूगे तो भी दूसरेको नहीं बताएंगे यह उपदेश प्रभु कृपा कर, दे रहे हैं इसलिए यहां आपका नाम मुकुन्द दिया है, जैसे आप स्वेच्छासे कृपा कर लीलार्थ जगत्की रचना करते हैं वैसे ही आप सबका मोक्ष करनेवाले हैं.

यदि यॄ है तो दोनॄ(विदुर और मैत्रेय)को मुख्य श्रोता क्यॄ नहीं किया. इसके उत्तरमॄ कहते हैं 'प्रकृष्टमोदानत-कन्धरस्य', अतिशय आनन्दके कारण जिसकी ग्रीवा नभी हुई है जिससे नयनॄसे प्रेमाश्रुआॄकी वर्षा करते हुए चरणॄमॄ दृष्टिवाले थे अतः प्रेमरसमॄ मग्न हो जानेसे वे श्रवण नहीं कर सकते थे जिसका अन्य कारण था कि वह इस उपदेशका अब तक साक्षात् अधिकारी नहीं हुए थे. भक्तिमॄ ही कृतकृत्य हो गए थे अतः उसके सुनते हुए मुझे उद्देश कर उपदेश दिया, किन्तु उपदेश स्वस्थ चित्तमॄ ही स्थिर होता है. देश कालकी विपरीतता तथा परिश्रम होनेसे स्वस्थ चित्तता रह नहीं सकती है. मेरी दशा ऐसी ही थी, किञ्च पुष्टिस्थ, प्रभु अपने सेवकॄपर कृपा करते हैं जिससे स्वयं साधन बन जाते हैं. इसलिए यहां भी आपने प्रथम अनुराग तथा हास्य संयुक्त दृष्टिसे मुझे सर्वप्रकार निर्भय कर मेरी थकावट दूर की एवं स्वस्थ चित्त बना दिया जिससे हास्य द्वारा उत्पन्न मोहसे देखते हुए भी अनुसंधान न रहा तो भी उपदेश चित्तमॄ स्थिर हो गया ।।१०।।

आभासार्थः प्रथम भगवान्ने उद्धवको कहा था कि 'तीन गति'(फलॄ) को उल्लंघन कर केवल मुझे प्राप्त करॄगे यह कहना सर्व प्रकार उद्धवकेलिए हितकर जैसा था, वह(उद्धव) भगवान्को ही प्राप्त करना चाहता था और सदैव पासमॄ रहनेकी इच्छावाला था. साधन करनेकी भी उसकी(उद्धवकी) इच्छा नहीं थी, ऐसे उद्धवको बदरिकाश्रम भेजना अत्यन्त इच्छा विरुद्ध था. यह इच्छा प्रकट करते हैं कि आप विचार न करॄ आपको अन्य फल दूंगा. इसके देनेपर वह और यह अन्यकेलिए होगा, जैसे मैं करूंगा, उद्धव भी वैसा ही करेगा, इस अभिप्रायसे निम्न श्लोक कहते हैं:

श्रीभगवान् उवाच

वेदाऽहम् अन्तर्मनसीप्सितं ते ददामि यत्तद् दुरवापम् अन्यैः ।
सत्रे पुरा विश्वसृजां वसूनां मत्सिद्धिकामेन वसो त्वयेष्टः ।।११।।

श्लोकार्थः श्रीभगवान् उद्धवको कहने लगे, कि जो तेरे मनमॄ इच्छा है उसको मैं जानता हूं, दूसरॄको जो मिलना कठिन है वह तुम्हॄ देता हूं. हे वसु ! विश्वकी रचना करनेवाले वासुआॄके यज्ञमॄ मुझे प्राप्त करनेकी इच्छासे तुमने मेरा

सप्रेम यजन किया था ।।११ ।।

व्याख्या: तुमने जो प्राप्त करनेकी जो इच्छा मनमॄ की थी वह मैं जानता हूं, यह वाक्य 'अनुवादक' है, जिसके कहनेका भावार्थ है कि जो तुम फल चाहते हो वह ही दूंगा, इससे यह सिद्ध होता है कि फल प्राप्तिका पहले ही भगवान्ने आश्वासन दे दिया है, जो यों नहीं होवे तो फिर काकतालीय-न्यायकी तरह अचानक फल मिला, ऐसी शंका होने लगे और नहीं तो अभिप्रायकी शंका होवे कि ऐसा फल क्यॄ और किसलिए दिया और वह फल भगवदात्मक है जिसे लोक तथा वेदसे अदेय होनेपर कैसे द्रॄगे? इसे शंका निवारणार्थ कहते हैं कि 'ददामि यत्तदिति' जो तुमने मनमॄ चाहा है वह मैं देता हूं(दूंगा) जो तुमने चाहा है और मैं दूंगा वह असाधारण है, अतः कहते हैं कि 'दुरवापम् अन्यैः' तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई इसको पा नहीं सकता है, वह जो तुम्हारी कामना है वह तुम भूल गए हो मैं उसको याद दिलाता हूं. 'सत्रे पुरा' इति पूर्वकालमॄ यज्ञमॄ तुमने यह कामना की थी **''विश्वसृजः प्रथमाः सत्रम् आसत''** इति श्रुतौ, श्रुतिमॄ यॄ कहा है कि विश्व रचनेवालॄने पहले सहस्रवर्ष पर्यन्त सत्र किया था उनके मध्यमॄ वसु भी बैठे थे उन वसुओमॄ तुम एक थे जिसको मेरी प्राप्तिकी उत्कट इच्छा थी, दूसरे किसीको नहीं. **''एतेन वै विश्वसृजः इदं विश्वम् असृजन्त''** **''ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां यन्ति''**. अर्थ: इससे(सत्र करनेसे) विश्व रचकॄने निश्चय इस विश्वकी रचना की और ब्रह्माका सायुज्य एवं उसकी सलोकता प्राप्त की तथा इससे विश्व रचनेकी सामर्थ्य प्राप्त कर ली, विश्व रचनाके अनन्तर ब्रह्म सायुज्यको प्राप्त होते हैं. यह फल सर्वको प्राप्त हुआ. सत्रका विश्व रचनेकी सामर्थ्यरूप फल विशेष अधिकारियॄ को मिला और सुवर्णमय पक्षीरूप ब्रह्माकी उत्पत्ति तो यज्ञके स्वतः सामर्थ्यसे हुई, तब वे विश्वकी रचना कर ब्रह्म सायुज्यको प्राप्त हुए, तुमने तो दोनॄ की(विश्व रचना और ब्रह्म सायुज्यकी इच्छा नहीं की), किन्तु केवल सत्रके अनुरोध (आग्रह)से सत्रमॄ प्रवृत्ति की. किञ्च कामना तो केवल मेरी प्राप्तिकी ही थी. वह कामना यह थी कि पुरूषोत्तम मेरा हो या मैं पुरुषोत्तमका हो जाऊं वह तो यज्ञ करनेसे दुर्लभ है. अतः यज्ञ जिन कामनाओॄको दे सकता है उनमॄ यह कामना नहीं थी अतः वह न देकर नियत फल ही यज्ञने दिया, जो तुम चाहते थे उसके देनेमॄ असमर्थ होनेसे तुम्हॄ यादव कुलमॄ पैदा कर मेरी सेवा कराई अतः मैंने सेवाका फल बदरिकाश्रममॄ रहनेसे जैसे पुरुषोत्तम प्राप्ति रूप फल सिद्ध हो(मिले) वह उपाय

बताया, यज्ञका फल तो नहीं दिया वह(जो देना है) अब दूंगा. वसो! यह सम्बोधन कृपा कर इस अर्थके अनुसंधानकेलिए दिया है. फलार्थ ही तुमने यज्ञ किया उस यज्ञसे तुमने मेरा ही पूजन किया और मुझे ही चाहा था।।११।।

आभासार्थः तो क्या देना चाहिए? कैसे देना चाहिए? इस आकांक्षापर निम्न श्लोक कहते हैं:

स एष भावश्चरमो भवानाम् आसादितस् ते मदनुग्रहो यत् ।
यद् मां नृलोकान् रह उत्सृजन्तं दिष्ट्या ददृश्वान् विशदानुवृत्त्या ।।१२।।

श्लोकार्थः तुम्हारे जन्माॅमृ यह तुम्हारा जन्म अन्तिम है. अर्थात् इसके अनन्तर तुम नहीं जन्मे क्याॅकि इस जन्मसे तुम्हृ मेरी कृपा सम्पादन करती है, और जब एकान्तमृ नृलोकाॅको छोडते थे उस समय भावसे मेरे दर्शन कर लिए।।१२।।

व्याख्याः वह यह तुम्हारा जन्माॅमृ अन्तिम जन्म है अतः जो अब फल दूंगा तो आगे तो तुम्हारा दूसरा जन्म नहीं होगा तो फल कैसे लोगे? याॅ कहनेका क्या आशय है? इसपर कहते हैं कि जब तक अन्तिम जन्ममृ मेरा अनुग्रह प्राप्त किया है तो फल भी अवश्य मिलना है. वह फल भी कैसा? यदि अन्तिम जन्म न होवे तो भी उसको अन्तिम बना दे. किन्तु यह अनुग्रह केवल योग्यता ही प्राप्त कराने वाला नहीं है बल्कि वह अनुग्रह फलमुख(फलप्रद) है. अतः सर्व नृलोकाॅ (जन्माॅको) एकान्तमृ स्थित हो त्याग कर उच्चताको जानेके समय मेरे दर्शन पाए ।।१२।।

आभासार्थः अन्तिम समयमृ याॅ मेरे दर्शन होनेका कारण यह है कि तुमने मेरी शुद्ध भावसे सेवा की है, वह दर्शनसे सेवारूप साधनसे होनेके कारण स्थिर है न कि काकतालीय न्यायवत् अचानक मात्र है, किन्तु 'उत्सृजन्तं' पदके यहां दो अर्थ इच्छित हैं, एक शरीर 'छोडनेके समय' 'दूसरा 'उंचेसे सृष्टि करते हुए'. इसलिए यज्ञका प्रयोजन आदि मेरा भाव(पुरुषोत्तम स्थिति) दोनाॅ एक रूप हुए हैं, मुझमृ(मेरेमृ) स्थिति होनेपर भी ये दोनाॅ ही कर्त्तव्य हैं, गुप्तरूपसे स्थित हो विश्वकी उत्पत्ति करनी और सर्व लोक परित्याग तुम्हारा यह अन्तिम जन्म है, इससे सर्वलोक परित्याग तो सिद्ध ही है. मेरे भावमृ स्थिति रखकर जगत्की उत्पत्ति करना शेष है, उसमृ मेरे सायुज्य हो जानेपर जगत्की उत्पत्ति अन्य प्रकारसे सिद्ध होगी, क्याॅकि श्रुतिमृ एकीभाव कहा है जैसे ''**सर्वासाम् अपां समुद्र एकायनम्**'' सर्व जलाॅका समुद्र ही एक स्थान है अर्थात् सर्व जल समुद्रमृ मिल

जानेपर समुद्र बन जाते हैं, तब जो कार्य होता है वह समुद्र ही करता है न कि नदी. वैसे ही ब्रह्मभाव होनेपर ''**जगद्व्यापारवर्जम्**'' इस न्यायानुसार जीवमृ जगत्कर्तृत्व नहीं है. यृ कहना असत्य ठहरेगा, अतः किसीका भी विरोध न होवे वैसे मेरी स्थितिवान् होते हुए भी जैसे जगत्की उत्पत्ति कर सको वह प्रकार इस श्लोकमृ बताऊंगा, ब्रह्माको भी यही कहा था, उसके अर्थके ज्ञानसे जैसे ब्रह्माने मेरा रूप होकर मेरा रूप जगत् बनाया है, क्रियासे उसका वैसा अधिकार हो ऐसे तुम भी इस ज्ञानसे मद्रूप होकर मद्रूप जगत् ज्ञानसे करोगे, इस आशयसे निम्न श्लोकमृ वह ज्ञान बताते हैं:

पुरा मया प्रोक्तम् अजाय नाभ्ये पद्मे निषण्णाय मम आदिसर्गे ।
ज्ञानं परं मन् महिमावभासं यत् सूरयो भागवतं वदन्ति ।।१३।।

श्लोकार्थ: आदि सृष्टि करनेके समय, मेरी नाभिसे उद्भूत कमलमृ स्थित अज(ब्रह्मा)को, मेरी महिमा जिसमृ प्रकाशित हो रही है और जिसको सूरि(कवि विद्वान्) भागवत कहते हैं. उस(भागवत)के द्वारा वह उत्तम ज्ञान दिया. जिससे वह(ब्रह्मा) सृष्टि रच सका ।।१३ ।।

व्याख्या: यह ज्ञान जो अब कहूंगा वह मेरी नाभिसे उत्पन्न कमलपर बैठे हुए अज(ब्रह्मा)को आदि सृष्टिके समय कहा था क्यृकि उस समयमृ कृतयुग था जिससे सर्व ब्रह्म वेत्ता होनेसे ब्रह्मरूप थे, जिस कारणसे उस युगके ब्रह्माने मेरी शिक्षासे सर्व पुरुषोत्तमरूप किए थे अतः सर्व विवेकमृ निपुण थे. यृ भगवान्के वाक्य हैं, 'नाभ्यम्' पदका अर्थ है जो नाभिसे उत्पन्न हुआ, 'अज' पदसे यह सूचित किया है कि ब्रह्मा योनि द्वारा उत्पन्न न होनेसे अजन्मा कहा जाता है. देहसे सम्बन्ध न होनेसे अथवा सम्बन्ध होनेसे वह(ब्रह्मा) समष्टि व्यष्टि दोनृ रूप नहीं है. उसका(ब्रह्माका) क्या रूप है वह आगे कहा जाएगा.

रजोगुणरूप भगवान्की यह लीला है, इस वाक्यानुसार ब्रह्मा 'अज' है. ब्रह्माको कौन सा ज्ञान दिया इसके जाननेकी इच्छा होनेपर, वह उत्तम ज्ञान उत्तरार्धमृ कहते हैं. 'उत्तम' शब्दसे यह बताया है कि यह ज्ञान जीवके सम्बन्ध वाला नहीं है तो यह ज्ञान उपनिषदृमृ कहा हुआ वा आध्यात्मरूप होगा? तो कहते हैं कि नहीं, उससे भी उत्कृष्ट है यृ बतानेकेलिए 'मन्महिमावभासं' विशेषण दिया है. जिस ज्ञानमृ मेरी पुरषोत्तम स्वरूपकी महिमा प्रकाशित हो रही है. महात्म्यका प्रतिपादन करनेवाले गुण, कर्म, शक्तियां और अलौकिक सामर्थ्य,

यह सब जिसमृ प्रकाशित हो रहा है वह ज्ञान 'भागवत' है. यॄ लोकमृ प्रसिद्ध है. सूरि(विद्वान्) यॄ कहते है अतः इस शास्त्रमृ भी वादियॄका नाम मात्र दिखावटी वाद है ।।१३।।

आभासार्थ: वह ज्ञान मैं(भगवान्) बताऊंगा, यॄ तो प्रभुने कहा नहीं केवल वस्तु(विषय)का निर्देश ही किया, बिना पूछे किसीको कहना नहीं चाहिए यह शास्त्रकी मर्यादा है, विषय निर्देशसे ही उद्धवको पूछनेकेलिए इंगित कर दिया है अतः जब अधिकारी पूछे तब कहना. भगवान्की ऐसी इच्छा वा आज्ञा जानकर उद्धव पूछने लगा यॄ निम्न श्लोक द्वारा कहते हैं:

इत्यादृतोक्तः परमस्य पुंसः प्रतिक्षणाऽनुग्रहभाजनोऽहम् ।
स्नेहोत्थरोमा स्खलिताक्षरस् तं मुञ्चन् शुचः प्राञ्जलिराबभाषे ।।१४।।

श्लोकार्थ: परम पुरुषका प्रतिक्षण अनुग्रह पात्रमृ इस प्रकार आदर किया हुआ और पूछनेकेलिए कहा हुआ तथा स्नेहसे जिसके रोमांच खडे हो गए हैं, बोलते हुए अक्षर भी पूरे नहीं निकलते, ऐसा मैं अश्रुआॄको गिराता हुआ हाथ जोड नम्रतापूर्वक उन(भगवान्)को कहने लगा ।।१४।।

व्याख्या: हे वसो! इस संबोधनसे पूर्वकृत सेवाका स्मरण कर मेरा आदर किया तथा वस्तु(विषय)का निर्देश कर आज्ञा दी कि तुझे पूछना चाहिए, अन्यथा(बिना पूछे) यदि उत्तर दिया जावे तो केवल वह वाणीके व्यय समान होनेसे दुःखरूप होता है, फिर भक्तका प्रश्न करना ही न बने, आज्ञा मिलनेपर सर्वथा आज्ञाका पालन करना ही चाहिए अर्थात् प्रश्न करना ही चाहिए. इसलिए 'उक्तः' कहा है. 'आदर' इसलिए किया कि वह स्फूर्ति हो कि क्या पूछूं इस तरह भगवान्ने प्रमाण बल तथा प्रमेय बल दोनॄ दिए हैं, इनके देनेका फल क्या हुआ? इसपर कहता है कि "**परमस्य पुंसः प्रतिक्षणानुग्रहभाजनोऽहं जातः**" परम पुरुषका प्रतिक्षण कृपा पात्र मैं बना. इससे पूर्व, कालके आधीन था अब पुरुषोत्तमका हो गया हूं, काल भी तो 'पर' है, इसपर 'पुंसः' पद देकर स्पष्ट करते है कि 'पर' शब्द ज्ञानसे अक्षरभावको जताता है अर्थात् 'काल' अक्षर, सम वा अक्षररूप है और आप उससे उत्तम 'पुरुषोत्तम' हैं. मैं केवल यादव होनेसे संबन्धी नहीं हूं किन्तु प्रतिक्षण कृपा पात्र हूं. भगवान् जब भक्तको देखते है तब उनके हृदय रूपी उदधिमें अनुग्रहरूप तरंग उछलने लगती है. उनका पात्र मैं ही हुआ हूं. अचेतन समुद्रमृ तो तरंग फिर लीन हो जाती है किन्तु भगवत् हृदय चेतन होनेसे उसमृ

अनुग्रह तरंग लीन नहीं होती है, इतना ही नहीं प्रतिक्षण उच्छलित होती रहती है, जिससे वह अनुग्रह मत्संबन्धी ही हुआ जब यो हुआ तब भगवदनुग्रह रूप कारणका कार्य (परिणाम-भक्तिरस) मुझे प्राप्त हुआ. क्या प्राप्त हुआ? इसपर कहता है कि 'स्नेहोत्थरोमा' अन्तःकरण भक्तिरससे पूर्ण हो गया, जिससे (स्नेहसे) सर्व रोमांच (गूगटे खड़े हो गए). समग्र शरीरके प्रत्येक अंगमॄ जो रोम हैं वे देवता हैं. वे भगवान्के प्रसन्न होनेपर स्वयं भी सन्तुष्ट होकर खड़ हो जाते हैं कि जिसको हमारे प्रभुने प्रेमदान देकर सुखी किया है उसको हम भी सुख देवॄ. ऐसी रसपूर्ण अवस्थामॄ पद, वाक्य कहना तो दूर रहा किन्तु अक्षर भी स्पष्ट नहीं कह सकता हूं, इससे कहनेकी जो मर्यादा है वह शान्त हो गई अर्थात् बोलनेका प्रयत्न करना छोड़ दिया फिर नेत्रॄसे आंसू बहाते हुए हाथ जोड़ प्रार्थना करने लगा. पहले जो साधन सहित ज्ञान था वह निवृत्त हो गया, प्रार्थना करते समय भी जैसे जैसे मुखसे अक्षर निकलने लगे, जिससे गद्गद् वाणीसे प्रार्थना की ।।१४।।

आभासार्थः उद्धव अपना इच्छित पानेकेलिए प्रार्थना करता है और अन्य फलॄकेलिए निषेध करता है कि वे मुझे नहीं चाहिए जिनकेलिए तीन श्लोकॄसे हेतु भी बताता है. उद्धवके मनमॄ यह विचार हुआ कि भगवान् कहते हैं कि मैंने ब्रह्माको भागवत(ज्ञान) दिया, जिससे वह सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा बना, कदाचित् मुझे भी यह ज्ञान देकर अन्य ब्रह्माण्डमॄ ब्रह्मा बनाएंगे यॄ मुझे भासता है, अतः उसकेलिए निषेध करता है:

को न्वीश ते पादसरोजभाजां सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह ।
तथापि नाऽहं प्रवृणोमि भूमन् भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः ।।१५।।

श्लोकार्थः हे ईश ! आपके चरण कमलके सेवकॄको चारॄ पुरुषार्थोंमॄसे कौनसा पुरुषार्थ मिलना दुर्लभ है, कोई दुर्लभ नहीं सभी सुलभ हैं. तो भी हे भूमन ! आपके चरणकमलॄकी सेवाका अभिलाषी मैं सेवाके सिवाय अन्य कोई पुरुषार्थ नहीं चाहता हूं ।।१५ ।।

व्याख्याः ईश! यह सम्बोधन आप सर्व प्रकारकी सामर्थ्यवाले हैं यह बतानेकेलिए दिया है. आपके चरण कमलके सेवकॄको आपके संबंधवाले चारॄ पुरुषार्थोंमॄसे कौन सा पुरुषार्थ दुर्लभ है, कोई दुर्लभ नहीं है. पृथ्वी आपके चरणरूप है ब्रह्माण्ड भी पृथ्वीरूप है, उसको प्राप्तकर दूधकी तरह उसका भोग किया जाता है. जैसे माता दूध पिलाकर पोषण करती है वैसे ही पृथ्वी माता सर्व

प्रकारका भोज्य पदार्थ देकर सर्व प्रकारके भोग भोगाकर पोषण करती है, उसमॄ भी आपके चरणॄको सरोरुह कहकर यह सूचित किया है कि 'सरोरुह' अर्थात् जलसे पैदा हुआ कमल अतः वह भी फलरूप है. इससे यह भी बताया है कि जो कुछ ब्रह्माण्डमॄ स्थिति है वह फल है क्यॄकि पृथ्वी आपका चरण है, ब्रह्माण्ड भी पृथिव्यात्मक होनेसे चरण ही तो फलरूप है अतः जो ब्रह्माण्डमॄ स्थित है वह फल रूपी कहा है. भजनसे ताप, क्लेशका नाश तो स्वतः सिद्ध ही है.

इस लोकमॄ तीर्थके एक देशमॄ मुक्ति होना प्रसिद्ध ही है एवं लक्ष्मीके देशमॄ रहनेसे धन प्राप्त होना प्रसिद्ध है. सेवासे काम(इच्छित फल)की प्राप्ति होना प्रसिद्ध है. शास्त्रमॄ भजनका विधान होनेसे धर्म सिद्ध ही है. अतः उन(सेवकॄ)को क्या दुर्लभ है! ईश! सम्बोधनसे असाध्य भी सिद्ध हो जाता है, 'चतुर्षु' पद देकर यह निर्णय कर दिया है अन्य जितने भी फल हैं वे चारॄके अन्तर्गत हैं. यदि कहो कि यों आपका कहना सत्य है किन्तु वह फल सूक्ष्म प्रकारसे प्राप्त हुआ है. अब स्पष्ट स्थूल तरह ले लो तो, इसपर कहता है कि 'न अहं प्रवृणोमि', मैं नहीं चाहता हूं. यदि भगवदिच्छा वैसी हो तो उसका निषेध कौन कर सकेगा, तो भी मैं कहता हूं कि वह मुझे इष्ट नहीं अतः मैं मांगूगा भी नहीं. किञ्च ब्रह्मा होना कोई दुर्लभ नहीं, बहुत ही ब्रह्मा होते हैं क्यॄकि आप भूमा भगवान्मॄ ब्रह्माण्ड कोटि मौजूद हैं जिसमॄ कोटि ब्रह्मा स्थित हैं, उनमॄसे एक ब्रह्मा प्राप्ति(होने)से क्या फल(लाभ) होगा अतः कोटि ब्रह्मावाले आपको छोड़ एक लेनेकी मूर्खता कैसे करूंगा? मैं तो आपके चरण कमलकी सेवाका उत्सुक हूं. अन्य कुछ भी नहीं चाहता हूं. चिन्तामणी जो सब कुछ देनेमॄ सामर्थ्यवाली उसको छोड़, उसकी दी हुई अल्प वस्तुको मूर्खके सिवाय कौन ग्रहण करेगा? ब्रह्मा बननेसे कुछ लाभ नहीं ।।१५।।

आभासार्थः यदि यॄ है तो कुछ भी नहीं मांगना चाहिए यह आशय है, इसपर यह श्लोक कहा है :

कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते दुर्गाश्रयोऽथारिभयात् पलायनम् ।
कालात्मनो यत् प्रमदाऽयुताश्रयः स्वात्मन् रतेः खिद्यति धीर्विदाम् इह।।१६।।

श्लोकार्थः इच्छा रहित आपके 'कर्म', अजन्मा आपका 'जन्म' कालरूप आपका दुर्ग, द्वारकामॄ आश्रय और शत्रु भयसे भाग जाना. आत्मामॄ रमणकर्ता, आपका सहस्र स्त्रियॄका भोगार्थ आश्रय इत्यादि देखकर बुद्धिमानॄ

को खेद वा भ्रम पैदा होता है ।।१६ ।।

व्याख्या: आपकी चरण सेवा करनेसे कोई दोष अन्तःकरणमॅ न रहे यह एक प्रार्थना करनी है. दोष दो प्रकारके है. जब भगवद्भजन करनेकी क्रिया की जाती है तब एक दोष स्वतः पैदा हो जाता है, दूसरा दोष भगवान् पैदा करते हैं वे दोनॅा दोष जैसे उत्पन्न न होवॅ वैसा उपाय कहिए. यदि वह उपाय भागवत है तो वह बताइये. पहले दोष कहते हैं यदि भागवत, दोषॅाका नाश नहीं कर सकती है तो भागवत सुननेका कोई फल नहीं. भगवच्चरणारविन्दके सिवाय अन्य कोई फल नहीं है, इसलिए सेवकॅाको फलमॅ जो बाधक दोष हैं उनकी निवृत्तिकेलिए प्रार्थना करना चाहिए और उस बाधकका सर्व पोषण करते हैं किन्तु कोई भी उसको नहीं रोकता है. इसलिए सबसे प्रथम विघ्न करनेवालेको दूर करना चाहिए. यह सबको बहुत अभीष्ट(पसन्द) है. यॅा जतानेकेलिए पहले सेवा स्वरूप ज्ञानसे उत्पन्न दोष कहते हैं 'कर्माण्यनीहस्य', इच्छारहित होते हुए भी कर्म कर रहे हैं. 'निरीह' भगवान् इच्छावालॅाकी तरह वैसे कर्म कर रहे हैं, जो उनके विरुद्ध हैं अतः वे बाधक हैं ,ऐसी बुद्धिमॅ स्फुरणा होनेसे निश्चित है कि यह उत्तम अधिकारी है यॅा जताया है. सामान्यतः दो दूषण हैं. विशेष देखा जाए तो तीन दूषण हैं, भगवान् सेवा करने योग्य हैं. इसलिए यह सिद्ध होना चाहिए कि वह अजन्मा है, जब वह स्वयं अजन्मा होगा तब हमारे जन्मादि दुःख निवृत्त कर सकेगा.

अपने कर्मसे तो अनेक प्रकारके क्लेश होते हैं. वे न हॅा अतः भगवान् सेव्य होता है इसलिए भगवान् अकर्मा होना चाहिए. ऐसा न होनेपर प्रत्यक्षसे वह भजन करनेका मूल हेतु(कारण) जो भगवत्तत्त्व उससे विरुद्ध है, जैसे कि वसुदेवके घरमॅ जन्म लेना, सदैव कर्म करते रहना यह सब प्रत्यक्ष सिद्ध है, युक्ति(तर्क) रूप अनुमानसे प्रत्यक्ष बलिष्ठ है, भगवच्चरणारविन्दका भजन तो स्वतः अतिरस देता है यों फलसे आपका महत्त्व प्रत्यक्ष सिद्ध है, पर्यवसान(अन्त)मॅ बाधक बनता है जहां भगवान् स्वयं जन्म लेते हैं और इसी प्रकार कर्म करते रहते हैं वहां उनके आश्रित हम लोगॅाकी क्या दशा होगी ? भगवान् ही फलदाता हैं, यदि अन्तमॅ वह(भगवान्) ही हम बन जायॅगे तो भी वही दशा होगी(जन्म लेना, कर्म करना पड़ेगा) जन्म आदि क्लेश तो तब भी मौजूद हॅागे तो फिर भजनसे क्या लाभ हुआ ? इससे श्रद्धाका अभाव हो जाता है. कारण कि साधारण ईश्वरसे भी दूसरे प्रकारके दिखते हैं, जिससे यह सबसे महान् है यों भास रहे हैं तो भी तीन दोष बुद्धिमॅ स्फुरित होते हैं, जैसे कि

१.भगवान् होते हुए भी उनने अपने स्थान मथुराका त्याग कर शत्रुसे डरकर द्वारका नामवाले दुर्गमें क्यों आश्रय लिया. २.कालयवनसे भी डरकर क्यों भाग गए? ३.वे स्वरूपानन्द होते हुए भी कैसे अपने भोगार्थ सहस्र स्त्रियोंको ग्रहण किया और उनसे भोग किया? अतः जब तक अवतार है तब तक अन्यथा(भगवत्तत्त्वसे विपरीत) भान होनेसे ये दोष भजनके बाधक होते हैं और ये भगवान् नहीं है यों भान कराते हैं यदि कहो कि मोहनार्थ भगवान् यों करते हैं, तो भी जब तक अवतार है ,मोहक होगा तो फिर उपास्य कैसे होगा?

यदि यह कल्पना की जाये कि उपासकोंको मोहित नहीं करते हैं अन्योंको करते हैं तो वह भी जचता नहीं क्योंकि आप सर्वज्ञ होते हुए भी असर्वज्ञकी तरह, सलाह लेनेकेलिए मुझे(सेवकको) बुलाकर पूछते हैं कि क्या किया जाए? और जैसा कहता हूं वैसा करते हैं अतः किसी प्रकार चरित्रोंपर दृष्टि डालनेसे यों ही भासता है कि इनको भगवान् समझ इनका भजन करना अनुचित है. जिनको मोह हुआ है वे जो वचन कहते हैं उन वचनोंकेलिए क्या कहा जाए?

ये सब दूषण यदि भागवत सुननेसे मिट जावें तो आप भागवत कहिए. अन्तिम लीला(आसुरव्यामोहलीला) देखते ही अनन्त दूषण ही सिद्ध होते हैं यों उस दशाको देखते हुए, पूर्व कहे दूषणोंको फिर दुहराता है. दूषणत्वकेलिए और सिद्धान्तके संभावनार्थ स्वरूपका वर्णन करते हैं तथा उनके कर्म कहते हैं:

१. निःस्पृह होते हुए भी पूतनाके प्राणरूप पयः पानादि कर्म करना,

२.निर्विकार अजन्मा होते हुए भी सर्व विकारोंका कारण जो जन्म है वह लेना,

३. सर्वके संहर्ता, सर्वके नियामक होकर भी कालात्मारूप भगवान्ने अपना रक्षक, दुःखसे प्राप्त दुर्गरूप द्वारकाको माना.

४. 'अथ' पदसे सूचित किया है कि अब भिन्न प्रक्रम है, इससे यह बताया है कि दुर्गाश्रय था तो भी भागे अथवा स्वतन्त्रतासे भी भागे.

५.आत्माराम होते हुए भी रमणार्थ सहस्रों प्रमदाओं(महिलाओं)का आश्रय किया, ये पांच लीलाएं(दिग्दर्शनरूप हैं).

आपको ब्रह्मरूपसे जाननेवालोंकी बुद्धि, इन पांच लीलाओंको देखते हुए संकटमें पड़ गई हैं और इस विषयमें मूढ बन खेद करती हैं ।।१६।।

आभासार्थ: आपके कायिक कर्मोंसे तो विशेषकर मुग्ध बना था. किन्तु पुनः वाचनिकोंसे भी मोहित हो गया हूं यों इस श्लोकमें कहते हैं:

मन्त्रेषु मां वा उपहूय यत् त्वम् अकुण्ठिताखण्डसदात्मबोधः ।
पृच्छेः प्रभो! मुग्ध इवाऽप्रमत्तः तन्नो मनो मोहयतीव देव! ।।१७।।

श्लोकार्थः हे प्रभो! आप सदैव स्वयं अकुण्ठित(तीक्ष्ण) तथा अखण्ड ज्ञानवाले एवं अप्रमत्त(सावधान) होते हुए भी मन्त्रणाकेलिए मुझे बुलाकर मुग्धकी तरह(मानो आप कुछ जानते ही नहीं ऐसे) मुझसे पूछते(सलाह लेते), हे देव! वह आपका कर्त्तव्य(लीला) मुझे मोहित करता है ।।१७।।

व्याख्याः जब जरासन्धके वधकेलिए राजाओंने प्रार्थना की और यज्ञके प्रबन्धार्थ युधिष्ठरने आपको आनेकेलिए प्रार्थना की, तब यज्ञमें जाऊं वा जरासन्धके वधकी तैयारी करूं? इस विषयके निर्णयार्थ आप उपाय जानते थे तो भी मुझे बुलाकर पूछा. 'मन्त्रेषु' बहुवचन कहनेका भावार्थ यों आता है कि कालान्तरमें स्यमन्तक मणि आदि विषयमें भी पूछा. 'वा' पद अनादर सूचक है. 'आहूय' बुलाकर पदसे यह सूचित किया कि यों ही अचानक नहीं पूछा, किन्तु कार्य विशेष होनेपर सलाह ली. 'त्वं' पद कहनेका भावार्थ यह है कि आपमें कुछ भी ज्ञानकी कमी नहीं है. सर्व शास्त्र कहते हैं कि आपका ज्ञान अकुण्ठित है अर्थात् आपका ज्ञान ऐसा ही तीक्ष्ण है जो स्वकार्य करनेमें उसका कोई भी प्रतिबन्ध नहीं कर सकता है, और आपका ज्ञान मध्यमें टूटा हुआ भी नहीं है जैसे तेलकी धारा अनवच्छिन्न चली आती है वैसा आपका ज्ञान भी अखण्ड है. इसी प्रकार आपका स्वतः स्वयं ज्ञान भी ऐसा शक्त है जो काल भी उसको भंग नहीं कर सकता है. अतः आपके समर्थ ज्ञानको कालका भी भय नहीं है. ऐसे अकुण्ठित, अखण्ड एवं काल भयरहित अविनाशी समर्थ ज्ञानवाले होते हुए भी मुझसे आज्ञा पूर्वक मन्त्रणा कर पूछ रहे हो कि, क्या करना चाहिए अतः आज्ञा मान कर सलाह देनी ही पढ़ी. हे प्रभो! इस संबोधनसे यह भावना प्रकट की है कि आप सर्वसमर्थ हैं अतः आपकी आज्ञा पालनसे मेरी पहली स्थिति भी नष्ट होगी. आप स्वामी हैं अतः भयसे भी आज्ञा मान कर सलाह दी, जिस समय सलाह ली उस समय आपने ऐसी चेष्टा की थी कि आप कुछ जानते ही नहीं, यह भाव 'मुग्ध इव' पदसे प्रकट किया है, यदि प्रभु ऐसी चेष्टा(मुग्धभाव) प्रकट न करते तो उद्धवने युक्ति पूर्वक जो कहा वह न करते, केवल यों कहते कि 'यों करना चाहिए'.

उद्धवने अपने मतके समर्थनमें जो-जो युक्तियां दीं वे सब भगवान्ने सावधान होके सुनी, जिससे उद्धवका कहना युक्ति संगत जानकर वह कार्य किया

अन्यथा आप पूर्ण जानकार होनेसे अपने मतानुसार करते, किन्तु समझ लिया कि उद्धवका मत मेरे मतानुकूल ही है.

आपके ऐसे-ऐसे विचित्र चरित्र हम सर्व भक्तोंके मनको मानो मोहमें डालते हैं, आपके सान्निध्यमें रहनेसे एवं भजन करनेसे आपका माहात्म्य प्रकट देख रहे हैं इसलिए 'इव' पद दिया है. हे देव! यह सम्बोधन पूर्व पक्षकी समाप्तिका सूचक है. तात्पर्य यह है कि मनुष्य बुद्धिसे देव चरित्रका निर्णय करना अशक्य है इसलिए देव! पद दिया है ।।१७।।

आभासार्थ: इस कारणसे उस ज्ञानकी प्राप्तिकेलिए भागवत कहिए, यों इस निम्न श्लोकमें कहता है :

ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं प्रोवाच कस्मै भगवान् समग्रम् ।
अपि क्षमं नो ग्रहणाय भर्तः वदाऽञ्जसा यद् वृजिनं तरेम ।।१८।।

श्लोकार्थ: आपकी सकल शक्तियोंका तथा आपका मर्म जो ज्ञान प्रकट करता है वैसा सम्पूर्ण ब्रह्माको आपने बताया है. हे भर्ता! यदि हम उस ज्ञानको ग्रहण करनेमें समर्थ हों तो हमको भी कहिए, जिससे इस दुःख सागरसे पार हो जावें ।।१८ ।।

व्याख्या: पहले कहा हुआ जो हमारा मोह है वह अज्ञान कृत है. अतः वह मोह ज्ञानसे ही नष्ट होगा अतः ज्ञानका ही प्रतिपादन करनेवाला भागवत कहना चाहिए. ज्ञान और अज्ञान दोनों परस्पर वैसे विरोधी हैं जैसे जाग्रत और स्वप्न और दोनों समान बलवाले होनेसे एक दूसरेका दोनों ही मर्दन करनेवाले हैं अर्थात् जैसे ज्ञान अज्ञानका नाश करता है वैसे ही अज्ञान ज्ञानको दबा लेता है, तो फिर ज्ञान प्राप्तिसे क्या लाभ? इसपर कहते हैं कि साधारण ज्ञान नहीं चाहिए, किन्तु 'पर' उत्तम ज्ञान होना चाहिए जो ज्ञान प्रकृति आदिका नियन्त्रण करनेवाला तथा अज्ञानको मिटानेमें समर्थ हो. सबसे भगवदिच्छा मुख्य है. यदि भगवान्को इच्छा होवे कि इसका ज्ञान नाश होवे तो अज्ञानका निवर्तक ज्ञान भी भगवत्प्रेरित मायासे ज्ञानका नाश ही होगा जैसा कि कहा है "**ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा बलाद् आकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति**" इस शास्त्र वाक्यानुसार 'भगवती देवी महामाया ज्ञानियोंके चित्तोंको बलसे खींच कर मोहको दे देती है' अर्थात् ज्ञानियोंको भी मोहमें डाल देती है. जिससे उनका ज्ञान नष्ट हो जाता है और वे संसारी बन जाते हैं. अतः 'परं' ज्ञानसे भी क्या लाभ? ऐसी शंका होनेपर फिर

दूसरा विशेषण देता है कि वह ज्ञान हो जो 'स्वात्मरहः प्रकाशं' आपकी मायादि शक्तियॉके और आप भगवान्के मर्मको बतानेवाले हो अर्थात् बन्धना और मोचन लीलामॅ भगवान्का क्या अभिप्राय है और तदीयॉका क्या? जिस ज्ञानसे यह रहस्य प्रकट होता हो वैसा ज्ञानरूप भागवत भगवान्ने ब्रह्माको दिया (सुनाया). यॉ सुना है 'कस्मै' पदके दो अर्थ हो सकते हैं, एक 'कस्मै' ब्रह्माको दूसरा 'कस्मै' किसको. इससे जाननेमॅ नहीं आता है कि भागवत भगवान्ने किसको दिया है. यदि मालूम हो कि इसको दिया है तो उससे पूछा जाए. उसमॅ भी भेद है क्यॉकि भगवान्के अभिप्राय अनन्त हैं. अतः जिससे सब कुछ अभिप्राय जाननेमॅ आवॅ वह समग्र भागवत कहिए भगवान् अचिन्त्यैश्वर्य है. अतः कदाचित् वैसा सम्पूर्ण ज्ञान भी कहें वा हो इस प्रकारकी सम्भावना है. वह ज्ञान पुरुषविशेष ही धारण कर सकता है. यदि यॉ है तो वह ज्ञान यदि हम ग्रहण करनेमॅ समर्थ होवॅ तो कहना चाहिए. 'अपि' शब्द सम्भावनासे कहा है. ऐसी सम्भावना मुझे इसलिए हुई कि आपकी मेरेपर कृपा है अतः वस्तु निर्देशसे भी जाना जाता है कि उस ज्ञानको समझनेकी मुझमॅ भी सम्भावना है, वह ज्ञान तो मेरा रूप है अन्यको समझनेकी सम्भावना कैसे होगी? यदि कहो कि ब्रह्माको कैसे हुई? इसपर कहा कि वह(ब्रह्मा) तो मेरा ही रूप है अर्थात् मैं ही हूं. यदि यॉ है तो हे भर्ता आप मेरे स्वामी हो. स्त्री यदि अनधिकारी हो तो भी पतिको और उसके धर्मको धारण कर लेती है. अतः आप हमारे पति हो जिससे ज्ञान आपका स्वरूप है तो भी हम उसको धारण कर सकॅगे ऐसी निश्चित संभावना है. इसलिए वह सर्वथा कहना ही चाहिए अतः कहिए. आग्रह इसलिए करता हूं कि इस ज्ञानसे पूर्वोक्त दुःख-समुद्रसे पार पहुंच जाऊंगा जिसमॅ कुछ भी आयास(परिश्रम) न होगा ।।१८।।

आभासार्थः इस प्रकार जब मैंने अपना अभिप्राय प्रकट किया तब भगवान्ने जान लिया कि यह 'अधिकारी' है अतः मुझे यह ज्ञान दिया. यॉ इस श्लोकमॅ उद्धवने कहा है:

इत्यावेदितहार्दाय मह्यं स भगवान् परः ।
आदिदेशाऽरविन्दाक्ष आत्मनः परमां स्थितिम् ।।१९।।

श्लोकार्थः इस प्रकार जब मैंने अपने हृदयका अभिप्राय स्पष्ट कर बता दिया तब कमलनयन 'परः' भगवान्ने अपनी उत्तम स्थितिका उपदेश दिया ।।१९।।

व्याख्या: 'हार्दं' हृदयका अभिप्राय, जब कह दिया तब भगवान्ने वह ज्ञान मुझे इस तरह बताया जैसे कोई बनी बनाई वस्तु किसीको दी जाए, तथा आज्ञा भी की है कि यह ज्ञान तुम्हारे अपने और दूसरेकेलिए भी उपयोगी होगा. भगवान्मृ ही स्थित अर्थात् जिसको भगवान् ही जानते हैं ऐसा यह ज्ञान उद्धव व्यवहारसे लाएगा. तात्पर्य यह है कि उद्धव दूसरृाको भी इस ज्ञानका उपदेश दे अन्यृाके दुःख भी दूर करेगा. यदि यों न होवे तो केवल आज्ञा व्यर्थ हो जाए, उद्धवको ब्रह्माकी तरह ज्ञान नहीं दिया है कारण कि उद्धवमृ वह शक्ति है जिससे भगवत्प्रोक्त ज्ञानका व्यवहार कर सकेगा क्यृाकि ब्रह्माकी तरह इसमृ गुण व्यथा नहीं है. तब उद्धवको सर्वस्व(सम्पूर्ण अपना ज्ञान) कैसे दिखा दिया? इस पर कहते हैं कि भगवान् कमलनेत्र होनेसे दृष्टिमात्रसे ताप हारक हैं, अतः दृष्टिसे उद्धवका अनधिकार मिटाके उसको अपने सर्वस्वका पूर्ण अधिकारी बना दिया, भगवान्का विचारा हुआ वह सिद्ध ज्ञान कैसा है? जो कहते हैं कि 'आत्मनः परमां स्थितिम्', परम आश्रयरूप भगवान्की जो स्थिति है उससे अधिक उत्तम और कुछ नही है वह ही पराकाष्ठा है ।।१९।।

आभासार्थ: इसके बाद आपने क्या किया? इस आकांक्षाके होनेपर निम्न श्लोक कहा है:

स एवम् आराधितपादतीर्थाद् अधीत–तत्त्वात्म–विबोधमार्गः ।
प्रणम्य पादौ परिवृत्य देवम् इहागतोऽहं विरहातुरात्मा ।।२०।।

श्लोकार्थ: जिस गुरु चरणकी सेवा की, उस गुरुसे वास्तविक तत्त्व–स्वरूप(ज्ञान)का मार्ग जानकर कृतार्थ हुआ, अनन्तर उनके चरणृामृ प्रणामकर देवको अभिवादन किया एवं परिक्रमा कर यहां आ गया हूं, किञ्च विरहकर अन्तःकरणसे दुःख संतप्त हुआ है ।।२० ।।

व्याख्या: इस तरह भगवान्से ज्ञान प्राप्तकर, चरणृामृ प्रणामकर तथा प्रदक्षिणा कर विरहसे दुःखी अन्तःकरणवाला मैं यहां आया हूं अथवा यहां आके विरहसे दुःखी अन्तःकरणवाला हुआ हूं. भगवत् नामवाला शब्द 'ब्रह्म' मैंने स्वाधीन कर लिया है. वह स्वाधीनता बिना गुरु सेवाके प्राप्त नहीं होती है. अतः मैं जिसकी प्रभुरूपसे सेवा करता था उसकी मैंने गुरुरूपसे भी सेवा की यह 'आराधित–पाद–तीर्थात्' पदसे कहा है. जिसके चरण(प्रभुरूपसे) सेवे उसे ही तीर्थ(गुरु)रूप कर सेव्य किया है. 'तीर्थ' पदका अर्थ यहां 'गुरु' है. जिससे उसे

समग्र पदका अर्थ याॄ भी किया जाता है कि जिसके चरण सेवे हैं ऐसे गुरुसे भगवत् ज्ञानमार्ग जिसने सीखा ऐसा मैं हूं, ज्ञानमार्ग तो बहुत हैं, आपने कौनसा सीखा? इसपर कहते हैं कि जो केवल नाम मात्र ज्ञानमार्ग हैं वे नहीं सीखे हैं. किन्तु जिसमॄ आत्माके स्वरूपादिका पूर्ण ज्ञान है वह ज्ञानमार्ग जाना है. 'आत्मा' शब्दसे भी यह शंका उत्पन्न होती है कि उसमॄ भी 'जीवात्मा' आदि शरीर आदि पक्ष बहुत हैं. इस शंका निवारणार्थ कहा कि 'तत्त्व' परमार्थरूप उसका जो सहज भाव अर्थात् वास्तविक भाव है, जो भाव स्वरूपसे ही प्रादुर्भूत हुआ है. सारांश यह है कि मैंने जो 'आत्म' शब्द कहा है वह ज्ञान स्वरूप ही कहा है कि शरीरादि कहा है जिससे विशेष बोध होकर पूर्व उत्पन्न सर्व सन्देह मिट गए. जब इस तरह ज्ञान प्राप्त हो गया तब चरणाॄमॄ प्रणामकर गुरु बुद्धिका त्याग किया और उनको अपना स्वामी देवस्वरूप जान परिक्रमा की, अनन्तर यहां आ गया. प्रदक्षिणा करनेके बाद यहां ही मुझे, यह मैं हूं यों आत्मलाभ हुआ, पश्चात् एक ही पदसे वा क्रमसे यहां आया. उसको मैं नहीं जानता हूं. जैसे भगवान्की इच्छा हुई होगी वैसे आ गया हूं, केवल प्रदिक्षणा की यह और इस स्थानपर पहुंच गया हूं, इतना ही स्मरणमॄ है इस कारणसे ही अब अन्तःकरण विरहसे आतुर हो गया है अन्यथा(यदि वहां ऐसी विरहसे आतुरता होती तो) इतना दूर आना ही न होता, इससे वहांवाली आगेकी वार्ता भी ध्यानमॄ नहीं है, कारण कि अब तो अन्तःकरण केवल विरहसे आतुर है जिससे अन्य कुछ भी ध्यानमॄ नही रहा है ।।२०।।

आभासार्थः तब इसके बाद क्या करना है? इस आकांक्षाके होनेपर यह निम्न श्लोक कहा है:

सोऽहं तद्दर्शनाह्लाद–वियोगार्तियुतः प्रभो।
गमिष्यते दयितं तस्य बदर्याश्रम–मण्डलम् ।।२१।।

श्लोकार्थः उनके दर्शनानन्द तथा वियोगार्तिवाला वह मैं उनके प्रिय बदरिकाश्रम मण्डलमॄ जाऊंगा ।।२१ ।।

व्याख्याः उनके दर्शनसे आनन्द प्राप्त किया और वियोगसे दुःख, इस प्रकार मैं आनन्द और वियोग दुःखवाला हुआ, सर्व सन्देहाॄको भगवान्ने मिटा दिया, स्वामी(भगवान्)की आज्ञा अवश्य पालन करने योग्य है. द्वारकासे भी अत्यन्त प्रिय बदरी स्थान है. ऋषिरूप भगवान्का आश्रम है. वहांकी विशेषता बताते हैं कि वह 'मंडल' है अतः जैसे सवित(सूर्य) मंडलके मध्यमॄ नारायण रहते

हैं वैसे ही बदरिकाश्रम मण्डल होनेसे वहां भगवान्का नित्य सन्निधान(विराजना) है, 'मण्डल' पदसे यह सूचित किया है ।।२१।।

आभासार्थ: भगवान् वहां सदैव विराजते हैं यह सिद्ध करते हैं :

यत्र नारायणो देवो नरश्च भगवान् ऋषिः ।
मृदु तीव्रं तपो दीर्घं तेपाते लोकभावनौ।।२२।।

श्लोकार्थ: जहां लोकके हित करनेवाले भगवान् नारायण देव और नर ऋषि मृदु तीव्र तथा दीर्घ तप करते हैं ।।२२ ।।

व्याख्या: जिस बदरिकाश्रममॄ भगवान् दोनॄ रूपसे(नर और ऋषिरूपसे) विराजते हैं. 'च' पदसे भगवान्का सूचन किया है. आश्रममॄ नरकी प्रधानतासे ऋषि भगवान् रहते है. नारायणप्रधान देव, नर सहित बदरी मंडलमॄ विराजते है, अतः इससे यह बताया है कि सूर्य मण्डलकी अपेक्षा वह बदरीमण्डलका स्थान सुन्दर है. दोनॄमॄ ही भगवत्त्व, ऋषित्व और देवत्व मौजूद है. अतः तीन तरहका तप मृदु, तीव्र, दीर्घ कर रहे हैं. देव होनेसे मृदु(कोमल) तपस्या करते हैं कारण कि देव सात्त्विक होनेसे अति उग्र तपस्या करनेके योग्य नहीं होते हैं, भगवान् होनेसे तीव्र तप करते हैं, ऋषि होनेसे दीर्घ समयकी तपस्या कर रहे हैं. क्यॄकि ऋषि लोग समग्र आयु तप ही करते हैं. भगवान् जो तप करते हैं, वह शीघ्र फलदायक है. उसके फल मिलनेमॄ कोई कारण नहीं है इसलिए उस तपको तीव्र कहा है. यहां तप वह है जिसमॄ आहार परित्यागकर समाधि लगायी जाती है. ऐसे तपस्या करनेका क्या कारण है? इसपर कहते हैं 'लोकभावनौ', लोकका हित चाहते हैं. लोक ३ प्रकारके हैं अतः ३ प्रकारकी तपस्या करते हैं ।।२२।।

आभासार्थ: [1]इस प्रकार निश्चित बुद्धिका निरूपणकर, [2]विपरीत बुद्धि का यहां कोई [3]प्रयोजन नहीं है, वह तो त्याग योग्य है, यॄ कहते हुए संशयको श्रीशुकदेवजी ३ श्लोकसे कहते हैं :

श्रीशुकः उवाच
इत्युद्धवाद् उपाकर्ण्य सुहृदां दुःसहं वधम् ।
ज्ञानेनाऽशमयत् क्षत्ता शोकम् उत्पतितं बुधः।।२३।।

श्लोकार्थ: श्रीशुकदेवजीने कहा कि यॄ उद्धवसे सुहृदॄका असमय वध सुनकर जो शोक उत्पन्न हुआ उसको ज्ञानीक्षता(विदुर)ने ज्ञान द्वारा शान्त किया ।।२३।।

व्याख्या: यहां प्रथम स्नेहियॄने परस्पर लड़कर अपना वध कर डाला यह सुना और ऐसी भगवदिच्छा थी वह भी सुनी. दोनॄके फल हुए अर्थात् वध सुननेसे शोक उत्पन्न हुआ और भगवदिच्छाके सुननेसे शोक मिटा. अनन्तर ज्ञानी होकर सन्देह मिटानेकेलिए उसी ही अर्थ(विषय)को उद्धवसे पूछने लगा. अपना अधिकार, वक्ता और वाच्य(जो कहने योग्य है) इन तीनका निरूपण तीन वाक्यॄ(श्लोकों)से कहते हैं. सन्देहके न मिटनेसे और आगेका वाक्य(२५वॄ श्लोकका वाक्य) सन्देहका स्थापक होनेसे यह बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं है क्यॄकि पदार्थका निर्णय नहीं हुआ है. उपायका निर्धारण करना है. इस पक्षमॄ तो संशय प्रयोजक नहीं है. अतः वह साधनका निश्चयरूप ही निरूपण किया जाता है. इसी तरह प्रथम कहे हुए प्रकार मदिरापान आदिसे सुहृदॄका वध उद्धवसे जब सुना तब वह ऐसा विषय था जिसका सुनना ही अशक्य है क्यॄकि वह वध अपना कार्य जो अवश्यम्भावी है वह करनेके सिवाय रहेगा नहीं. अतः वह दुःसह उद्धवसे सुना. उद्धवने जो कहा वह विपरीत(असत्य) भी नहीं हो सकता है. वह शोक, दूरसे अग्निकी तरह उसके(विदुरके) हृदयमॄ आके पड़ा. वहांसे कूद उछलकर यहां ही आ गया यों भावार्थ है. उस शोकको ज्ञानसे शान्त कर दिया, वह ज्ञान उसको पहले ही सिद्ध था. इसलिए इसको 'क्षत्ता' संयमी कहा है. जिस ज्ञानसे पहले इन्द्रियजयसे विषयासक्ति मिटा दी थी अब उससे शोक भी मिटा दिया.

शोककी कामसे विशेषता बताते हैं कि 'उत्पतितं' शोक उछलकर दूरसे आया. उसे रोकनेका यत्न करना पड़ा उस तरह उसीको शान्त करना पड़ा. शान्त करनेमॄ इसकी सामर्थ्य है, क्यॄकि 'बुधः' ज्ञानी हैं. भगवत्स्मरणसे ही उसको ज्ञानकी उत्पत्ति हुई है एवं मनसे भगवान्ने ही उसको उपदेश दिया है ।।२३।।

१.स्कन्धके अर्थ विचारानुसार आगे बुद्धि कैसी है? इस आंकाक्षापर कहा है. 'एवम्'.
२. उत्पन्न करने योग्य कहकर. ३.अधिकारमॄ अनुकूल होनेसे.

आभासार्थ: इस प्रकार भगवच्छिष्यता भी प्रकट की, जिससे प्राप्त ज्ञान द्वारा शोकका निवारण किया उद्धव, विशेष स्पष्टतासे समग्र विषयको कहें तदर्थ उसे पूछता है यॄ इस श्लोकमॄ कहते हैं:

स तं महाभागवतं व्रजन्तं कौरवर्षभ!।
विश्रम्भाद् अभ्यधत्तेदं मुख्यं कृष्णपरिग्रहे ।।२४।।

श्लोकार्थ: हे कौरवॄमॄ श्रेष्ठ! जानेवाले परम भगवदीय(उद्धव)से

विश्वास पूर्वक निम्न प्रकार प्रार्थना पूर्वक पूछने लगे क्यूंकि वह श्रीकृष्णके सेवकोंमें मुख्य था ।।२४।।

व्याख्या: उद्धव परम भागवत था, इसलिए उससे प्रार्थना की. जिसपर भगवान्ने अनुग्रह किया हो, उस अनुगृहीत भक्तसे भगवान्की तरह ही नम्रतासे प्रार्थना पूर्वक बोलना चाहिए. 'स तम्' इन दोनों पदोंके कहनेका भावार्थ यह है कि भगवान्ने इस प्रकार दोनोंका मिलाप इसलिए कराया है कि प्रभु इसके(उद्धवके) द्वारा ही विशेष कहेंगे यही प्रश्न करनेका कारण है. जिससे शंका निवारण करनी हो उसकी प्रथम सेवा करनी चाहिए जब वह सेवासे प्रसन्न चित्त हो जावे तदनन्तर पूछना चाहिए किन्तु आप बिना यों किए कैसे पूछ रहे हो? जिसका उत्तर देता है 'व्रजन्तं' जा रहे हैं. अतः सेवा करनेका समय नहीं तथा परम भगवदीयोंको ऐसी कामना भी नहीं होती है.

परीक्षित अधिकारी हैं यों जतानेकेलिए 'कौरवर्षभ!' यह सम्बोधन दिया है. एक ही स्वामीके दोनों(उद्धव-विदुर) सेवक थे और दोनोंका परस्पर पूर्व स्नेह भी था. इसलिए विदुरको विश्वास था, पूछनेपर सर्व सुनाएगा. यह जो श्लोक २५में, मैं(विदुर) पूछ रहा हूं, उसका उत्तर उद्धव देगा ही, विदुर भगवद् भक्त होकर भगवदतिरिक्त(भगवान्के सिवाय) अन्यको प्रार्थना कैसे करता है? यों करनेसे तो अन्याश्रय दोष लगेगा, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि विदुरको ज्ञान था कि जितने भी कृष्णके अनुगृहीत सेवक हैं उनमें यह(उद्धव) मुख्य होनेसे भगवान्की तरह प्रार्थनीय है. इससे किसी प्रकारका अन्याश्रय नहीं वा भक्तिमें विरोध भी नहीं आता है यों तात्पर्य है ।।२४।।

आभासार्थ: विदुरको जो पूछना है वह इस निम्न श्लोकमें पूछता है :

विदुरः उवाच

ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं यद् आह योगेश्वर ईश्वरस् ते ।
वक्तुं भवान् नोऽर्हति यद्धि विष्णोर् भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ति ।।२५।।

श्लोकार्थ: विदुरने कहा, योगेश्वर ईश्वरने स्वकीयोंके तथा अपने रहस्यका प्रकाशक जो परम ज्ञान आपको कहा, वह आप मुझे देनेके योग्य हो, क्यूंकि विष्णुके सेवक अपने भृत्योंको वह ज्ञान देनेकेलिए ही पृथ्वीपर विचरण कर रहे हैं ।।२५।।

व्याख्या: स्वकीयोंके और अपने मर्म(रहस्य)का प्रकाशक २-उत्तम ३-

ज्ञान, इन तीनॄ पदॄकी व्याख्या जैसे पहले(१ से १८ श्लोकमॄ) की है वैसी ही है.

ऐसा जो ज्ञान भगवान्ने आपको कहा है, वह ज्ञान आप कहनेकेलिए योग्य हैं, आप उस ज्ञानको सुननेकेलिए मुझसे ही प्रार्थना क्यॄ करते हो? व्यासादिक बहुत ही ज्ञानी हैं उनसे क्यॄ नहीं पूछते हो? इसपर कहते हैं कि यह ज्ञान आपके सिवाय कोई दूसरा नहीं जानता है, क्यॄकि जिसने आपको यह ज्ञान दिया है वे योगेश्वर तथा ईश्वर हैं, जो साधनसे तथा स्वरूपसे सर्वेश्वर हैं. उनने आपको जिस प्रकारका ज्ञान दिया वह ज्ञान अतिदुर्लभ है. व्यासादिक ऋषि ईश्वर नहीं हैं और अनिरुद्धादि योगेश्वर नहीं हैं. दोनॄ भावॄको(ईश्वरत्व एवं योगेश्वरत्व को) धारण कर भगवान्ने जिस ज्ञानका आपको उपदेश दिया है वह अवश्य आप मुझे कहॄगे(आपको कहना चाहिए), उसको स्पष्ट शब्दॄमॄ कहता है कि 'वक्तुं भवान् नो अर्हति', आप हमको कहने योग्य हैं क्यॄकि जैसे आप भगवान्को ज्ञान देनेके योग्य समझते थे वैसे मैं आपको समझता हूं अथवा जैसे आप भगवान्के हैं वैसे मैं आपका हूं, अतः भगवान् और आपका जैसे मिलन हुआ वैसे मेरा आपके साथ हुआ है. इसलिए जिस तरह भगवान्ने कृपाकर गुप्त भी आपको बता दिया इसी तरह आप भी कृपा कर मुझको कहिए. यदि कहो कि भगवान् भक्तोद्धारके लिए ही प्रयत्न करते हैं और स्वतन्त्र हैं इसलिए वे उपदेश कर सकते हैं, हम उसी तरह कैसे कर सकॄगे. इसपर कहते हैं कि 'भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ति', विष्णुके जो सेवक हैं वे भी वैसे ही हैं. सेवकॄमॄ स्वामीके समान धर्म आ जाते हैं अतः जैसे स्वामी सेवकॄका उद्धार करते हैं वैसे ही विष्णुके भृत्य अपने सेवकॄका उद्धार करनेकेलिए विचरण कर रहे हैं कि कहीं भी सेवक मिले तो उसका उद्धार करॄ. यदि यॄ न होवे तो वे भगवदीय होनेसे कृतार्थ हो गए फिर भ्रमण क्यॄ करॄ. भगवत्स्मरणसे विदुरके मनमॄ यह भाव उत्पन्न हो आया कि सर्व यादवॄका भगवान्ने मूशल द्वारा नाश कराया, केवल उद्धवकी रक्षा की, जिसका कारण कि उद्धव अन्यॄको उपदेश देकर उनका उद्धार करे अतः भगवदाज्ञासे ही आते हुए उद्धवकेलिए ही कहा है कि 'स्वभृत्यार्थ-कृतश्चरन्ति', अपने भृत्यॄको कृतार्थ करनेकेलिए विचरते हैं।।२५।।

आभासार्थः विदुरके कहनेका अभिप्राय अंगीकारकर और सामान्य न्याय भी यॄ ही है ऐसा मानकर विदुरकेलिए भगवान्ने विशेष प्रबन्ध किया है, इसलिए भगवद्वाक्यॄके पालन करनेकेलिए भिन्न प्रकारसे उपदेश देता है :

उद्धवः उवाच

ननु ते तत्त्वसंराध्य ऋषिः कौषारवोऽन्ति मे ।
साक्षाद् भगवतादिष्टो मर्त्यलोकं जिहासता ।।२६।।

श्लोकार्थः उद्धवजीने कहा तुम्हें तत्त्व ज्ञानकी प्राप्तिकेलिए कोषारव ऋषिके पास जाकर उसकी आराधना करनी चाहिए क्यूंकि मर्त्य लोकका त्याग करनेकी इच्छावाले साक्षात् भगवान्ने मेरी उपस्थितिमूं मैत्रेयको कहा कि विदुरको उपदेश देना ।।२६ ।।

व्याख्याः तत्त्वका उपदेश तो भगवान्ने किया है, केवल 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' वह पुरुष ज्ञान पा सकता है जिसने गुरु किया है. अतः इस शास्त्र आज्ञाका पालन करनेकेलिए किसी गुरुकी सेवा करनी योग्य है. इसलिए भगवान्ने आज्ञा की है कि मैत्रेयकी ही तुम्हें तत्त्वज्ञानार्थ सेवा करनी चाहिए, क्यूंकि वह ऋषि है. भगवदीय होते हुए भी उसमूं ऋषित्व होनेकी विशेषता दिखाते हैं. यह शंका भी नहीं करनी कि वह मुझे नहीं बताएगा क्यूंकि भगवान्ने उसे आदेश दिया है, इसलिए अवश्य तुम्हें कहूंगे. इसलिए कहा है कि 'साक्षाद् भगवता आदिष्टः', साक्षात् भगवान्ने ऐसा आदेश दिया है. वह भी ऐसे समयमूं दिया और ऐसा दिया जो न कोई प्रश्न करनेका रहे और न सन्देह रहे. वह कहते हैं कि 'मर्त्यलोकं जिहासता', जिस समय मर्त्यलोकको छोड़नेकी इच्छा भगवान्को हुई. उस समय यह आज्ञा दी. इस लोकमूं रहकर यदि उनकी आज्ञाका पालन जो नहीं करता है उसका भी त्याग, लोककी तरह भगवान् करूंगे अतः सबको त्याग कर भगवान् उसको अपने पास बुलाकर कहने लगे कि 'विदुरः उपदेष्टव्यः', विदुरको उपदेश देना अतः वह सर्वथा उपदेश देगा. भगवान्की आज्ञा तुम्हें और मुझे दोनूंको माननी चाहिए इसलिए वहां जाओ जहां मैत्रेय हैं ।।२६।।

आभासार्थः उद्धवजी विदुरको यूं कहकर चले गए और प्रसंगसे अन्य कथाको उपसंहारके बहानेसे श्रीशुकदेवजी कहते हैं :

श्रीशुकः उवाच

इति सह विदुरेण विश्वमूर्तेः गुणकथया सुधयाप्लुतोरुतापः ।
क्षणमिव पुलिने यमस्वसुस्तां समुषित औपगविर्निशां ततोऽगात् ।।२७।।

श्लोकार्थः श्रीशुकदेवजीने कहा कि यमुनाजीके किनारेपर रात्रिके समय उद्धव और विदुरने परस्पर विश्वमूर्ति भगवान्के अमृतमय गुणानुवादूंको गाते हुए

उनमॄ अपने हृदयके महत्तापको डुबो दिया अथवा उनसे तापको धो डाला, वह रात्रि उनको मानो क्षण मात्र थी यॄ लगी, पश्चात् वहांसे वे चले गए ।।२७ ।।

व्याख्या: सन्ध्या समयमॄ यमुनाजीके तटपर विदुरने उद्धवको देखा. उद्धवने प्रातः काल पर्यन्त विदुरके साथ भगवद् गुणानुवादका गान ऐसे गाया, जैसे-जैसे जिस समयमॄ पुष्ट्यादि लीलासे भगवान्ने उद्धवपर कृपा की थी उसी तरह विदुर भी उद्धवको वह कथा कहने लगा. जैसे विदुरपर भगवान्ने कृपा की थी, इसका वर्णन करते हैं 'सह विदुरेण'. यों कहनेका आशय है कि अब भगवत्कथाका उपसंहार करना चाहते हैं और जाना चाहते हैं. उस समय प्रसंग आ जानेपर अन्य कथाएं भी की होगीं? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि नहीं केवल 'विश्वमूर्तेः', समग्र विश्व जिसमॄ मौजूद है अथवा जो अनन्तमूर्ति हैं उस भगवान्की ही लीला व कथाएं जो-जो भगवान्ने कृपाकर इनको कही या की, वे ही की थीं, जिससे यह बताया है कि यदि प्रासंगिककी कथा की होगी, तो वह भी भगवत्सम्बन्धी ही की होगी. अतः उस अनन्त गुणीके सर्वोत्तमत्व प्रतिपादक जो धर्म हैं उनकी कथासे ही क्षुधा, पिपासा और श्रम आदि सर्वताप दोनॄके मिट गए. कथासे क्षुधा और पिपासादि दोष कैसे मिटेंगे? क्यॄकि वे दोष स्वाभाविक हैं और कथा इन दोषॄको मिटाएगी ऐसा कथाका स्वभाव है यों लोकमॄ प्रसिद्ध नहीं है तब वह कथा उन दोषोंको कैसे मिटाएगी? इस शंकाके निवारणार्थ 'सुधया' विशेषण दिया है. वह अन्य कथाओॄके समान नही है किन्तु 'अमृतरूप' है. अमृतके गुण तो लोकमॄ प्रसिद्ध ही हैं अतः भूख एवं प्यास मिटाना तो नाम मात्र ही है. किन्तु कालकृत जरा मरणादिको भी मिटा देते हैं. अल्प भी कथारूपी सुधासे लोक अमर बन जाते हैं. यहां इस भगवद्गुणानुवादमॄ तो महान् अमृतका पूर(बाढ) उभर पड़ा था जिससे यह महान् तापवाला भक्त उस अमृतपुरमॄ डूब गया अर्थात् उसका महान् ताप शान्त हो गया. इससे उसको, कालका भी ज्ञान न रहा यों समझा कि भगवत् चर्चा करते हुए क्षण मात्र ही हुआ है. देशकृत दोषकी भी स्फूर्ति न हुई. उस समय यमुनाके तटपर बैठे थे. यमकी स्वसा(बहिन)से कालिन्दी कहा है उसमॄ मगरादि सर्वदुष्ट जन्तु रहते हैं अतः उसके तटपर रात्रिके समय सर्व प्रकारके दोष(भय) होते हैं, इनको उनकी स्फुरणा भी न हुई, इससे ही सारी रात्रि वहां आनन्दपूर्वक रहे. रात्रिके समय नींदने सताया होगा? कैसे वार्ता कर सके ह्यॄगे? इसपर कहते हैं कि 'औपगवि' था, अर्थात् जो गौओॄको अपने पास रखता था वह

'उपगु' उसका पुत्र 'औपगवि'. इस नामके देनेका भावार्थ है कि जो गौआृको पालते हैं वे प्रायः रात्रिको जागरण करते हैं कि कोई गौको चुराके न ले जावे जिससे उनकाृ नींद नहीं आती है. उद्धव भी उसका पुत्र है अतः नींद न आना इसका सहजधर्म है इसलिए प्रेमसे निर्विघ्न गुणगान करते रहे. रात्रि क्षणमात्रसी हो गई. प्रातः कालमृ वहांसे बदरिकाश्रम गया. हालांकि भगवद्विवयोग था तो भी भगवत्कथासे वहां सम्यक् प्रकारसे रहे. वह ही निवास सुन्दर है जहां समय भगवत्कथासे ही व्यतीत होता है जिससे अन्य विषयाृका अभाव हो केवल भगवत्कथामृतकी वृष्टि होती रहती है यही सिद्धान्त है ।।२७।।

आभासार्थः विपर्यय(उलटी) बुद्धि एवं मायाको भी मिलाकर प्रश्नोत्तर रूपसे ६श्लोकाृमृ निरूपण करते हैं:

राजोवाच

निधनम् उपगतेषु वृष्णिभोजेष्वधिरथ–यूथपयूथपेषु मुख्यः ।
स तु कथम् अवशिष्ट उद्धवो यद् हरिरपि तत्त्यज आकृतिं त्र्यधीशः।।२८।।

श्लोकार्थः राजाने कहा कि जब वृष्णि और भोज वंशीय सर्व यादव मर गए, तब अधिरथियाृके सेनापतियाृकी सैन्यकी रक्षा करनेवालाृमृ जो मुख्य उद्धव था वह कैसे बचा? जब कि तीन गुणाृके अधीश हरिने भी अपने स्वरूपको (आसुरव्यामोहार्थ) त्यागकर दिखाया है ।।२८ ।।

विपर्ययः प्रश्न एव माया सिद्धान्तगोपने।
सिद्धान्तकथनेऽप्यस्य बुद्धिः पर्यवसानगा ।।कारि.१।।

कारिकार्थः प्रश्नमृ ही विपर्यय(उलटी–विपरीत) बुद्धि हुई, सिद्धान्तके छिपानेमृ माया है. सिद्धान्त कहनेपर भी इसकी(परीक्षितकी) बुद्धिमृ वही विचार हुआ कि मैं मरूंगा.

व्याख्याः शुकदेवजी राजाको कथा मात्र कहृगे यह [१]सिद्धान्त है. राजाको यह ज्ञान न हुआ कि इस कथाके [२]सात अर्थ हैं पर इन शब्दाृके तात्पर्यको भी न जाना किन्तु अन्य शब्दाृसे और इन शब्दाृसे जितना संभव हो सका कथा मात्र ही सुनी अतः परीक्षितका इस प्रकार प्रश्न करना उचित ही है क्याृकि उसको भगवत्स्वरूपका अब तक ज्ञान नहीं हुआ है वह परीक्षित जानता है कि यह सर्व ब्राह्मणाृके शापसे ही हुआ जैसे मुझे शाप है तो मैं तक्षकसे ही मरूंगा इस कारणसे पूछता है कि वृष्णिभोजवंशके ६ प्रकारके[३] सर्व यादव नाश हो गए उद्धव कैसे बच

गया? छः कहनेका तात्पर्य सात्विकादिके ख्यापन(प्रसिद्धी)केलिए है. शाप मुख्योंको ही लगता है जिनका कोई प्रयोजन नहीं है ऐसे बहुत होते हैं उनका शापसे कौन सा सम्बन्ध है? इसलिए आगे भगवान्ने कहा है कि ''स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च'' स्त्रियां, बालक और वृद्ध ये शापके भक्ष्य नहीं, वैसे ही यह(उद्धव) भी त्यागी होनेसे शापसे बच गए. यदि यों कहो तो उचित नहीं है क्योंकि अधिकारियोंके जो सेनापति थे उनके सैन्यकी रक्षा करनेमें मुख्य महाबलवान् यह उद्धव है. क्षत्रियोंमें बलकी अधिकता जानी जाती है. यों तो सैन्यके रक्षक जरासन्ध प्रभृति बड़े-बड़े बलवान् राजा थे किन्तु उनसे भी विशेष बलवान् होनेसे यह(उद्धव) सबमें मुख्य रक्षक थे, अतः वह मुख्य होते हुए भी शापसे कैसे बचे यह उद्धव नामसे भी सबसे बलवान् होनेसे मुख्य योद्धा थे. 'उद्‌र्ध्वं हवो यस्य स उद्धवः'. सबकी तुलनामें देखा जाए तो इसका संग्राम (लड़ाई) जोरदार होता. यदि उद्धवका 'उत्सव' अर्थ लिया जाये तो क्षत्रियोंको युद्धसे ही उत्सव(आनन्द) होता है. यदि कहो कि शाप बहुतोंकेलिए था सर्वकेलिए नहीं, यदि यों हो तो शापकी व्यर्थता सिद्ध होती है. यदि कहो कि यह शाप उद्धतोंकेलिए था तो यह कहना भी सत्य नहीं क्योंकि हरिने भी शापको स्वीकार कर यादवाकृतिका संवरण किया है, वे उद्धत तो नहीं हैं किन्तु उनमें उद्धत होनेकी शंका किसीको भी नहीं होती है. तो भी जैसे मनुष्य और वानर एक ही अन्न खाते हैं उस अन्नसे उत्तम वीर्य दोनोंमें समान होते हुए भी पूर्व बीजकी परम्पराके सम्बन्धसे नर और वानरमें भेद होता है. इसी तरह ब्राह्मण और क्षत्रिय एवं यादव और अयादवमें आन्तरिक भेद होनेसे भेद है अतः यादवोंमें कोई विशेष धर्म रहता है जो उनको यादव नामसे प्रसिद्ध करता है. उस धर्मकी निवृतिकेलिए ही शाप था अतः अपनेको यादव प्रसिद्ध करानेकेलिए वह लाक्षण स्वरूपमें दिखाने लगे. उसको ही 'आकृति' शब्दसे कहा जाता है. उस आकृतिको भगवान्ने त्यागा. ऐसी विपरीत बुद्धि राजाकी थी. वास्तवमें भगवान् तीन गुणोंके स्वामी होनेसे सर्व अन्यथा करनेमें समर्थ हैं. वैसा होते हुए भी शापको अन्यथा(झूठा) न किया ।। २८।।

१.इस सिद्धान्तको आचार्यश्रीकृत प्रथमस्कन्धके निबन्धसे समझना चाहिए.

२.इच्छा रहित, भावरहित कालात्मा आत्माराम अकुण्ठित तथा अखंड ज्ञानवाले सदा सावधान और देवरूप भगवान् हैं.

३.छः प्रकारके यादव बतानेकेलिए दो बार बहुवचन दिये हैं.

आभासार्थ: उसकी बुद्धिका ही अनुसरणकर भगवान्‌की तरह उस बुद्धिका लोकमृ स्थापन करनेकेलिए शुकदेवजी दूसरे प्रकारसे समाधान निम्न श्लोकामृ करते हैं :

श्रीशुकः उवाच

ब्रह्मशापापदेशेन कालेनाऽमोघवाञ्छितः ।
संहृत्य स्वकुलं नूनं त्यक्ष्यन् देहम् अचिन्तयत् ।।२९।।
अस्माद् लोकाद् उपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम्।
अर्हत्युद्धवएवाऽद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः ।।३०।।
नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः।
अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु ।।३१।।

श्लोकार्थ: श्रीशुकदेवजी कहते हैं, जिसकी इच्छा कभी भी व्यर्थ नहीं जाती है, वैसे भगवान्‌ने ब्राह्मण शापरूप कालसे अपने कुलका संहारकर, अपने इस यादव देहका संवरण करनेका विचार किया. इस लोकसे शान्ति पानेके अनन्तर अब उद्धव ही आत्मज्ञानियोंमृ श्रेष्ठ रहा है, अतः मुझमृ जो ज्ञान मेरा आश्रय कर रहा हुआ है उसके लेनेका एक मात्र उद्धव ही योग्य अधिकारी है, कारण कि उद्धव अणुमात्र भी मुझसे न्यून नहीं है तथा समर्थ होनेसे गुणोंका प्रभाव उसपर स्वल्प भी नहीं पडता है. इसलिए लोकमृ मेरे ज्ञानका प्रचार करता हुआ यहां रहे ।।२९ -३१ ।।

व्याख्या: ब्राह्मणोंका शाप तो केवल बहाना(मिस) था. किन्तु अपने आज्ञानुसारी काल द्वारा अपने सर्व कुलका संहारकार पश्चात् स्वयं भी सर्व लोकका त्याग करते हुए अर्थात् अधिकारियोंमृ बीजभावसे प्रवेश करते हुए, यों विचार करने लगे. वह कहता है कि 'अस्माद् लोकाद् उपरते'. निश्चयसे अब इस लोकको प्रकटरूपसे त्याग करना है. किञ्च पांच गुणोंका कार्य तो पूर्ण हुआ है, ज्ञान गुणका कार्य शेष रह गया है. वह तो केवल ग्रन्थोंके पढ़नेसे नहीं आता है कारण कि नवीन संशय उत्पन्न होते हैं उनका निराकरण ग्रन्थोंमृ नहीं है, अतः यहां कोई ऐसा योग्य पुरुष होना चाहिए जो उसका(ज्ञानका) प्रचार करे. ज्ञानमृ मेरे अनन्त गुण हैं तो भी जिस ज्ञान गुण(धर्म)का प्रचार करना है, उस ज्ञानके प्रचार(स्थापन)केलिए मैं अथवा उद्धव ही समर्थ हैं, अन्य कोई नहीं है. कारण कि वह ज्ञान मत्सम्बन्धी है. उद्धवके सिवाय दूसरा मुझे नहीं जानता है अथवा मैं

स्वयंको जानता हूं. ''भक्त्या माम् अभिजानाति'' इस गीतावाक्यानुसार ज्ञान पूर्ण भक्त मुझे जानता है. अतः उद्धवको ज्ञानपूर्ण भक्त जानकर अपने स्थानपर उसकी स्थापना की, किन्तु वह ज्ञान मेरा आश्रय करके ही रहता है. 'भग' शब्दसे जो मेरे ६ गुण कहे गए हैं उनमॅू ज्ञान भी मेरा एक गुण है, शब्दका आश्रित जो ज्ञान है वह वाक्यॅूके(शास्त्रवचनॅूके)श्रवणसे सब अधिकारियॅूको प्राप्त हो जाता है. यह ज्ञान तो मदाश्रित होनेसे जब मैं हृदयमॅू आकर स्थित होता हूं तब मेरे साथ आता है, नारदादिकॅूको भी जो ज्ञान है वह शास्त्राश्रित ज्ञान है. वह ज्ञान तो पुष्टिरूप (अनुग्रहात्मक) ज्ञान है. मैं तो अपने स्वरूपमॅू वा भक्तमॅू रहता हूं. अतः भक्तॅूमॅू उत्तम भक्त होनेसे उद्धव ही इस ज्ञान लेनेका अधिकारी है, दूसरे भी ज्ञानी और भक्त हैं. इसमॅू उनसे क्या विशेषता है. इसपर कहा है कि 'सम्प्रत्यात्मवताम् वरः', इस समय आत्मवेत्ताओॅूमॅू यह उत्तम है और अन्य कोई भी मेरे ज्ञानको धारण करनेवाला नहीं है, इस ज्ञानके तीन अंग हैं ज्ञान, भक्ति और पूर्ण जितेन्द्रियता ये तीन किसीमॅू भी नहीं हैं. किसीमॅू एक हो वा दो हो तो भी यह ज्ञान नहीं ठहरता है. यह काल ऐसा है सबको ही अजितेन्द्रिय कर देता है. इस कारणसे तीनॅू गुणॅूसे युक्त इस समय एक उद्धव ही आत्मवेत्ताओॅूमॅू श्रेष्ठ हैं ।। २९-३०।।

किन्तु ज्ञानका आधार बननेकेलिए जिन गुणॅूकी अपेक्षा है वे मुझमॅू ही हैं तथा उद्धवमॅू भी सर्व प्रकारसे सब गुण हैं. अतः मुझमें उद्धव अणु मात्र भी न्यून नहीं है. उसमॅू प्रमाण देते हैं कि गुण उद्धवको अपने वशमॅू नहीं ला सकते हैं जिससे वह गुणाधीन न होनेसे उनसे पीड़ित नहीं होता है. अर्थात् संसारमॅू डूबता नहीं है, इस मेरे ज्ञानका वही अधिकारी है, जिसको गुणॅूसे क्षोभ नहीं होता है. गुण ही बहुतकर हृदयमॅू क्षोभ करते हैं. बहुत क्या कहॅू, गुणॅूके क्षोभसे ब्रह्मा भी नहीं छूटा है. केवल यह(उद्धव) ही गुणॅूसे क्षोभ नहीं पाता है. उसमॅू कारण बताते हैं कि 'प्रभु' समर्थ हैं. स्वभावको नियममॅू रख सकता है. जो स्वभावको नियममॅू रखे वह ही शूर है. शूर ही लोकमॅू प्रभु(समर्थ) होता है तथा इस शास्त्रमॅू जो इस प्रकार स्वभावको जीतता है वह ही प्रभु(समर्थ) है. वैसे उद्धव ही हैं, क्षत्रिय हैं, शूर हैं, सम्बन्धी हैं और पितृव्य(काका) होकर भी नीचसे नीच भावसे(दीनसे दीन भावसे) सेवा करते हैं. यह ही स्वभावको जीतना है. भगवान्ने इसको ही प्रभु(समर्थ) माना है. अतः मेरा ज्ञान अधिकारीको ग्रहण कराता हुआ भक्ति तथा ज्ञानोपदेशसे जितेन्द्रियत्व सिखाता हुआ इस लोकमॅू रहे, यों भगवान्ने विचारा,

यों(वाक्यका) सम्बन्ध है ।। ३१।।

आभासार्थ: पश्चात् जैसे भगवान्ने आज्ञा दी थी वैसे ही करने लगे. यॄ इस श्लोकमॄ कहते हैं:

एवं त्रिलोकगुरुणा संदिष्टः शब्दयोनिना।
बदर्याश्रमम् आसाद्य हरिम् ईजे समाधिना ।।३२।।

श्लोकार्थ: वेद कर्ता तीन लोकाॄमॄ जगद्गुरुकी इस प्रकारकी आज्ञा पाकर उद्धव बदरिकाश्रम जाकर समाधिसे हरिका पूजन करने लगा ।।३२ ।।

व्याख्या: इसी तरह हरिने उद्धवको प्रमेय(ज्ञान) समझाकर आाज्ञा की कि तू यहां ठहर. यह आज्ञा पाकर उद्धवने विचारा कि यह आज्ञापालन मुझसे होना कठिन है किन्तु 'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया', गुरुआॄकी आज्ञा पाकर बिलकुल न मानना उचित नहीं है. कुछ न कुछ वह तो माननी ही है. अतः जगद्गुरुकी आज्ञा स्वशक्तिके अनुसार पालन ही करनी चाहिए. यों निश्चयकर आज्ञाका पालन करने लगा. भगवान्ने जब सबको अनधिकारी जाना तब उद्धवको ऐसे कार्यकेलिए कैसे स्थापित किया? इस शंकाके उत्तरमॄ कहते हैं कि 'शब्दयोनिना', वह भगवान् ही वेदके रचयिता हैं. सर्वके अधिकारानुसार पदाॄके अर्थोंको कहते हैं. जहां(जिसमॄ) ही उसके अधिकारानुसार आप प्रवेश करते हैं वह ही अधिकारी बन जाता है, इसलिए भगवान्को अधिकार वा अनधिकार देखनेकी आवश्यकता नहीं है. ''**प्रजापतिः आत्मनो वपाम् उदखिदत् ... स एतं प्राजापत्यम् अजं तूपरमालभेत**'' अर्थात् प्रजापतिने अपनी चर्बी खेंच ली, यहांसे प्रारम्भकर उसने इस प्रजापतिसे बना हुआ तूपर इस प्रकारका खिलोना प्राप्त किया. इसी प्रकार तूपर कोई बना नहीं सकता है, तो भी उसमॄ ही सर्व प्रकारसे क्रीड़ा करते थे. कर्ममॄ जिसको ही यजमान बनाकर क्रीड़ा करना चाहते हैं, उसको ही अपने प्रवेशसे वैसा बना देते हैं, अतः यहां भी वेद कर्ताने उपदेश दिया है कि बदरिकाश्रममॄ जाकर भगवद् भक्ति कार्यकी सिद्धिके लिए दूसरा साधन बन सके. अतः सर्वदुःख हर्ता भगवान् अपने मनके क्लेशको भी दूर करेगा. इसलिए समाधिमॄ उनका पूजन किया अतः भगवदाज्ञासे यहां ठहरे हैं. इससे शापादि इसमॄ बाधक नहीं हो सकते हैं वा न साधक हो सकते हैं. यादव भावका त्याग भी वास्तविक नहीं है. अब भी भगवान् यादव हैं ऐसे भक्ताॄके अनुभवसे जाना जाता है. लोक प्रतीतिसे लीलामॄ जो कर दिखाया(आकृति संवारण) वह भी स्वेच्छासे

ही किया है, शापादिसे नहीं ।।३२।।

आभासार्थ: प्रसंगसे की हुई कथाको इस प्रकार पूर्णकर अब इस निम्न श्लोकसे चालू कथाको कहते हैं :

विदुरोऽप्युद्धवात् श्रुत्वा कृष्णस्य परमात्मनः ।
क्रीडयोपात्तदेहस्य कर्माणि श्लाघितानि च ।।३३।।
देहन्यासं च तस्यैवं धीराणां धैर्यवर्धनम् ।
अन्येषां दुष्करतमं पशूनां विक्लवात्मनाम् ।।३४।।
आत्मानं च कुरुश्रेष्ठ! कृष्णेन मनसा धृतम् ।
ध्यायन् गते भागवते रुरोद प्रेमविह्वलः ।।३५।।
कालिन्द्याः कतिभिः सिद्ध अहोभिः भरतर्षभ! ।
प्रापद्यत स्वःसरितं यत्र मित्रासुतो मुनिः ।।३६।।

श्लोकार्थ: क्रीडार्थ देह धारण करनेवाले परमात्मा श्रीकृष्णके प्रशंसनीय कर्म धीर पुरुषोंके धैर्यको बढानेवाले तथा भयभीत पुरुषोंसे एवं पशुओंसे जो कार्य न होनेवाले तथा उसके देह त्यागका अपूर्व प्रकार उद्धवसे सुना और हे कौरवोत्तम श्रीकृष्णके मनकी बात भी सुनी, अनन्तर जब उद्धव रवाना हो गए तब सब बातोंका ध्यान करते हुए विदुर प्रेम विह्वल हो रोने लगा, 'हे भरतर्षभ' कितने ही दिन कालिन्दी द्वर(?) बिराज सान्त्वना सिद्ध की, पश्चात् मित्राका पुत्र(मैत्रेय) जहां देव नदी पर था वहां कुशलतासे प्राप्त हुआ ।।३३-३६ ।।

व्याख्याः सिद्धान्त न सुननेके कारण विपरीत ज्ञान और मायाका सम्बन्ध विदुरको भी हुआ था अतः उसके शेष भाग रह जानेसे विदुरकी कथा भी कही जाती है. इस कारणसे ही आगे विदुर अन्यथा(विपरीत) कथा कहेगा. 'स एष भगवान् कालः सर्वेषां नः समागतः', अर्थात् यह कालरूपी भगवान् सबकेलिए आया है. जैसे उद्धव बदरिकाश्रम गए वैसे ही विदुर भी देव नदीपर गया, मध्यमें जब तक वहां कालिन्दी पर था तब तक मुझे पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है यह प्रकट करनेकेलिए भगवदीय उद्धवके जानेपर स्वयं विदुर प्रेमसे विह्वल होकर रोने लगा. रोनेका कारण भगवान्के जो चरित्र सुने थे उनकी स्मृति हो आनेसे प्रेम उभरा, जिससे रोनेको रोक न सका क्योंकि चरित्रोंमें जो भगवान् की मोहक लीलाएं सुनी थीं और भक्तोंपर भगवान्ने लीलाओं द्वारा दुःख दूरकर कृपा की थी वे चरित्र भी सुने थे. ये चरित्र सात्त्विकराजसादि त्रिविध थे अतः त्रिविध प्रेम बढ़

आया, जिससे रोने लगा यह भी शंका मनमृ न हुई कि ये सच्चे हृागे वा नहीं? क्यृाकि उद्धवके मुंहसे सुने थे अतः सच्चे ही हैं यह निश्चय था.

लोक प्रसिद्धिके अनुसार पदार्थोंका निरूपण करते हैं. श्री कृष्णके चरित्र भक्ति जनक हैं. इसलिए स्वरूपके माहात्म्य दिखानेकेलिए 'परमात्मन्' नाम कहा है. विदुरके अधिकारसे ही यृा कहा है, स्मृत्यनुसार ही उसको भगवत् स्वरूपका ज्ञान है. परमात्माका तात्पर्य है पुरुषोत्तम, आत्मा होकर वह ही परम (उत्तम) है. चिन्तामणि आदि भी लोक प्रतीतिसे उत्तम है किन्तु उनमृ आत्मापन नहीं है और जीवमृ भी परमत्व नहीं हैं. अतएव दोनृा प्रकारसे भगवान् ही जाना जाता है. इसलिए उसी तरह 'परमात्मन्' नाम कहा है. जैसे बालक नटका रूप धारणकर राजा, सेवक और चोर बनते हैं वैसे ही भगवान्ने बालकके समान कपट मानुष रूप धारण किया, जिसको ही लोकमृ भगवान्ने देह धारण किया कहते हैं. उस लीला तनुसे ही सब भूभार हरणादि कार्य और गोवर्द्धन धारण आदि लीलाएं कीं. 'च' पदसे गुप्त चरित्र जैसे गोपिका रमण आदि अद्भुत चरित्र हैं ।।३३।।

'देहन्यास' देहका कारणमृ स्थापन करना अथवा शब्दके छलसे नटकी तरह किया हुआ त्याग, उद्धवसे जिस तरह सुना वैराग्यका जिनका ध्यान है ऐसे धीर पुरुषृाका धैर्य(साहस) बढ़ानेवाला जैसे सर्वपरित्याग किया वैसे योगसे ही इस स्वरूपका भी त्याग करना चाहिए. स्वरूपके तिरोहित होनेसे फलका प्रदर्शन हो गया जिससे दूसरे किसी क्लेशका अनुसन्धान नहीं करना चाहिए इसलिए यह लीला धैर्य बढ़ानेवाली है. जो देहात्मवादी अविवेकी हैं उनको इससे धैर्य होना अत्यन्त दुष्कर है. इस प्रकार अन्य कोई करनेकेलिए समर्थ नहीं है. पशु अर्थात् जो अपने हित अहितको पहलेसे ध्यानमृ नहीं लाते हैं, उनमृ भी जिनके अन्तःकरणमें सदैव मरनेका भय रहता है, ऐसे मूर्ख मनुष्य जो मूर्खतासे भी ऐसा साहस नहीं कर सकते हैं वे पशुओृसे गए गुजरे हैं ।। ३४ ।।

विदुरने यह भी सुना कि भगवान्ने मनमृ मुझे भी याद कर रखा है अर्थात् मेरे हितका भी भगवान्को ध्यान है. हे कुरु श्रेष्ठ! यह संबोधन इसलिए दिया है कि उसके पूर्वजृाके किए हुए पुण्य कर्म, इसी प्रकार उनके वंशजृाके भीतर होनेसे उपयोगी हृागे. 'च' पदसे यह सूचित किया है कि मुझे(विदुरको) उपदेश देनेके लिए मैत्रेयको भी आज्ञा दे दी है. केवल स्मरण नहीं किया था किन्तु मुझको मनमृ स्थापित किया है. ''**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**'' इस सिद्धांतके विपरीत बहिर्मुख वा जो

पलायन कर गया हो उसको भी हृदयमृ रखा ऐसे उद्धवसे सुना. अतः उस भगवत्कृपापात्र और ध्यान करते हुएका उद्धव, भगवान्के अन्य भी गुण थे वे नहीं सुना सके, अब तो वे भगवदीय पधार गए याृ कहके रोने लगे. प्रेमसे विह्वल हो मूर्च्छित हो गए याृ भावार्थ है ।।३५।।

व्याख्या: प्रेमसे विह्वल होनेसे जब विदुर मूर्च्छित हुए तब भगवान् पधार कर सकल उपदेश सुनाके तिरोहित हो गए. इस प्रकार सिद्ध होकर ज्ञानादिसे युक्त हो मूर्च्छासे जगे, उठकर निधि प्राप्तिके स्थान कालिन्दीके तटसे पुरुषार्थ प्राप्त कर, कितने ही दिनाृमृ देव नदीपर सुख पूर्वक आ पहुंचे. यह मोहभाव मनुष्याृको ही होता है देवताआृको नहीं होता है. गंगा मनुष्यको देव बना देती हैं अतः यह विद्यमान होते हुए भी देव नदी ही कही जाती है. 'भरतर्षभ' इस सम्बोधनसे यह सूचित किया है कि फलमृ प्राप्त होनेवाले विवेकको परीक्षितने प्राप्त कर लिया है अतः उसको माया मोह नहीं है. कितने ही(थोड़े ही) दिनाृमृ कहनेका तात्पर्य है मध्यमृ किसी प्रकार प्रतिबन्ध(रुकावट करनेवाला) काल नहीं आया अतः बिना क्लेशके सुख पूर्वक वहां(देव नदीपर) पहुंच गए. वहां जानेका कारण यह था कि जगत्की मित्राके पुत्र मैत्रेय भी जगत्का हित करनेवाले थे. वहां स्वभावसे ही सबको कृतार्थ कराृगे(करते हैं),(मुझे भी कराृगे). दूसरे स्थानपर क्याृ न गए? इस शंकाका निवारण करता है कि वह मुनि भी हैं और जानते हैं कि विदुर उपदेशार्थ मेरे पास आएगा, ऐसा ही देश और वक्ता भगवत्कथामृ फल साधक होता है, याृ जताया है ।। ३६ ।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके अध्याय ४ की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ५

विदुरजीका प्रश्न और मैत्रेयजीका सृष्टिक्रम वर्णन

चतुर्णां सर्ग आद्योऽत्र ह्यधिकारे निरूपितः।
पुरुषत्वाय कृष्णस्य चतुर्भिः सर्ग ईर्यते ।।कारि.१।।

कारिकार्थः इस तृतीय स्कन्धमॄ अधिकार विषयक चारकी आद्य सृष्टि कही, श्रीकृष्णके पुरुषरूपसे प्रकट होनेकेलिए चारसे सृष्टि कही जाती है ।।१ ।।

सएव भगवल्लीलां श्रोतुम् अर्हति तत्त्वतः।
अन्यथाऽन्यो हि मनुते ह्यधिकारस् ततो हितः।।कारि.२।।

कारिकार्थः वह(ऐसा अधिकारी) हो वास्तवमॄ भगवल्लीला श्रवण करनेके योग्य है क्यॄकि दूसरा(अनधिकारी) तो इसको(भगवल्लीलाको) कल्पित मानता है, इसलिए अधिकार ही हितकर होना आवश्यक है ।।२ ।।

कृष्णार्थसृष्टौ भूतानि जातान्येवेति निश्चयः।
वेदे पञ्चभिरेवाऽस्य पुरुषत्वकथोदिता ।।कारि.३।।

कारिकार्थः कृष्णार्थ उत्पन्न सृष्टिमॄ उत्पन्न होने मात्रसे ही महाभूत हैं यॄ निश्चय है. वेदमॄ न इनके(श्रीकृष्णके) पुरुषत्वकी कथा आकाशादि पांचकी उत्पत्तिसे ही कही है ।।३ ।।

त एव बहुधा व्यस्ताः तस्मात् तत्त्वानि तानि वै ।
भोगः शरीर एवेति मात्रास् तत्र निरूपिताः।।कारि.४।।

कारिकार्थः उन पांचो(आकाशादि)का बहुत प्रकारसे अर्थात् २३ तत्त्व रूपसे पृथक् पृथक् वर्णन किया है. भोगशरीर(ब्रह्माण्डरूप शरीर)मॄ ही होता है इसलिए छठे अध्यायमॄ ही 'मात्राआॄ'का निरूपण किया है ।।४ ।।

नानाविधानि शास्त्राणि तैः सन्देहविनिश्चयौ ।
मनो भगवतो ह्युक्तं तेनैवेन्द्रियसङ्कथा।।कारि.५।।

कारिकार्थः शास्त्र अनेक प्रकारके हैं उनसे सन्देह और निश्चय होता है इनको भगवान्का मन कहा गया है. जिस अनुमानसे सन्देह और निश्चय करने वाले शास्त्रॄको मन कहा है उसी अनुमानसे शेष अन्यॄको इन्द्रियां कहा है।।५।।

बुद्धिर् भगवतो ब्रह्मा तत्कार्यं च निरूप्यते ।
स्तुतिप्रसादौ कार्याणां भूतान् इत्येष निश्चयः।।कारि.६।।

कारिकार्थः ब्रह्म भगवान्की बुद्धि है उसका कार्य निरूपण किया जाता है, ९वृ अध्यायमृ कार्योंकी स्तुति तथा प्रसाद(प्रसन्नता) कही है अतः वे [१]महाभूत ही हैं याृ निश्चय है ।।६ ।।

१.ब्रह्माण्डस्थ व्यक्ति पृथक् और साथमृ रहनेसे तथा स्तुति, प्रसाद ऐसे ये ४ कार्य सृष्टिमृ महाभूत ही कहे जाते हैं.

ततस् तेषां शरीराणि मात्रा एव हरेर् यथा ।
कालएवेन्द्रियाण्येषां तत्रासक्तो म्रियेत वै ।।कारि.७।।

कारिकार्थः इस कारणसे जैसे हरिके, वैसे उनके शरीर तन्मात्रा ही हैं, उनकी इन्द्रियां ही काल हैं. उनमृ जो आसक्त होता है वह मरेगा ही ।।७ ।।

बुद्धिस् तेषां महात्मानो वेदा मन्वादयस् तथा ।
तत्रोक्तैरेव यद्युक्तम् उक्तं तेषां हिताय तत् ।।कारि.८।।

कारिकार्थः वेदाृ(मन्त्रादि) एवं मनु आदि महात्मा गण उनकी बुद्धि हैं अतः वेदादि एवं मनु आदि महात्माआृने जो कुछ कहा है वह उचित ही है क्याृकि उनकेलिए हितकारी है ।।८ ।।

कार्योपयोगितत्त्वानां पञ्चमे विनिरूप्यते ।
उत्पत्तिर् यादृशैः कार्यं तद्भावश्च निरूप्यते।।कारि.९।।

कारिकार्थः कार्योपर्योगी तत्त्वाृकी उत्पत्ति और जिससे कार्य सिद्ध हो वैसी स्थिति पांचवे अध्यायमृ निरूपण की जाती है ।।९ ।।

प्रश्नाभिनन्दने चाङ्गं सर्वत्रैव हरेः कृतौ ।
अतोऽत्र भगवत्प्रश्नः षड्विधो विनिरूप्यते ।
वैराग्यादिः सृष्टिमार्गे विपरीतप्रवेशतः।।कारि.१०।।

कारिकार्थः हरिके कार्यमृ सर्वत्र ही प्रश्न और उसका अभिनन्दन अंग है सृष्टिके मार्गमृ विपरीत रीतिसे प्रवेश होनेसे भगवत्सम्बन्धी वैराग्यादिका प्रश्न ६ प्रकारसे निरूपण किया जाता है ।।१०।।

आभासार्थः इस विषयमृ प्रथम उन दोनाृ(विदुर और मैत्रेय)की कथा कहनेकेलिए उनके सम्बन्धका वर्णन करते हैं:

श्रीशुकः उवाच

द्वारि द्युनद्या ऋषभः कुरूणां मैत्रेयम् आसीनम् अगाधबोधम् ।
क्षत्तोपसृत्याऽच्युतभक्तिशुद्धः पप्रच्छ सौशील्यगुणाभितृप्तः।।१।।

श्लोकार्थ: श्रीशुकदेवजीने कहा कि अच्युत भगवान्‌की भक्तिसे पवित्र जितेन्द्रिय कौरवोमृ श्रेष्ठ(विदुरजी) गंगाके द्वार अर्थात् ब्रह्मकुण्डपर विराजमान अगाध ज्ञानवाले मैत्रेयजीके पास जाकर, उनके सुशीलता आदि गुणृसे पूर्ण तृप्त(प्रसन्न) होके पूछने लगे ।।१।।

व्याख्या: सर्वोंके, देवता सिद्धिकेलिए प्रवृत्त हुए जो देव नदी, वह मुझसे भी पहले ही समीचीन(उचित) कार्य कराएगी, इसलिए भगवदाज्ञासे मैत्रेय वहां ही जाकर 'गंगाद्वार'पर ठहर गए अर्थात् ब्रह्मकुण्डपर ही बिराजे, यृ मेरा विचार है, वहां रहनेका कारण यह है कि, उस स्थानपर भगवान्‌का सदैव सान्निध्य रहता है. 'कौरव श्रेष्ठ' कहनेका भावार्थ यह है कि इस(विदुर)ने जो साहस(उद्यम) किया है उसका फल अवश्यम्भावी है. 'मैत्रेय' नामसे यह सूचित किया है कि वे सबके हितकारी हैं और शान्त बैठे हैं किसी प्रकार व्यग्र नहीं हैं और अगाध बोध(ज्ञान)वाले हैं इससे यृ जताया है कि मेरी(विदुरकी) बुद्धि(ज्ञान) इनके ज्ञानोदधिमृ डूब जाएगी अर्थात् मेरे सर्व संशय मिट जाएंगे. 'क्षत्रा' कहनेका अभिप्राय है कि वह पहलेसे ही जितेन्द्रिय एवं निपुण है. अच्युत भगवान्‌की भक्तिसे शाप अधिकारादि तथा बीजपात योनि दोषादिसे अशुद्ध थी वह सर्व अशुद्धि मिट गई है, जिससे शुद्ध हो गया है, ऐसा विदुर पास जाकर और विधिके अनुसार समीप गया तो उसके सुशीलतादि गुणृसे पूर्ण तृप्त(प्रसन्न) हो पूछने लगा क्यृकि यह बताएगा वा नहीं? ऐसी सन्देहरूप जो क्षुधा थी वह गुणृके ज्ञान होनेसे निवृत्त हो गई(मिट गई) ।।१।।

आभासार्थ: छः प्रश्नृमृसे एक वैराग्य है, जिसकेलिए कौनसा उपाय करना चाहिए यृ प्रश्न करते हुए भी स्वभावतः वैराग्यके कारणृका इसकेलिए कोई प्रयोजन नहीं है, क्यृकि यह स्वतः वैराग्यवान् है:

विदुरः उवाच

सुखाय कर्माणि करोति लोको न तैः सुखं चाऽन्यद् उपारमं वा ।
विन्देत भूयस् तत एव दुःखं यद् अत्र युक्तं भगवान् वदेन् नः।।२।।

श्लोकार्थ: विदुरने कहा कि लोक सुखकी प्राप्ति करनेकेलिए कर्म करते हैं जिससे न सुख मिलता है और दुःखका अभाव होता है किन्तु उससे विशेष दुःखका ही अनुभव होता है अब इस विषयमृ जो कुछ करना उचित हो, हे भगवान् वह बताइए।।२ ।।

व्याख्या: लोकमॄ फल दो प्रकारके हैं १.दुःखका न होना और २.सुख होना. दुःख सुखका प्रतिबन्धक है और दुःखका अभाव भी एक प्रकारसे सुखका हेतु होता है, अत: लोक जो कुछ व्यापार(उद्यम) करते हैं वह सुखकी प्राप्तिके लिए ही करते हैं किन्तु देखा जाता है प्रायः उससे कभी भी सुखको नहीं पाते हैं, 'लोक' शब्द ही इसके प्रमाणको दिखा रहा है. 'च' पदसे यॄ सूचन किया है कि सुख प्राप्तिका उपाय, पहला सुख भी गवां देता है किन्तु दुःखका अभाव भी नहीं होता है, क्वचित् फलके जो प्रतिबन्धक हैं उन प्रतिबन्धकॄको रोकनेमॄ ही साधनॄका पर्यवसान(अन्त) हो जाता है, यॄ देखा गया है, उसके परायणमॄ भी नहीं होता है, यदि यॄ होवे तो सहज सुख हो जावे. किञ्च प्रत्युत उनसे ही दुःख हो जाता है, फिर सहजसे भी विशेष दुःख प्राप्त होता है. उस दुःख प्राप्तिका कोई दूसरा साधन देखनेमॄ नहीं आता है, जिस साधनसे सुख प्राप्तिकी इच्छा की उससे ही दुःख प्राप्त हुआ, इन साधनॄसे सुख मिलेगा ऐसा ज्ञान तो अन्ध परम्परासे मिला है. यदि ऐसा है तो लोक उन साधनॄको छोड़ नहीं देते हैं. इसपर कहते हैं कि अपना आग्रह है, जिससे छोड़ नहीं सकते हैं. कहते हैं कि हमारे आगेके लोकॄने यॄ ही किया है. विपरीत फल देखनेपर भी परम्पराकी श्रद्धा उसके त्यागमॄ बाधा डालती है, ऐसे अर्थमॄ(विषयमॄ) उलटा फल देखकर भी जब उसके करनेसे रुकते नहीं हैं तब केवल कहनेसे कैसे रुकॄगे? इस कारणसे वैराग्यकेलिए प्रश्न किया है अथवा जिस उपायसे अव्यभिचारादि सुख प्राप्त होवे वह उपाय कहना चाहिए. वह आपका बताया हुआ प्रमाण, लोकसे निराला होगा, क्यॄकि आप बतानेवाले 'भगवान्' हैं, इन लोगॄकेलिए भगवान् जो कहें वह ही प्रमाण है. अतः हम अपनेलिए पूछते हैं इसलिए यॄ पूछना प्रसङ्गान्तर नहीं है. 'वदेत' यह क्रिया प्रार्थनार्थमॄ कही है ।।२।।

आभासार्थ:यदि मैत्रेयजी कहें कि हमको भगवदाज्ञा तुमको तत्त्वोप-देशार्थ है, न कि ऐसे प्रश्नॄके उत्तर देनेकेलिए, ऐसी शंकापर यह श्लोक कहा है:

जनस्य कृष्णाद् विमुखस्य दैवाद् अधर्मशीलस्य सुदुःखितस्य।
अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य ।।३।।

श्लोकार्थ: दैव(भाग्य)के कारण श्रीकृष्णसे विमुख अधर्म करनेके स्वभाववाले अतियश दुःखीजनॄपर निश्चयपूर्वक अनुग्रह करनेकेलिए जर्नादन भव्यभूत इस पृथ्वीपर परिभ्रमणकर रहे हैं ।।३ ।।

व्याख्या: आपको भगवान्‌की दोनॄ प्रकारकी(सामान्य और विशेष) आज्ञाएं हैं. यह जो मैं पूछ रहा हूं उसका उत्तर सामान्याज्ञासे देना चाहिए, क्यॄकि भगवान्‌ने आपको इसीलिए ही रचा है, यदि यॄ न हो तो भगवदीय पैदा ही न होवॄ. उनको अपनेलिए पैदा होनेका कोई प्रयोजन नहीं है, इस कारणसे ही ऐसे परोपकारार्थ उत्पन्नॄकेलिए 'भूत' पदका प्रयोग किया है. जन्म देता है यह आशय है, केवल शब्द मूलसे भी वे मिल जावें तो भी अपने समान कर देते हैं, यॄ तात्पर्य है, यदि लोगॄका ऐसा भाग्य भी न होवे तो भी वे स्वयं उनके भाग्यरूप बनकर उनको स्वसमान कर ही देते हैं इसलिये 'भव्यानि' विशेषण दिया है, अतः लोकॄके उपकारार्थ पधारे हुए आपको प्राणीमात्रकी शंका निवारणार्थ प्रश्नॄका उत्तर देना आवश्यक है. जन्मसे ही जाना जाता है कि यह(जीव) भगवद् विमुख है. यदि भगवद् विमुख न होवे तो जन्म ही न लेवे और इसकी प्रवृत्तिसे भी जाननेमॄ आता है कि यह भगवद् विमुख है, वह विमुखता भी 'श्रीकृष्णसे है' जो श्री कृष्ण मूल सच्चिदानन्द हैं उनसे विमुखता होना महान् आश्चर्यका विषय है, जन्मके बाद भी जो विमुख रहकर अधर्मके कार्य करनेके स्वभाववाला होता है जिसका कारण, पूर्व जन्ममॄ आसुर सम्पद्‌के कर्म करनेसे उसका दैव(प्रारब्ध) ऐसा बन गया है अतः उसको स्वभावसे अधर्म कार्य करना ही पसन्द आता है, स्वाभाविक धर्म(गुण) कोई भी मिटा नहीं सकता है, इसलिए ही वह विशेष दुःख होता है. अन्यथा यदि दुःखी न होवे तो उस(भगवान्)का [1]अनुग्रह भी न माने, इस लोकमॄ, सिवाय भगवदीयॄके दूसरा कोई दुःखके निवारणमॄ हेतु नहीं बन सकता है यह निश्चित सिद्धान्त है, [2]दोनॄमॄ किसी प्रकारका सन्देह नहीं है, इसमॄ कारण 'जनार्दनस्य' पदसे बताया है, सर्व लोकको उत्पन्न करनेवाली मायाको दूर करने वालेकी मायाका जिससे पीड़न होता है वैसे जनार्दन हैं. जो जन्मके मूल कारण(माया)को ही रोक देते हैं . उनके सेवक(भगवदीय) भी वैसा ही कार्य कर लोकॄपर अनुग्रह करते हैं ।।३।।

१.सत्कुलमॄ जन्म, सुन्दर देह आदिकी प्राप्ति. २.भगवदीय दुःख मिटा सकते हैं. दूसरा कोई नहीं मिटा सकता है. इसलिए भगवान् और भगवदीय.

आभासार्थ: यदि इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌का भजन करना चाहिए जो ही अव्यभिचारी सुखका कारण है, तो उसकेलिए उपाय बताइए, यॄ निम्न श्लोकसे कहते हैं(पूछते हैं):

तत्साधुवर्यादिशवर्त्म शं नः संराधितो भगवान् येन पुंसाम् ।
हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूते ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम् ।।४।।

श्लोकार्थः हे साधूत्तम! वह कल्याणकारी मार्ग बताइए जिससे [1]समाराधित भगवान्, भक्तिसे पवित्र हृदयमृ विराजमान होके तत्त्वज्ञान सहित पुराण ज्ञान देते हैं ।।४ ।।

व्याख्याः यदि भगवद् भजनसे ही प्राणी कृतार्थ होता है तो वह मार्ग बताइए. भगवत्प्रेरणासे अथवा भगवदाज्ञारूप वेदके अनुसार कर्म करनेपर भी भगवान् प्रसन्न नहीं होते हैं क्यृकि यदि प्रभु प्रसन्न होवें तो दुःख निवृत्त हो जाता है वह निवृत्त नहीं हुआ है, जिस मार्गसे सम्यग् रीतिसे आराधित भगवान् प्रसन्न होके ज्ञान देते हैं वह स्थिर, विशेष हितवाला, सर्वलोक प्रसिद्ध उपाय कहिए, यृ प्रश्न है.

वह मार्ग जिसकेलिए मेरी जिज्ञासा है वह कल्याणरूप हो. एवं साधन दशामृ भी सुखरूप हो. जैसे विमानकी सवारी सुखरूप है, ऐसा मार्ग गूढ़ है और अतिशय अभीष्ट(प्रिय) है, जिसको आप ही बता सकते हैं, कारण कि, आप साधुअृमृ उत्तम साधु हैं. यृ तो साधारण हित, प्रत्येक साधु बता सकता है, किन्तु इस प्रकारका हितमार्ग जो साधनदशामृ भी सुखरूप हो और अन्तमृ भी कल्याणप्रद हो वह गूढ़ तथा अभीष्ट होनेसे वह साधुवर्य बता सकते हैं. जो भगवद्भक्त तथा ब्रह्मवेत्ता होते हैं, कारण कि वैसे उत्तम साधु सबको अपनी आत्मा जैसा ही समझते हैं, ऐसे योग्य भक्तवर, साधूत्तम आप ही हैं. अतः जिस मार्गपर चलनेसे प्रथम भगवान् प्रसन्न होते हैं. भगवान् षड् भग(गुण) वाले हैं. अतः उनको प्रसन्न करना कठिन है. कोई भी ऐसी वस्तु हमारे(जीवके) पास नहीं है, जिस वस्तुको देकर भगवान्को प्रसन्न किया जाए, जैसा कि कहा है "**किमासनं ते गरुडासनाय**", तथा भगवान् मर्यादारहित अनेक गुणृवाले होनेसे भी उनको प्रसन्न करना सरल नहीं है.

'पुंसाम्' इस पदसे सूचित किया है कि 'काकतालीयन्याय"[2]की तरह कोई अचानक उपाय, बहुतृका मार्ग नहीं बनता है किन्तु भगवान् अन्तर्यामी हैं वह ही अपने स्वभावसे अथवा जीवके स्वभावका अनुसरण कर सबको ही अनेक प्रकार प्रेरणा करते हैं . दोनृ तरह प्रेरणा करते हुए [3]प्रेम धर्मसे आविष्ट हो जाते हैं, यदि पहलेकी तरह ही हृदयमृ प्रेरणा करे तो किया हुआ भजन भी व्यर्थ हो जाए

अतः वैसा आप कहिए जिससे वह ही अन्तर्यामी भक्तिसे पवित्रँ हो जावे जब पवित्र होता है तब ही प्रेरणा कर सकता है. भक्तिसे पवित्र भक्तिकेलिए ही प्रेरणा करता है.

क्यूंकि वह(अन्तर्यामी) स्वभावसे प्रवाहके निर्वाहार्थ ही नियुक्त किया गया है. अतः जैसे प्रवाह सिद्ध हो वैसे ही प्रेरणा करता है, यह उसका स्वाभाविक धर्म हैं, यूं करनेसे अपवित्रकी तरह लोकमूं प्रसिद्ध है, उसका ही बाहरका रूप काल है. जैसे एक हाथसे पकड़ा जाता है, दूसरे हाथसे मारा जाता है वैसे अन्तर्यामीरूपसे प्रवाहमूं यह कहता है, कालरूपसे मारता है अतः दोनूं स्वरूपूंको पवित्र करनेकेलिए दो मार्ग रचे हैं. कालको पवित्र करनेकेलिए वेद रचे हैं. अन्तर्यामीको पवित्र करनेकेलिए भक्तिको रचा है. उस मार्गसे चलनेवाला जैसे याज्ञिक सोमवल्ली पानसे पवित्र होता है वैसे वे दोनूं रूप भी यूं पवित्र होते हैं. वेदसे पवित्र काल मारता नहीं है, भक्तिसे पवित्र अन्तर्यामी भक्तिके सिवाय दूसरेकेलिए प्रेरणा नहीं करता है. यह पवित्र होना अशुद्धको शुद्ध करना नहीं है किन्तु सोमकी तरह मारने और संसारमूं पटकनेके मार्गसे निकालकर उस मार्गपर ले जानेकेलिए है. अन्यका अन्यपर अर्थात् परस्पर आश्रय होनेसे यह अर्थ सिद्ध नहीं होता है इसलिए यह प्रश्न किया है.

गुरुके उपदेशसे यह अर्थ(कार्य) सिद्ध नहीं होगा, किन्तु जो हृदयमूं स्थित है वह जब स्वेछासे प्रेरणा करे तब बाहरके उपदेशकी क्या आवश्यकता रहती है? अतः भगवान्ने जो आपको कहा है कि विदुरको यह ज्ञान देना, वह कार्य, बिना अन्तर्यामीके समाधान(प्रसन्नता)के सिद्ध नहीं होगा, अतः प्रथम उसकी ही(भगवान्की ही) आराधना करनी चाहिए. उस आराधनासे भगवान् प्रसन्न हूंगे. प्रश्नानन्तर भगवान्के दिए हुए प्रेमकी प्राप्ति होगी, पश्चात् प्रेम भक्तिसे उस ही अन्तर्यामीके ज्ञान देनेकेलिए प्रेरणा होगी, मुझे जो जो पूर्व प्राप्त नाना प्रकारके ज्ञान हैं, वाक्योपदेश द्वारा जो ज्ञान प्राप्त करूं उससे वे पूर्वज्ञानके विस्मृत हो जावें, तथा पूर्व सिद्ध जो प्रेरणा है केवल उससे उत्पन्न ज्ञान, कार्य पूर्ण नहीं कर सकता है. इसलिए महान् साधनसे भी वाक्य द्वारा सत्ज्ञानका उदय नहीं होता है. जब फिर वह ही(भक्तिपूत) अन्तर्यामी अपना ही गुणभूत ज्ञान उसको देता है तब वह पवित्र हुआ वाक्य ज्ञानका कारण बन जाता है. वह ज्ञान तीन प्रकारका है. १.शरीरात्मा(जीव)का ब्रह्मरूपसे अनुभव. २.सांख्यात्मक(सांख्य

सिद्धान्तानु-सारी) सर्व प्रकारके तत्त्वॄका विवेचन ३.भगवान्के स्वरूपको अशेष विशेष प्रकारसे बतानेवाला. वह त्रिविध(तीन प्रकारका) ज्ञान भी साधनसाध्य फलरूप भक्तिसे पवित्र, भगवान् देता है. 'ज्ञान' अर्थात् ब्रह्मभाव होना वह ब्रह्मभाव भी सर्व तत्त्वॄके ज्ञान सहित होना चाहिए .उसमॄ भी तत्त्वॄके मूलरूप भगवान् सर्वभाव(पदार्थ) रूप हैं ऐसा ज्ञान प्रमाण है अर्थात् सिद्धान्त है ।।४।।

१.सबसे आराधना न किये जानेवाले. २.कौऔंके बैठते ही तालफलका गिरना इस न्यायकी तरह है. ३.जिसको प्रेरणा करनी है उसके धर्मवाले हो जाते हैं.

४.मूल श्लोकमे 'भक्तिपूते सतत्त्व' पद है जो हृदयका विशेषण दीखता है. यहां 'भक्तिपूतः' पाठ लिखकर भक्तिसे पवित्र अन्तर्यामी होता है यॄ अर्थ किया है.

आभासार्थ: यदि कहो कि यह निरन्तर भगवद्गुणॄके श्रवणसे होता है तो इसपर यह श्लोक कहते हैं :

करोति कर्माणि कृतावतारो यान्यात्मतन्त्रो भगवांस्त्र्यधीशः ।
यथा ससर्जाऽग्र इदं निरीहः संस्थाप्य वृत्तिं जगतो विधत्ते ।।५।।

श्लोकार्थ: तीन गुणॄके स्वामी एवं स्वतन्त्र भगवान् अवतार धारणकर जो जो कर्म करते हैं और जिसको सृष्टि करनेसे प्रथम किसी प्रकारकी इच्छा नहीं थी उस निरीहने यह सृष्टि जिस प्रकार रची तथा उसकी(जगत्की) स्थापना करनेके बाद उसकी(जगत्की) वृत्ति(आजीविका) जिस प्रकार कराते रहते हैं यह सब बताईए ।।५ ।।

व्याख्या: अब यह तीसरा प्रश्न है, यह प्रश्न भगवान्के 'श्री' गुणका है. सात प्रकारकी भक्तिकी सिद्धिकेलिए सात पदार्थ यहां पूछे जाते हैं. भगवान्ने अवतार धारणकर जो जो कर्म(लीलाएं) किए, जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ये तीन इनमॄ प्रवेशकर नाना रूप धारण करना, जगत्के प्रकार(तत्त्वभेद तथा स्वरूप भेदसे दो प्रकार), यहां जो सात प्रश्न किए हैं, वे सात क्रमसे पूर्व-पूर्वके साधक हैं. भगवान्ने अवतार धारणकर, जो कर्म किए वे किस लिए किए? यदि कहो कि मोक्ष देनेकेलिए किए तो सृष्टि करनी ही व्यर्थ थी अर्थात् तब सृष्टि रची क्यॄ? यह सन्देह है, यदि कहो कि मोक्षकेलिए ही बनाई है तो अवतार और कर्म व्यर्थ होते हैं, क्यॄकि दोनॄका एक ही प्रयोजन है. मोह न करनेसे ही 'मुक्ति' हो सकती है, फिर अवतार लेने तथा कर्म करनेकी क्यॄ आवश्यकता है? दोनॄ व्यर्थ दीखते हैं. इसलिए भगवान्ने जो 'सृष्टि' रचनेकी लीला की है उसका ज्ञान भी

प्राप्त करना चाहिए.

केवल सृष्टिकी रचनासे कार्यकी सिद्धि न होनेसे जब तक मोक्षकी योग्यता प्राप्त हो तब तक जगत्की स्थितिको भी समझना चाहिए, यदि कहो कि भगवान् अवतार लेकर मोहका नाशकर मोक्ष देते हैं तो भी भगवान्के अवतारकी आवश्यकता सिद्ध नहीं होती है, क्यूंकि शास्त्रोंमे कहे हुए कर्मोंसे ही मोहका नाश हो सकता है. मोह नाशान्तर स्वतः मोक्ष हो जाता हैं.

यदि भगवान् जगत्में विविध प्रकारसे प्रकट न होवें तो उनके अवतारसे सबकी मुक्ति हो जाए अतः भिन्न-भिन्न स्वभावसे प्रेरणा करनेसे और अनेक भाव होनेसे समग्र व्यवस्था होती है, यदि भगवत्कृत लोक एक प्रकारके होवें और ब्रह्माण्डसे बाहर वे न निकल सकते हों, तब भी अवतार तथा अवतारोंके कार्य भिन्न (व्यर्थ.) होते हैं, यदि सबकी एकात्मता होवे और जो एकका किया हुआ साधन दूसरेका हो जाय, तो भी अवतार और कर्मकी व्यर्थता होवेगी, अतः भगवान्ने जो भेदसे सृष्टि निर्माण की है उसका रहस्य भी जानना चाहिए इसलिए सातोंका एक ही प्रश्न है, कारण कि 'श्री' गुणके सात अंग हैं.

भगवान् अवतार लेकर जो जो कर्म करते हैं, वे बहुत ही करने चाहिए यानि जो जो पदसे सूचित किया है कि भगवान्के कर्म प्रसिद्ध हैं और उनका कर्मत्व भी सिद्धकर बताना चाहिए. वे कर्म भगवान्के बन सकते वा नहीं? वे कर्म भगवान्को करने चाहिए थे वा नहीं? उन कर्मोंमें तीन दोष नहीं हैं इनको मैं ही जानता हूं, इसलिए तीन विशेषण हैं.

१. 'आत्मतन्त्र' इस विशेषणसे यह बताया है कि भगवान् जो कुछ कर्म करते हैं वे कालके अधीन होकर नहीं करते हैं, कारण कि आप स्वतन्त्र हैं, स्वतन्त्र किसीके अधीन नहीं होते हैं.

२. भगवान्ने इस विशेषणसे यह सूचित किया है कि आप षडैश्वर्य सम्पन्न होनेके कारण पूर्ण ज्ञानवान् हैं, पूर्ण ज्ञानवान् कर्मोंके बन्धनोंमें नहीं आते हैं, या आपकी कर्माधीनता मिटा दी है.

३. 'त्र्यधीशः' इस विशेषणसे सिद्ध किया है कि आप तो तीन गुणोंके नियामक हैं अतः स्वभावके अधीन नहीं हैं, इसलिए आपने जो कर्म किए हैं, वे न स्वभावाधीन होकर किए हैं, न अदृष्टसे किए हैं और न कालकी प्रेरणासे किए हैं. अतः ये कर्म अलौकिक होनेसे सुननेके योग्य हैं.

'यथा इदं ससर्ज' 'जैसे यह रचा'. जब यह सृष्टि थी नहीं तब इसको किस प्रकार रचा? यह जानना चाहिए, यह सृष्टि चेष्टासे भी नहीं बनाई है क्यूंकि भगवान् निरीह हैं, यूं कह कर एक दोषका निवारण किया. 'इच्छायां सन्देह' इच्छामूं सन्देह, यह तो निश्चय है कि प्रयत्न नहीं किया है एवं प्रभुमूं ज्ञान है और विशेषता यह है कि जो कुछ उत्पन्न किया उसको श्रेष्ठ रीतिसे स्थापनकर जगत्की 'वृति'(आजीविका)का भी स्वयं प्रबन्ध करते हैं, अर्थात् सबको विविध आजीविका देते हैं. इस विविध प्रकारकी आजीविका देते हुए भी किसी प्रकार दूषण नहीं आता है, दूषणका होना न कभी सुना और न जाना, प्राणी एक दूसरेका आहार भी कर जाते हैं तो भी दोष कुछ भी बाधक नहीं होता है ।।५।।

आभासार्थ: और फिर

यथा किल स्वे ख इदं निवेश्य शेते गुहायां स निवृत्तवृत्तिः ।
योगेश्वराधीश्वर एक एतद् अनुप्रविष्टो बहुधा यथासीत् ।।६।।

श्लोकार्थ: जिस तरह वृत्तिसे निवृत्त हुए उसने, अपने हृदयरूप आकाश मूं यह सब(समग्र जगत्) डालकर गुफामूं, निश्चय शयन किया है और फिर योगेश्वरोंका अधीश्वर वह एक ही भगवान् इसमूं प्रविष्ट होकर जैसे बहुत प्रकारके होते हैं वह कहिए ।।६ ।।

व्याख्या: जैसे इन सबका संहारकर अपने हृदयाकाशमूं इन सबको स्थापित कर स्वयं भी किसी गुहामूं(गुप्तस्थानमूं) सोते हैं. यहां एक दूषणका परिहार किया है ऐसा जाना जाता है. उसमूं जाग्रत्, स्वप्न और सुषप्ति तीनूं वृत्तियां नहीं रहती हैं, वह गुफा कौनसी है? और किस स्वरूपको छुपाना है? (अपना स्वरूप किसीको भी उस समय जताना नहीं है.) इसको हम नहीं जानते हैं और फिर यह सर्व हृदयमूं डाल रखा है कारण कि आद्य योगेश्वरूंके भी अधीश्वर हैं, फिर आप एक ही इसको पुनः रचकर इसमूं प्रविष्ट होकर जैसे अनेक हुए वह कहिए.

योगी, योगबलसे अनेक रूप धारण करते हैं, वे(योगी) उपायसे अपने योगका व्ययकर अनेक रूपवाले होते हैं, जैसे कर्मसे. परन्तु कर्मसे धीरे-धीरे क्रमसे होते हैं. योगसे तो एक ही समयमूं होते है. यह(प्रभु) तो उनके भी ईश्वर हैं. 'अधि' पदसे यह सूचित किया है कि प्रभुमूं योग और ऐश्वर्य दोनूंमूं उनसे अधिक हैं, इससे प्रभुमूं अनेक रूप होनेकी सम्पूर्ण सम्भावना है यूं कहा, किन्तु वह

अनेक किस प्रकार होते हैं, अखण्ड रहकर वा समुदायसे(अवयवॄके समूह द्वारा) अथवा खण्ड-खण्डसे होते हैं, यह सन्देह है ।।६।।

आभासार्थः तुमने ऐसे चरित्र तो भारतादि शास्त्रॄ द्वारा बहुत सुने हैं? फिर किसलिए वे ही पूछते हो? ऐसा यदि मैत्रेयजी कह डालें उसपर निम्न श्लोक कहते हैं:

क्रीडन् विधत्ते द्विजगोसुराणां क्षेमाय कर्माण्यवतार भेदैः ।
मनो न तृप्यत्यपि शृण्वतां नः सुश्लोकमौलेश्चरितामृतानि।।७।।

श्लोकार्थः ब्राह्मण, गौ और देवॄके कल्याणार्थ अनेक अवतार धारणकर लीलासे अनेक प्रकारके दिव्यकर्म करते हैं उनको भी हमॄ सुनाइए, उत्तम कीर्तिवाले श्रीहरिके दिव्य लीलारूप कर्मोंको श्रवण करते(पान करते) हुए मन तृप्त नहीं होता है ।।७।।

व्याख्याः ब्राह्मण, गौ और देवॄके कल्याणार्थ अलग-अलग प्रकारके अवतार धारणकर भगवान् क्रीड़ा करते हुए कर्म करते हैं . जो यॄ कर्म करते हैं तो उससे क्या? जिस शंकाका निवारण करनेकेलिए कहते हैं कि उन कर्मोंका श्रवण करते हुए मन तृप्त नहीं होता है. दूसरॄका मन भले तृप्त हो जाता हो किन्तु मेरा मन तो तृप्त नहीं होता है. जिसका कारण यह है कि 'सुश्लोकमौले', 'चरिता-मृतानि', इन दोनॄ पदॄमॄ एक कर्ताका विशेषण है और दूसरा कर्मोंका विशेषण हैं. 'सुश्लोकमौलेः' पदका अर्थ है जिससे मुकुटमॄ उत्तम कीर्ति है जिसका तात्पर्य है कि जब भगवान् दूरसे पधारते हैं तब जैसे मनुष्यके मुकुटका प्रथम दर्शन होता है वैसे आपकी कीर्तिके प्रथम दर्शन हो जाते हैं. भगवान्के दर्शनकी इच्छा निवृत्त हो तो पश्चात् कीर्तिकी(गुणानुवादरूप कर्मोंके श्रवणकी) इच्छा निवृत्त हो सके, भगवान्को चाहनेवाले भगवान्के शिरोभूषण(कीर्ति)की इच्छाका त्याग कैसे कर सकते हैं? नहीं करॄगे, फिर विशेषता यह है कि ये भगवान्के कर्म(चरित्र) अमृत रूप हैं, भगवच्चरित्र अमृतरूप हैं यह अनुभवसे सिद्ध है. चरित्र अमृतरूप इसलिए कहे हैं कि उनसे क्षुधा, प्यास आदि मिट जाती है और अमृत होनेसे मरण भी मिटाते हैं. 'चरित्र'से केवल प्रयत्न बताया है, अमृतका अर्थ भक्षण है, चाहे इससे विरोध देखनेमॄ आवे तो अन्य प्रकारसे उसका अर्थ करते हैं कि ये चरित्र(कर्म) अद्भुत होनेसे अमृतरूप हैं. 'कर्म' भगवच्चरित्र होनेसे भी अमृतरूप हैं, एवं उत्पन्न होते हुए भी निश्चित नित्य हैं, केवल प्रयत्नरूप होनेसे भी नित्य हैं,

प्रयत्नके विषय जो श्रवणादि वे भी नित्य हैं. सर्वेन्द्रियाृके व्यापारसे पूर्णत्व होनेके कारण ऐहिक और परलोकके दुःखाृके निवारक होते हैं अतः दोनाृ लोकाृके अमृत कहे जाते हैं.

'द्विज-गो-सुराणां', ब्राह्मण(मन्त्र), गौ(घृतादि पदार्थ) और देव ये तीनाृ ही यज्ञमृ मुख्य हैं, उनके कल्याणार्थ भगवान् कर्म करते हैं, इससे भगवान्के कर्म, धर्मरूप कहे हैं. वे कर्म मनसे विचारित होनेके कारण मनोयज्ञ होते हैं, कीर्तन किए हुवे वाणीके यज्ञ होते हैं. श्रवण करनेसे ज्ञान यज्ञ होते हैं, अनेक प्रकारके अवताराृके कारण लोकमृ उनको अवतारूपसे जानना भी अशक्य होता है, मत्स्यादि अवतार अन्य-अन्य प्रकारके हुए हैं, याृ भेद कहे हैं, अथवा ज्ञान क्रियादि विशिष्ट भेदसे तीन प्रकारके अवतार हैं. उनके भेद-ज्ञान कलावतार व्यासादि हैं, क्रियाकलावतार वराहादि हैं, ज्ञानक्रिया दोनाृसे युक्त पूर्ण श्रीकृष्ण हैं.

अवतार और भेद(रूप) याृ अर्थ करनेसे तात्पर्य यह है कि 'भेदाः' पद कहनेसे 'आवेशितः' आवेश वाले अवतार कहे हैं, अवताराृसे और आवेशाृसे यज्ञाृका पालन किया जाता है. याृ करनेमृ 'रक्षा' कारण है, तृप्ति न होनेके कारण यह है कि 'चरित्र' अमृत है इसलिए चरित्र कहने ही चाहिए यह तात्पर्य है ।।७।।

आभासार्थः और फिर

यैस् तत्त्वभेदैर् अधिलोकनाथो लोकानलोकान् सहलोकपालान् ।
अचीक्लृपद् यत्र हि सर्वसत्व-निकायभेदोऽधिकृतः प्रतीतः ।।८।।

श्लोकार्थः जिन पृथक्-पृथक् तत्त्वाृसे, लोकनाथाृके अधिपतिने लोकपालाृ समेत, जिसके भीतर, अधिकृत सकल प्राणियाृके समूहाृका भेद प्रतीत हो रहा है वैसे लोक और अलोक उत्पन्न किये उनका वर्णन कीजिए ।।८ ।।

व्याख्याः जिन भिन्न-भिन्न तत्त्वाृसे लोकपालाृ सहित लोक तथा अलोकाृको रचा, उनको कहिए. कितने तत्त्व लोक सृजन करने और कितने तत्त्व अलोक रचनेमृ लगाए. यदि कहो कि सर्व तत्त्वाृसे सबको बनाया है तो लोक और अलोकादिका भेद नहीं दीखता, 'लोक्यते इति लोक', जो प्रत्यक्ष दीख रहा है उसको लोक कहा जाता है, लोकालोक पर्वतके उस तरफके भाग, जो देखनेमृ नहीं आते हैं उनको 'अलोक' कहा है, इसे कहनेका यही भाव है, स्वभावसे ही लोक, लोकरूप और अलोकरूप हैं तेजसे प्रकाशित होनेसे लोक नहीं कहे हैं, [१]मनुष्याृको ही तेजकी आवश्यकता है. [२]उसके अभावका मूल(कारण) क्या है?

इस लोकमृ ही मेघ, काष्ठ और सूर्य आदि उत्पन्न होते हैं तथा वे दूसरे लोकमृ क्यृ नहीं होते हैं? अतः कितने लोक स्वतः ही [३]आलोक हैं और वहां भी लोकपाल रहते हैं, वहां नेत्रसे पदार्थ ग्रहण करनेमृ तेजकी आवश्यकता नहीं है अथवा चक्षुआृका वहां अभाव है अथवा 'लोकान्' पदसे स्वर्गादि लोक 'आलोकान्' पदसे लोकरहित शून्य प्रदेश, लोकमृ भी लोकपाल सहित, यृ तीनृको रचा, इनको जहां रचा वह कहिए यह प्रश्न है, ये तीन ही भेद कैसे गिने हैं? इसपर कहते हैं १.लोक राजस हैं २.अलोक तामस हैं ३.लोकपाल सात्विक हैं. इन तीनृको स्पष्टतया ''सर्वसत्वनिकाय भेदोऽधिकृतः प्रतीतश्च'' सकल सत्त्व अर्थात् जीव योनियृके भेद, उनका समूह उनमृ भी भेद है क्यृकि वे साथमृ नहीं रहते हैं. समूह है तो भी पृथक् पृथक् रहते हैं. जैसे पिपीलिका(कीड़ो मकोड़ी) और पक्षी इकठ्ठे नहीं रहते हैं, वह समूह भी अपने अपने अधिकारवाला है उसमृ भी अधिकारी होते हैं, यदि यृ अधिकारीपन न होता तो उपदिका(एक प्रकारकी कीड़ी)के मुखमृ जल न होता, काक पक्षियृको एक नेत्र न होता, पशुआृमृ सींगवाले और बिना सींगवाले न होते, यह सर्व भेद देखनेमृ आ रहा है . जहां भेद प्रत्यक्ष हो रहा है वहां अप्रत्यक्ष कितने ह्यृगे? महान् जगत्की रचना करनेमृ तत्त्वृका भेद उचित ही है यह आशय 'हि' शब्दसे कहा है, इससे ही मेरा प्रश्न यह है कि ब्रह्माण्डका रचना हेतु सहित सुनाईए ।।८।।

१.मनुष्य जैसे आंख वालृको. २.उलूक आदिको सूर्य(तेज)की अपेक्षा नहीं है.३.जहां पिपीलिका आदि ही रहती हैं.

आभासार्थः और फिर:

येन प्रजानामुत आत्मकर्म–रूपाभिधानां च भिदां व्यधत्त।
नारायणो विश्वसृगात्मयोनिः एतच्च नो वर्णय विप्रवर्य! ।।९।।

श्लोकार्थः जिस(कारण)से विश्वको रचनेवाले आत्मयोनि नारायणने प्रजाआृके स्वरूप, कर्म और रूप एवं नामका भेद किया, हे विप्रवर्य ! वह हमारे लिए वर्णन करिए ।।९ ।।

व्याख्याः प्रजाआृके भी प्रत्येकका 'आत्मा' स्वरूप, कर्म, रूप और नाम इनका जिस हेतु(कारण)से भेद किया है यह बताईए. एक ही योनिके अनन्त भेद किए हैं उनमृ एक भी दूसरे जैसा स्वरूपादिसे नहीं दीखता है. वह क्यृ? यों प्रश्न है.

यह कार्य, कारणके सिवाय नहीं हुआ होगा. इस प्रश्नके उत्तरमॄ कहते हैं कि ''**नारायणो विश्वसृगात्मयोनिः**'', इसमॄ तीन हेतु हैं याॄ हम समझते हैं, अन्य हेतु कोई नहीं है, वे कहते हैं**:**

१.''**नराद् जातानि तत्त्वानि नाराणि, इति विदुर्बुधाः तानि अयनं यस्य स नारायणः कथ्यते**'', नरसे उत्पन्न तत्त्वॉंको ज्ञानी पुरुष नार(जल) कहते हैं वह नार अर्थात् जल जिसके रहनेका स्थान है वह नारायण है, इससे याॄ कहा कि उन सब(भूतॉं)मॄ वह सर्वत्र ही विराज रहा है, एक अंशसे दो कार्य नहीं किए जा सकते हैं, इसलिए उस-उस अंशमॄ विद्यमान ही भगवान् तो भेदके कारण हैं, याॄ एक पक्ष है.

२.'विश्वसृक्' भगवान् विश्वके कर्ता हैं, सर्वत्र ही इनको उपादानका प्रत्यक्ष ज्ञान है, यदि ऐसा ज्ञान न होवे तो इस प्रकारका वैसा जगत् न बना सकॄ, अतः भगवान्का ज्ञान ही इस प्रकारके भेदमॄ कारण है, यह दूसरा पक्ष है.

३.'आत्मव योनिः' आत्मा ही स्वयं इस(जगत्)का कारण है, यह भगवान् अपनेमॄसे ही स्वयं जगत् रूपसे उत्पन्न होते हैं अतः भगवान्मॄ ऐसा कोई गुण है जिससे स्वयं ही अपनेमॄसे उत्पन्न हो विविध भेदवाले बन जाते हैं. इस प्रकार ही आप अनन्तमूर्ति हुए हैं. याॄ स्वयं ही वैसे रूपवाले होते हैं, इसी तरह तत्त्वसे और ज्ञानसे तीन हेतु जाने गए हैं. दूसरा भी कहना चाहिए. 'एतश्च' यहां 'च' पदसे याॄ सूचित किया है कि, पूर्वमॄ कहा हुआ भी फिर पूछना चाहिए, नहीं तो सर्वत्र उत्तर ही कहना पड़े. 'नः' बहुवचन कहनेका अभिप्राय यह है कि मैं एक शिष्य होते हुए भी बहुवचन इसलिए कह रहा हूं कि इस ज्ञानके प्रचारकी परम्परासे बहुत शिष्य हैं.

विप्रवर्य! इस सम्बोधनसे यह सूचन किया है कि 'विप्र' पद ''प्रा पूरणे'' धातुसे बननेके कारण विप्रमॄ सर्वगुण पूर्ण होते हैं. आप तो उनमॄ भी श्रेष्ठ हैं अतः आपमॄ भगवान्के सर्वगुण पूर्ण हैं . याॄ कहनेका हेतु यह है कि आप सब कुछ बता सकते हैं जिससे सर्व शंकाआॄका निराकरण हो जाएगा ।।६।।

आभासार्थः यह सर्व भारतमॄ सुना ही है, फिर वही क्याॄ पूछते हो? इस पर कहते हैं :

परावरेषां भगवन् व्रतानि श्रुतानि मे व्यासमुखाद् अभीक्ष्णम् ।
अतृप्नुम क्षुल्लसुखावहानां तेषाम् ऋते कृष्णकथामृतौघात् ।।१०।।

श्लोकार्थः हे भगवन्! मैंने व्यासजीके मुखसे बार-बार, 'पर' और अवरू(छोटो)के व्रत सुने हैं, किन्तु वे अल्प सुख देनेवाले हैं इसलिए उनसे ऊब गया हूं. श्रीकृष्णके कथामृतरूप जो अनन्त सुखद हैं वह नहीं सुना है अतः वह सुनना चाहता हूं कृपया कहिए।।१०।।

व्याख्याः मान लो कि मैंने सुने हैं फिर भी सुननेमू कौनसा दूषण है. यदि कहू कि वे अनन्त हैं, उनका पर्यवसान(अन्त) होता ही नहीं है इसलिए जो सुने वे बस(काफी) है, इसपर कहते हैं कि ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्यन्त जो हैं उन सबके जो नियत धर्म हैं वे सब सुने ही हैं, दूसरे किसीसे नहीं किन्तु व्यासजी जो ज्ञानावतार हैं उनके मुखसे बार-बार सुने हैं, लोगूको नीतिका पूर्ण ज्ञान हो तदर्थ व्यासजी बहुत प्रकारसे सबूके धर्म कहते हैं, यदि न कहू तो राज्यमू स्थिर बुद्धि नहीं होती है. इसलिए कहते हैं. परन्तु राज्यका ही त्याग कर दिया है अतः उनके श्रवणसे वा उनसे बुद्धिने उपराम पा लिया है. यदि कहो कि उपराम क्यू पाया है? इसपर कहते हैं कि वे धर्म तुच्छ(विनाशी) सुख देनेवाले हैं, उन धर्मोंके श्रवणसे उन धर्मोंके भाव ही हृदयमू जागूगे, जो क्षुल्लक सुखप्रद विनाशी, होनेसे दोष वा भाररूप हैं उन धर्मोंके न सुननेसे उन दोषूसे छूट जाएंगे, दोनूका विचार करनेसे सिद्ध होता है कि वे धर्म अल्पसुख देनेवाले हैं, वास्तवमू उनके स्वरूपका पूर्णतया विचार किया जाए तो दुःखरूप ही हैं, अतः उनसे ऊब गए हैं, इसके अनन्तर, उनके श्रवणकी इच्छा मात्र भी मनमू नहीं होती है. 'कृष्णकथामृतौघात्', कृष्णकथा ही अमृतका समूह है, उससे तृप्ति नहीं होती है, वे धर्म अल्पसुख देनेवाले हैं, अतः उनसे तृप्ति हो जाती है यू कहनेसे 'विरोधाभास' दिखाया है.

इसे कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसा विषय हो वैसी इच्छा होती है. वह प्राप्त हो जाए तो इच्छानिवृत्ति हो जाती है. वह(इच्छा) तो विषयानुरूप होती है यदि विषय अल्प है तो इच्छा भी अल्प होती है, जैसे पिपीलिका(कीड़ी)की क्षुधा अल्प है तो उसको अल्प खाद्य मिला तो उसकी तृप्ति हो गई और खानेकी इच्छा(क्षुधा) मिट गई. कीड़ी हाथी जितना खाद्य खा नहीं सकती है. अतः थोड़ेसे ही तृप्त हो जाती है. हाथी तो करोड़ू कीड़ियूका अन्न(भोजन) मिलनेपर भी तृप्त नहीं होता है, अतः भगवत्सबन्धी जो इच्छा है वह अनन्त गुणवाले भगवान्के सर्व गुणूके बहुत कालसे लेते हुए भी पूर्ण करनेमू अशक्त ही रहती है, इस कारणसे वह इच्छा तृप्त नहीं होती है इसलिए निवृत होना नहीं चाहती है.

'कृष्ण' अर्थात् 'सदानन्द', उसकी कथा भी सदानन्दरूप है. क्यूंकि भगवद्धर्म भी भगवद्रूप है, रसवाला पदार्थ ही विशेष लिया जाता है, अल्प रसवाला अल्प ही लिया जाता है. यह अनुभव सिद्ध है ।।१०।।

आभासार्थः इस विषयमूं अधिकारी भेदसे ही व्यवस्था होगी? इस शंकाका निम्न श्लोकसे निराकरण करते हैं:

कस्तृप्नुयात् तीर्थपदोऽभिधानात् सत्रेषु वः सूरिभिरीड्यमानात् ।
यः कर्णनाडीं पुरुषस्य यातो भवप्रदां गेहरतिं छिनत्ति ।।११।।

श्लोकार्थः जो(नाम) पुरुषके कानकी नाडीमूं प्रवेश करते ही, संसार बढानेवाले घरके प्रेम व आसक्तिको नाश करते हैं, जिन नामूंका गुणगान यज्ञूंमूं बडे-बडे महात्मा करते हैं, उस तीर्थ पद(जिनके चरणोमूं तीर्थ हैं)के ऐसे नामूंसे किसकी तृप्ति होगी ? ।।११ ।।

व्याख्याः प्रथम तो भगवान्के नामूं(गुणूं)के श्रवणकी इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती है (क्यूंकि [1]जब मनुष्यूंके पाप क्षीण हो जाते हैं तब कृष्णमूं भक्ति उत्पन्न होती है) भक्ति उत्पन्न होनेके बाद गुण श्रवणकी इच्छा उत्पन्न होती है. इच्छा उत्पन्न हो गई तो तृप्ति नहीं होती है' जैसे अग्नि आहुतियूंसे तृप्त नहीं होती है, कारण कि प्रभुके गुण ही ऐसे हैं वे ज्यूं ज्यूं सुने जाते हैं त्यूं त्यूं इच्छाको बढ़ाते ही जाते हैं, यूं पहले निरूपण किया है और यह अर्थ उचित ही है, असुर जीवूंको तो इस श्रवणकी इच्छा ही उत्पन्न न होगी, शेष जो देव हैं उनको तो सुननेकी प्रबल इच्छा होती है. जो दैवी जीव हैं उनमूं कौन तृप्त होगा? क्यूंकि उनकी(देवूंकी) शास्त्रविहित विषयूंमूं ही प्रवृत्ति होती है. शास्त्रमूं विरक्त और अविरक्त भेदसे, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय भेदसे, यज्ञ एवं तीर्थ करनेकी विधि है. वे(यज्ञ तथा तीर्थ) चित्त शुद्धिकर मोक्ष फल देते हैं, हालांकि स्वरूपसे दुःखरूप हैं तो भी अन्तमूं फलरूपसे समीचीन(श्रेष्ठ) हैं. भगवान्के गुण तो चारूं रूप हैं, जैसे स्वरूपसे भी अमृत निधि हैं, फलसे मोक्षफल देनेवाले हैं. यज्ञरूप और तीर्थरूप भी हैं अतः उनसे कौन तृप्त हो सकता है? कोई नहीं. वे भगवान् कैसे हैं, 'तीर्थ पदः', जिनके चरणमूं तीर्थोंका निवास है. "**तिस्रः कोट्योऽर्द्ध कोटी च तीर्थानाम् वायुरब्रवीत्, दिवि भुव्यन्तरिक्षे च तानि वै जाह्नवी जले**"[2]. वह गंगा भगवान्के चरणमूं है ऐसे भगवान्के नामसे कौन तृप्त होगा? यह 'नाम' केवल शब्द मात्र है, ऐसी शंका(पक्ष)का समाधान आगे किया जाएगा. यह भगवन्नामगुण, जो सूरि हैं

अर्थात् भगवान्के गुणॄके महत्त्वको जाननेवाले हैं, वे यज्ञॄमॄ गाते हैं. यज्ञॄमॄ हरिकृष्णका गान होता है, जैसे कहा है कि अश्वमेध यज्ञके समय "**ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ गायेताम्**" इति, 'वीणाद्वारा दो ब्राह्मण गुणगान करें' अथवा जैसे कहा है कि गुणगान करनेकेलिए नारदको बुलाया गया, उस, गान करनेसे ही सत्र(यज्ञ)की पूर्णता होती है.

"**विष्णोः कर्माणि पश्यत**" इत्यादि श्रुतेश्च, 'विष्णुके कर्मोंको देखो' इत्यादि श्रुतियॄके अनुसार भगवद्गुणगान आवश्यक है, गुणगानसे ही यज्ञके पूर्णताकी सिद्धि होती है, और विशेष गुणगानद्वारा भगवान्, पुरुषके हृदयमॄ कर्णनाड़ी द्वारा स्थित होकर, हृदयमॄ जो अनिष्टकारिणी, संसारको उत्पन्न करनेवाली गृहासक्ति स्थित है उसका नाश करते हैं क्यॄकि गुणरूप भगवान् अमृतस्वरूप हैं, भगवान् व उनके गुणनाम सबको प्रिय हैं और वे अनिष्ट मिटानेवाले हैं, यॄ भी कह दिया तथा उनकी यज्ञरूपता भी कही है, "**कर्णनाड़ी पुरुषस्य यातः**" इस वाक्यका आशय यह है कि कर्णनाड़ीमॄ केवल नाम नहीं प्रविष्ट हुआ किन्तु नाम सहित भगवान् भी प्रविष्ट हुए हैं . तब भगवत्सहित प्रविष्ट होनेसे तीर्थोंका प्रविष्ट होना भी सिद्ध ही है ।।११।।

१. नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते. २.वायुदेवने कहा कि स्वर्गमॄ, भूमिमॄ और अन्तरिक्षमॄ साढ़े तीन करोड़ जो तीर्थ हैं वे सर्व गंगाजीके जलमॄ हैं.

आभासार्थः यदि यॄ है तो व्यासजीने मुख्यतः भगवद्गुणगानॄको न कहकर अन्य धर्म क्यॄ कहे? इस शंकापर कहते हैं कि:

मुनिः विवक्षुः भगवद्गुणानां सखाऽपि ते भारतम् आह कृष्णः ।
यस्मिन् नृणां ग्राम्यसुखानुवादैः मतिः गृहीता नु हरेः कथायाम्।।१२।।

श्लोकार्थः मुनि कृष्ण(व्यासदेव) जो आपका भी मित्र है, वह भगवद् गुणॄको कहनेकी इच्छावाला था किन्तु उसने भारत कहा, जिसमॄ मनुष्यॄके ग्राम्य सुखॄके अनुवाद द्वारा उनकी बुद्धि हरिकी कथाकी तरफ आकृष्ट की है ।।१२।।

व्याख्याः भगवान्के गुणॄके वर्णन करनेकी इच्छावाले व्यासजी थे, किन्तु उन्हॄने(व्यासजीने) सोचा कि मनुष्यॄको भगवान्के गुण श्रवण करनेका अधिकार प्राप्त हो तदर्थ, आपकी तरह भगवदाज्ञाको प्राप्तकर भरत वंशमॄ उत्पन्नॄका ही चरित्र कहने लगे. कारण कि "**स हि दौष्यन्तिर्मायामत्यागाद् इति तद्वंश्यास्तादृशाएव**" दुष्यन्तके पुत्र भरत, मायाको पार कर गए एवं उनके वंशमॄ

उत्पन्न हुए भी वैसे ही हुए, उनके चरित्र सुननेसे देवमाया मोहित न हो सकेगी जिससे भगवद्गुण सुननेमॅ समर्थ(अधिकारी) हो सकॅगे. अतः जो पहलेके अनधिकारी हॅा वे भी ये चरित्र सुन अधिकारी हो जावें, तदर्थ भारतमॅ वे अन्यधर्म एवं ऐसे भगवद्भक्त ज्ञानी राजाओॅके चरित्र व्यासजीने भगवदाज्ञासे कहे हैं, आपके सखा होते हुए भी केवल भगवद्गुणॅाके वक्ता होते हुए भी तथा नामसे कृष्ण होते भी 'भारत' कहा, जिस भारतके श्रवणसे मनुष्यॅाकी बुद्धि भगवद्गुणॅा की तरफ इस उपायसे आकृष्ट होती है.

वहां वे सर्व ग्राम्य कथाओॅमॅ ही आसक्त चित्तवाले थे, प्रवृत्ति तो अपनी रूचिके अनुसार ही होती है. अतः उनकी बुद्धिको इस तरफ(भगवद्गुणानुवाद श्रवण करनेकी तरफ) खींचनेकेलिए ग्राम्यकथाओॅ द्वारा भगवान्की कथा सुनाई है. ग्राम्य कथाओॅमॅ भगवत्कथाएं डाल कर ही कथाएं सुनाई तो वे ग्राम्य कथा प्रेमसे सुनते थे किन्तु उसमॅ जो भगवत्कथाएं भी सुन लेते थे वे कथाएं अपना कार्य(हृदयमॅ जो अनिष्टकारिणी संसारको उत्पन्न करनेवाली गृहासक्ति है उसका नाश करनेका कार्य) करती है, जिससे प्रयत्न सफल हो जाता है. 'नु' पदसे कहते हैं कि इसमॅ कोई संशय नहीं है. निश्चयसे यह प्रयत्न सफल सार्थक होता है ।।१२।।

आभासार्थः उससे क्या हुआ ? इस प्रश्नके उत्तरमॅ निम्न श्लोक कहा है:

सा श्रद्दधानस्य विवर्धमाना विरक्तिम् अन्यत्र करोति पुंसः ।
हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य समस्तदुःखात्ययम् आशु धत्ते ।।१३।।

श्लोकार्थः हरिके स्मरणसे आनन्दित श्रद्धालु पुरुषकी बुद्धि ज्यॅा बढती जाती है त्यॅा अन्य विषयॅासे विरक्तिको पाती है जिससे शीघ्र ही समस्त दुःख समूल नष्ट हो जाते हैं ।।१३ ।।

व्याख्याः आस्तिक्य बुद्धिको 'श्रद्धा' कहा जाता है. कथा, प्रथम अपने कार्यको(श्रद्धाको) ही उत्पन्न करती है, ग्राम्य पदार्थ, सर्व समान नहीं होते हैं. कोई उत्तम, कोई अधम होता है, उनके रसॅाका अनुभव कर, जो उत्कृष्ट होता है उसको ही ग्रहण करते हैं. अतः श्रद्धापूर्वक निरन्तर श्रवण करनेसे बढ़ी हुई वह बुद्धि दूसरे पदार्थ जो खिचड़ीकी तरह मिले-जुले होते हैं अर्थात् शुद्ध एक रस नहीं होते हैं, उनसे विराम पा जाती है, उत्तम अन्न प्राप्त होनेपर कोई भी पुरुष सड़ा गला अन्न नहीं खाता है, किन्तु एक ही गुण स्वातन्त्र्य आवश्यक है, यह आशय

'पुंसः' शब्दसे सूचित किया है, उससे भी क्या होगा? इसपर कहते हैं कि, "**हरेः पदानुस्मृप्रवृद्धमत्यानिरन्तरं**" इस प्रकारकी बुद्धि बढ़ते हुए पुरुष स्वतन्त्र हो निरन्तर भगवान्का ही स्मरण करता है, तब चित्तमू भगवत् स्मरणकी निरन्तर(सदैव) स्थिति होनेसे चित्त आनन्द मग्न हो जाता है. ऐसे चित्तमू ही आनन्दमय भगवान् प्रवेश करते हैं, भगवान्को प्राप्त कर लेनेसे फिर चित्त उपस्थितिसे हटता नहीं है. उस स्थितिमू, स्थितिसे ज्यू-ज्यू आनन्दका अनुभव बढ़ता जाता है त्यू-त्यू शीघ्र ही सकल दुःखूका समूल नाश हो जाता है. अतः भारतमू साधन सहित परमपुरुषार्थका वर्णन किया हुआ है ।।१३।।

आभासार्थः इस प्रकार उपाय किये(बताए) हुए भी जिनका चित्त भगवान्मू प्रवेश नहीं करता है उनकेलिए ही मैं शोक करता हूं यू निम्न श्लोकमू कहते है :

तान् शोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे हरेःकथायां विमुखान् अघेन ।
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषाम् आयुर् वृथावादगतिस्मृतीनाम्।।१४।।

श्लोकार्थः पापके कारण हरिसे विमुखजनूको और जो शोक करने योग्य हैं एवं उनसे भी विशेष शोक करनेके योग्य पुरुषूको तथा जो इस विषयको सत्संगके अभावसे जानते ही नहीं हैं, इनकेलिए मैं शोक कर रहा हूं, जो निरर्थकवाद, गति और स्मृतिवालूकी आयु तो सावधान देव नाश करते हैं।।१४।।

व्याख्याः भगवान्ने मनुष्यको इन्द्रियां अपनी सेवाकेलिए दी हैं किन्तु किसीको नहीं भी दी हैं, जिनको नहीं दी हैं वे एक प्रकारसे शोक करनेके योग्य हैं . यदि उनको इन्द्रियां दी होतीं तो उन इन्द्रियूसे सेवा करते.

फिर जिनको इन्द्रियूकी प्राप्तिके समय आसुरी इन्द्रियां मिलीं वे भगवत्कथा सुनकर भी उसके रसको नहीं जान सकते हैं जिससे वे भजन नहीं करते हैं, वे शोकके योग्यूमू भी विशेष शोक करने योग्य हैं अथवा जो सत्संगके अभावसे इस विषयको जानते ही नहीं हैं उनका भी मैं शोक करता हूं, तात्पर्य यह है कि इन सबकेलिए मुझे दुःख होता है कि ये भगवद् विमुख क्यू रहे हैं.

वे भी यदि दैवगतिसे भगवान्के सम्मुख हो जावू तो वे शोच्य(शोक योग्य) नहीं होवू, जो सर्वदा भगवद् विमुख हैं वे ही शोच्य हैं, ऐसा होनेमू क्या कारण है? वह बताते हैं कि 'अघेन' पाप ही मनुष्यको भगवद् विमुख कराता है

यदि विमुख न करावे तो पाप नाश हो जाता है इसलिए अपनी रक्षाकेलिए पाप मनुष्यको भगवद् विमुख कराता है. पापके कारण जब मनुष्य भगवद् विमुख होता रहता है तब काल भी उसको ग्रसता है, यों 'क्षिणोति' पदसे कहा है. काल सब जाननेवाला देव है, अर्थात् कौन पापी(भगवद् विमुख) है, उसको भी जानता है अतः वह सदैव ग्रासार्थ सावधान रहता है, जो कहते हैं कि यदि भगवान्से विमुख है किन्तु देवान्तरकी सेवा अथवा अन्यमार्ग(तप आदिका पाषण्डमार्ग)से अपना कार्य(मोक्षादि) सिद्ध कर लेंगे तो उनका कहना सत्य नहीं है. इसको बतानेके लिए 'तु' शब्द दिया है, काल उन सबकी आयुष्यका हरण करता है, कारण कि उस(काल)का एक ही कार्य आयु हरण करना है. यदि कहो कि काया, वाणी और मनमें, कुछ श्रेष्ठ ही करते होंगे? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं ''वृथा वादगतिस्मृतीनां'' उनके वे वादादि तीन ही पुरुषार्थ हीन हैं, वे ही उनको रुचते हैं जैसे उलूक(उल्लू)को प्रकाश पसन्द नहीं आता है किन्तु अन्धकार प्रिय है.

गतिकायिकों कायाकी क्रिया इससे उनके सर्वस्वका नाश होनेसे पुरुषार्थ साधन(मौजूद) होते हुए भी पुरुषार्थ हो नहीं सकता है, इसलिए ये शोच्यसे भी शोच्य हैं ।।१४।।

आभासार्थः इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेकसे भारतका तात्पर्य कहकर कहते हैं कि अब भगवत्कथामें आसक्त चित्तवाले मुझे केवल भगवान्की ही कथा सुनाइए या इस श्लोकमें कहते हैं :

तद् अस्य कौषारव शर्मदातुः हरेः कथामेव कथासु सारम् ।
उद्धृत्य पुष्पेभ्य इवार्त्तबन्धो शिवाय नः कीर्तय तीर्थकीर्तेः ।।१५।।

श्लोकार्थः हे आर्त्तो(दुःखियों)के बान्धव कौषारव! जैसे मधुमक्षिका पुष्पोंसे सार निकालकर देती है वैसे आप भी कथाओंमेंसे साररूप भगवद्गुण लीला कथाओंको निकालकर मेरे कल्याणार्थ कहिए. भगवान् ही तीर्थरूप कीर्त्तिवाले, सुख देनेवाले, दुःख हरण करनेवाले हैं अतः उनकी कथाएं भी वैसी ही हैं, इसलिए केवल वही कहिए ।।१५ ।।

व्याख्याः पहले चार प्रश्न अज्ञान और असत् ज्ञानको मिटानेकेलिए किए थे. यह प्रश्न तो जाना हुआ ही है. नित्य भोजनकी तरह इसकी आवश्यक अपेक्षा है. इस कारणसे जिस प्रभुके सामने दर्शन हो रहे हैं और जो स्वभावसे ही सबका कल्याण करनेवाले हैं तथा दुःख निवारक हैं उनकी ही कथा कहिए.

केवल उनकी कथा पृथक् कैसे कही जाएगी? क्यूंकि हरि कथा भी लौकिक कथाओंसे मिली हुई है, पृथक् केवल हरि कथा कैसे कह सकोगे? जिसका उपाय बताते हैं कि, सर्व कथाओंमेंसे सार निकालकर कहिए. जैसे सृष्टि बहुत प्रकारसे बनी है, उनमेंसे जिस सृष्टिका स्वयं भगवान्ने अपनेलिए अपनेमेंसे रची है वह सृष्टि प्रकार कहिए, एवं सृष्टिका पालन भी बहुत प्रकारसे होता है जैसे काल कर्मादिसे पालन होता है, उनमेंसे भी भगवान्के किए हुए पालनके प्रकारकी कथा सुनाइए. वैसे ही प्रलय भी उसी प्रकारके कहिए.

जिस सृष्टिमें भगवान् स्वयं प्रवेश कर अनेक होते हैं वह सृष्टि कहिए. जिसमें जीव, पुरुष वा अन्य कोई प्रविष्ट होता है, वह सृष्टि न कहिए. भगवान्के चरित्र भी वे कहिए जो चरित्र बिना प्रकृतिके मिलापके स्वयं अकेले भगवान्ने किए हैं, बहुत क्या कहूं केवल भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेकेलिए और उनके दुःख दूर करनेकेलिए भगवान्ने जो चरित्र किए हैं वे सर्व कथाओंमेंसे साररूपसे निकालकर कहिए, यहां बुद्धिसे उद्धार कहा है अर्थात् सर्व कथाओंमेंसे सार निकालनेमें बुद्धिकी आवश्यकता है. उस बुद्धिसे काम लेकर सार निकालिए. जैसे पुष्पके भीतर ही मकरन्द(रस) रहता है. किन्तु उसका पान भ्रमर ही कर सकता है. मधुमक्षिका तो वह मरकन्द पुष्पोंसे निकालकर धर देती है. यदि वह भी पान कर जावे तो परोपकार न होवे, लोगोंको शहद ही न मिले अतः जैसे मधुमक्षिका स्वयं पान न कर अन्योंका भला करती है, वैसे ही आप भी सार निकालकर परोपकार मेरा कल्याण(मेरे साथ लोक कल्याण भी होगा) कीजिए. यों करनेमें तो क्लेश होता है क्योंकि पहले पानकर फिर उसको निकालना यह क्रिया कष्टवती है, इसके उत्तरमें कहते हैं कि आर्त्त बन्धु! आप दुःखियोंके बन्धु हो अर्थात् दुःखियोंके दुःखोंको सहन न कर उन(दुःखों)को मिटा देते हो अत: लोकोपकारार्थ, कष्टको सहन कीजिए, वास्तवमें तो जैसा पान करनेके समय इन्द्रियोंका सम्बन्ध होता है वैसा ही निकालनेके समय भी इन्द्रियोंका सम्बन्ध होता है और कथा विकारवाली भी नहीं है. इससे परोपकार सिद्ध होगा अतः भ्रमरकी तरह रसका स्वाद भी आपको प्राप्त होगा. अतः हम लोगोंकेलिए कहिए. यों भी न कहना कि तुम अधिकारी नहीं हो, जिसकी कीर्ति तीर्थरूप है, वैसे तीर्थरूप भगवान्की कथा श्रवणसे स्वतः अधिकार भी प्राप्त हो जाएगा ।।१५।।

आभासार्थ: इस प्रकार कथाओंके साररूप भगवत्कथा पूछकर फिर इस

श्लोकसे मूलपुरुष प्रभुका अन्य चरित्र भी पूछते हैं :

स विश्वजन्म–स्थिति–संयमार्थे कृतावतारः प्रगृहीतशक्तिः ।
चकार कर्माण्यतिपूरूषाणि यानीश्वरः कीर्तय तानि मह्यम् ।।१६।।

श्लोकार्थः विश्वके जन्म स्थिति तथा संयमकेलिए अवतार धारणकर अपनी शक्तियाृके साथमृ ये जो–जो विशेष पुरुषार्थवाले कर्म किये वे मुझे कहिए।।१६।।

व्याख्याः जिस भगवान्केलिए पहले कहा(पूछा) वह ही अन्य कार्योंके करनेकेलिए अवतार धारण करते हैं. उनके चरित्र पहले पूछे हैं. सकल विश्वके जन्म, स्थिति और संयमकेलिए जिस पुरुषने अन्तमृ अवतार लिया है अथवा 'व्यष्टीनां'के(पृथक्–पृथक व्यक्तियाृके) जन्मादिकेलिए स्वयं अवतार धारण किया है, कालादिको आज्ञा नहीं दी है. आपने प्रकट हो सर्व(जन्मादि) किए हैं उनके वे कर्म कहो. भगवान्के किए हुए कर्ममृ भी इस लोकमृ कराने आदिका अनुभव होनेसे, वह कर्म केवल भगवान्ने किए हैं, यह कैसे समझा जाय? इस शंकाके निवारणार्थ कहा है कि 'प्रगृहीत–शक्तिः', आप अपने साथ अपनी कालादि शक्तियां लेकर पधारते हैं, वे दीखनेपर भी भगवान्ने अपने वशमृ ही रखी हैं अतः वे स्वतः कार्य नहीं कर सकती हैं केवल प्रतीतिमृ दोष नहीं है. जन्मादिकेलिए ही अवतार लिया है अतः जन्मादि करृगे ही किन्तु आपने जो पुरुषार्थ किए हैं वे अन्य पुरुषाृसे विशेषतावाले हैं. साधारण कर्म तो नहीं करृगे क्याृकि ईश्वर हैं, वे केवल मेरे लिए कहिए, मैं परम्पराके वास्ते भी दूसराृको नहीं कहूंगा ।।१६।।

आभासार्थः इस प्रकारका प्रश्न अन्य कोई नहीं कर सकेगा, बिना प्रश्न किये कहा भी नहीं जाता है अतः ऐसे प्रश्नाृके करनेसे यह दिखाया है कि विदुर अधिकारी है. यह एक ही प्रश्न ऐसा है जिसमृ अन्य प्रश्न भी शामिल हैं, अन्तमृ एक ही प्रश्न सिद्ध होता है, उस(प्रश्न)का उत्तर मैत्रेयजी दो अध्यायोंमृ कहृगे, कारण कि, अवताराृके तथा पुरुषातनके प्रयोजनाृमृ भेद है. इस कारणसे मैत्रेयजीने कथाआृमृ साररूपसे दो अध्याय निकालकर विदुरजीको कहे हैं, यदि इससे उनकी तृप्ति न होगी तो दूसरे प्रश्नाृकी जिज्ञासा करृगे, तो पूर्वोक्त विशेषाृको (विषयाृ)को भी कचरेमृ डालकर जीव सम्बन्धी संशयाृको दूर करनेवाली कथा कहूंगा. मैत्रेयका ऐसा अभिप्राय है इसलिए प्रश्नका अभिनन्दन करनेके वास्ते

श्रीशुकदेवजी निम्न श्लोकमृ कहते हैं कि मैत्रेयको विदुरका किया हुआ यह प्रश्न पसन्द है:

श्रीशुकः उवाच

एवं स भगवान् पृष्टः क्षत्त्रा कौषारविर्मुनिः ।

पुंसां निःश्रेयसार्थाय तम् आह बहुमानयन् ।।१७।।

श्लोकार्थः श्रीशुकदेवजीने कहा कि इस प्रकार पूछे हुए भगवान्के आवेशवाले कौषारवि मुनि, पुरुषृके कल्याणार्थ बहुत मानपूर्वक उसको कहने लगे ।।१७ ।।

व्याख्याः श्लोकमृ 'स भगवान्' मैत्रेयका विशेषण देकर यह सूचित किया है कि मैत्रेयमृ भगवान्का आवेश है, मैत्रेय इस समय अकेले नहीं हैं. अकेले होते तो इसको न जान सकते और न कह सकते. 'क्षत्रा'का अर्थ पूर्वकी तरह ही है. मैत्रेय न कहकर 'कौषारविः' कहा, जिसका आशय यह है कि जैसे पिता विवेकी थे वैसे यह मैत्रेय भी हैं. 'मुनि' पदसे यह सूचित किया है कि मैत्रेय जो कुछ कहृगे उस ज्ञानका विदुर अनुसन्धान करता रहेगा. यह अतिपवित्र चरित्र एक प्रयोजनकेलिए न कहना चाहिए इसलिए कहा है कि ''पुंसां निःश्रेयसार्थाय'', पुरुषमात्रके कल्याणकेलिए कहा है, किन्तु विदुरके उद्देश्यसे कहा, यह स्पष्ट करनेकेलिए 'तम् आह' पद दिया है. उसको(विदुरको) भी बहुत मानपूर्वक कहा है जिससे उपदेश उसके हृदयमृ प्रविष्ट हो जावे. बहुमान इसलिए दिया है कि विदुर भगवदीय हैं ।।१७।।

आभासार्थः चार श्लोकृसे विदुरका सन्मान करते हैं :

पृष्टार्थदेहजीवानां सम्बन्धस्याऽपि सर्वतः।

ज्ञात्वा कथनबोधाय तैरुत्कर्षो निरूप्यते।।कारि.१।।

कारिकार्थ : जो उत्तर कहा जाए उसका ज्ञान हो इसलिए उसने जो विषय पूछे हैं, उनकी चार श्लोकोमृ स्पष्टता करते हुए विदुरकी उत्कर्षता बताते हैं:

मैत्रेयः उवाच

साधु पृष्टं त्वया साधो लोकान् साध्वनुगृह्णता ।

कीर्तिं वितन्वता लोके आत्मनोऽधोक्षजात्मनः।।१८।।

श्लोकार्थः मैत्रेयजीने कहा, हे साधु! लोगृपर पूर्ण अनुग्रह करते हुए, अधोक्षज भगवान्मृ अन्तःकरणवाले आपने लोकमृ अपनी कीर्तिके निस्तारार्थ

उत्तम प्रश्न किया है ।।१८ ।।

व्याख्या: बहुतसे लोग पूछते ही हैं किन्तु जैसा उत्तम सुन्दर प्रश्न तुमने किया है वैसा किसीने नहीं किया है, तुमने जो यह प्रश्न किया है वह काकतालीय न्यायकी तरह अचानक नहीं है किन्तु जानकर ही किया है. उत्तर भी जानते हो, यदि यॄ है तो प्रश्न करना ही व्यर्थ है. यदि ऐसी शंका होवे तो, उसपर कहते हैं कि 'लोकान् साध्वनुगृह्णता' इति. लोगॄके ऊपर पूर्ण अनुग्रहार्थ ही प्रश्न किया है न कि अपने स्वार्थकेलिए, इस प्रकार कहनेका भाव यह है कि इस शास्त्रसे परोपकार ही मुख्य साधन कहा गया है, यॄ परोपकार कार्य करनेसे तुम्हॄ भी आनुषंगिक फल मिल जाएगा. इससे क्या फल मिलेगा? इसपर कहते हैं कि 'कीर्तिं वितन्वता लोके', इस लोकोपकारार्थ ऐसे प्रश्न करनेके कारण तुम्हारी कीर्तिका लोकमॄ विस्तार होगा. यदि यॄ है तो अपनी कीर्तिकेलिए यॄ करना उचित नहीं है, इसका उत्तर देते हैं कि 'अधोक्षजात्मनः', तुम्हारे अन्तःकरणमॄ इन्द्रियातीत भगवान् विराजते हैं, वह इसलिए ही विराजते हैं कि आप सर्व लोकोपकारी हैं, देवालयकी प्रतिष्ठासे देवकी ही प्रतिष्ठा होती है, भगवान् इन्द्रियॄसे अगोचर हैं,(दीखते नहीं हैं) अतः उनके साक्षात् दर्शन नहीं होते हैं इसलिए परम्पराश्रय ही उपाय है, जिससे तुम्हारा यह(प्रश्न) अपने और अन्य लोगॄका हितकर होनेसे श्रेय है ।।१८।।

आभासार्थ: विदुरमॄ शूद्रयोनिके दोषका अभाव है अतः उनके देवका उत्कर्ष इस श्लोकसे कहते हैं:

नैतत् चित्रं त्वयि क्षत्तः बादरायणवीर्यजे ।
गृहीतोऽनन्यभावेन यत् त्वया हरिरीश्वरः।।१९।।

श्लोकार्थ: हे संयमी! बादरायणके वीर्यसे उत्पन्न तुममॄ इस तरहका प्रश्न किया जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, कारण कि तुमने हरि ईश्वरको अनन्यभावसे अपना लिया है ।।१९ ।।

व्याख्या: कितने ही क्षेत्र(माता)की प्रशंसा करते हैं. अन्य जो ज्ञानवान् हैं वे बीज(पिता)की प्रशंसा करते हैं. दोनॄमॄसे बीज ही उत्तम है अर्थात् क्षेत्र(माता)से पिता विशेष है, कारण कि पुत्रमॄ पिताके वीर्यका ही प्रभाव पड़ता है जैसे बीजके प्रभावसे क्षुद्र जीव भी ऋषि बन गए हैं. अतः बादरायणके वीर्यसे उत्पन्न तेरेमॄ वैसा होना कोई आश्चर्य नहीं है. ऐसे वक्ताके पुत्र(कथा)कहनेमॄ भी

समर्थ, शक्तिवान् होता है फिर प्रश्न करनेमॄ समर्थ हो तो कौनसी बड़ी बात है, इसलिए आश्चर्यका अभाव है, उस बीजका(बादरायणके वीर्यका) फल भी तुमको मिला है, इसमें प्रमाद(भूल)से प्राप्त बीज है इस शंकाका भी निवारण हो गया है. जो विपरीत रीतिसे उत्पन्न अर्थात् बिना रीतिसे उत्पन्न होता है वह भगवद्भक्त नहीं होता है क्यॄकि ऐसी सृष्टि भगवान्की करी हुई होती है, इस कारणसे ही तुमने अनन्यभावसे अर्थात् केवल भगवद्भावसे ही भगवान्को ग्रहण किया है(अपनाया है). वह भगवान् दुःखॄका भी नाश करते हैं और योनि आदिके दोषॄको भी दूर करते हैं. क्यॄकि ईश्वर(सर्व समर्थ) हैं, यॄ कहनेका हेतु यह है कि आप हरि हैं दुःखॄको हरण करनेवाले हैं, कारण कि दीनदयालु हैं जिससे यॄ करते हैं ।।१९।।

आभासार्थः निम्न श्लोकसे विदुरके जीवका उत्कर्ष दिखाते हैं:

माण्डव्यशापाद् भगवान् प्रजासंयमनो यमः ।
भ्रातुः क्षेत्रे भुजिष्यायां जातः सत्यवतीसुतात्।।२०।।

श्लोकार्थः माण्डव्यके शापसे सत्यवतीके पुत्र(व्यास)से, क्षत्रियकी भोग पत्नीमॄ उत्पन्न हुए आप प्रजाका संयम करनेवाले भगवान् यम हैं ।।२० ।।

व्याख्याः वह धर्मराज ही माण्डव्यके शापसे व्यास द्वारा क्षत्रियकी भोग पत्निमॄसे जो उत्पन्न हुआ वह तू विदुर है. माण्डव्यने यम(धर्मराज)को क्यॄ शाप दिया? इस शंकाका निवारण करते हैं कि यमने अज्ञानसे माण्डव्यको दण्ड दिया था.

वह कथा कहते हैं. किसी राजाके राज्यमॄ तपस्या करते हुए माण्डव्य ऋषिको चोरॄके साथ शूलीपर चढ़ाया था. वह माण्डव्य यमसे पूछने गया कि मुझे शूलीपर क्यॄ चढ़ाया गया. इसपर यमने कहा कि तुमने बचपनमॄ पक्षीकी पीठमॄ सुई लगाई थी, इस कारणसे शूलीपर चढ़ाए गए. इससे क्रुद्ध मुनिने यमको कहा कि, अल्प अवस्थामॄ किए हुए पापकर्मका फल माता-पिताको लगता है, तूने अज्ञानसे यह दण्ड दिलाया है, अतः तू शूद्र हो जाएगा, यॄ यमको माण्डव्यने शाप दिया, जब राज्यमॄ शूलीपर चढ़ाया गया तब यमको शाप क्यॄ दिया? इसके उत्तरमॄ कहते हैं कि 'यमः प्रजासंयमनः', प्रजाका संयम तथा मारनेका कार्य यमका है जिससे पूर्णतया संयम न रखा, जिससे माण्डव्यको शूलीपर चढ़ाना पड़ा अतः राज्यके कर्मका पाप देवको भी लगा. मेरा(यमका) जन्म दैत्यॄमॄ न हो

इसलिए सर्व प्रकार दैत्यभावरहित भगवान् व्यासमृ प्रविष्ट हुआ, शापकी सार्थकताकेलिए उनके ही भ्राताके क्षेत्र जो भोगपत्नी शूद्रा थी उसमृसे व्यासके वीर्यसे उत्पन्न हुआ. व्यासजीका नाम यहां 'सत्यवतीसुतः' कहा. जिसका आशय है कि उपरिचरवसुके बीजसे माछियृाके यहां उत्पन्न सत्यवतीसे उत्पन्न व्यासजी भी सङ्क्रमण कार्य करानेके योग्य थे. इस सत्यवतीको पाला भी माछियृाके राजाने था, उस सत्यवतीके पुत्र व्याससे(विदुर) उत्पन्न हुआ है अतः जीवका उत्कर्ष है ।।२०।।

आभासार्थः जीवके उत्कर्षत्वके कारण विदुर भगवदीय हैं अतः प्रकृत विषयमृ उनके उपयोगका महत्त्व है, यृ इस श्लोकमृ कहते हैं :

भवान् भगवतो नित्यं सम्मतः सानुगस्य च ।

यज्ज्ञानदेशाय च माम् आदिशद् भगवान् व्रजन् ।।२१।।

श्लोकार्थः भगवान्ने जाते समय जिसकेलिए ज्ञानोपदेश देनेकी मुझे आज्ञा की, वे तुम भगवान् तथा उनके सेवकृको नित्य प्रिय हो ।।२१ ।।

व्याख्याः तुम सदैव भगवान्को प्रिय हो, केवल भगवान्को नहीं किन्तु उनके सेवकृ(वैष्णवृ)को भी प्रिय हो, यह बतानेकेलिए 'सानुगस्य' पद दिया है, जब आप पधार रहे थे उस समय तुमको याद किया, जिससे सूचित होता है कि भगवान्को तुम्हारा सदैवकेलिए स्मरण है, सेवक भी साधारण नहीं बल्कि भीष्मादि जैसे प्रसिद्ध उत्तम पक्षके जो हैं उनको आप प्रिय हैं, इसका प्रमाण 'विदुरेण महात्मना' पद कहनेसे दिया है.

तुम भगवान्को सदा प्रिय हो इसमृ हेतु यह है कि 'यज्ज्ञानदेशाय भगवान् माम् आदिशत्', जिस तेरे लिए मुझे भगवान्ने आज्ञा दी है कि इसको ज्ञानका उपदेश देना. 'च' पद देनेका भाव यह है कि स्वयं भगवान्ने स्वतः स्मरणकर मुझे उपदेश देनेकी आज्ञा दी है. 'भगवान्' पद यह स्मरण होनेमृ हेतु है, 'व्रजन्' जाते हुए कहा जिसका तात्पर्य यह है कि इस(विदुर)को ज्ञान देना आवश्यक है अर्थात् भूल नहीं जाना, देवरसे पुत्र उत्पन्न करना शास्त्रमृ कहा है. इसलिए व्यासको भ्राताकी पत्नीसे संयोग करनेमृ कोई दोष(पाप) नहीं लगा, कारण कि इस कर्ममृ आसक्तिका सम्बन्ध नहीं है अर्थात् राग(आसक्ति) हो तो पाप लगे. कलियुगमृ अग्निहोत्रकी तरह देवरोत्पत्तिका निषेध है. कारण कि कलियुगमृ अनासक्ति (अराग) हो नहीं सकेगा ।।२१।।

आभासार्थ: इस प्रकार उपर्युक्त श्लोकॄमे विदुरका अभिनन्दनकर अब उसकी पूछी हुई भगवल्लीला उसको सुनाते हैं:

अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः ।
विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था वर्णयाम्यनुपूर्वशः ।।२२।।

श्लोकार्थ: अब योगमयाके सम्बन्धवाली भगवल्लीला जिसमॄ भगवान्ने विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और लय जिस तरह की है वह क्रमपूर्वक तुमको कहूंगा ।।२२ ।।

व्याख्या: 'अथ' शब्द कहनेका भावार्थ है कि मैं तुमको जो लीलाएं बताऊंगा उसका लोकमॄ जो प्रकार प्रसिद्ध है उससे पृथक् प्रकार है, केवल भगवान्ने जो लीलाएं की हैं, उनका प्रकार वेदमॄ ही है, तो भी वह तुझे नहीं कहूंगा. तुमको वे लीलाएं सुनाऊंगा जो भगवान्ने योगमायाको कारण बनाकर लौकिककी तरह मानादि लीलाएं की हैं, वेदमॄ कही हुई लीलाएं जो भगवान्ने केवल स्व स्वरूपसे ही की हैं वे तेरे योग्य नहीं हैं. वहां अन्तिम प्रश्नकी शंकाका समाधान कर दिया है. यॄ कहते हैं. विश्वकी स्थिति, उत्पत्ति और लय ही प्रयोजन जिनका ऐसे विशेषण द्वारा बताई है, वह क्रमसे कहूंगा.

भगवान्की लीलाएं मनको प्रसन्न कर स्नेहको उत्पन्न करती हैं. उन लीलाओंमॄ योगमायाके सम्बन्धसे आश्चर्यवाली होनेसे अद्भुतपन आता है, भगवान्से एवं उनकी लीलाओंसे बुद्धि अन्य किसीमॄ न जावे इसलिए यह कहा गया है. विश्वकी उत्पत्ति आदि तो माहात्म्य ज्ञानार्थ कहे हैं, क्रम-पूर्वक कहनेका कारण यह है कि सरलतासे उनका ज्ञान हो जावे, एवं स्मरणमॄ रहे यॄ होनेपर ही भगवान्मॄ भक्ति होती है. भगवान्ने विश्वकी स्थिति आदि की है, वह लीलासे ही की है, इसलिए उसमॄ कोई दोष नहीं है. भगवान्के नित्य पुरुषोत्तमत्वका ज्ञान सदैव रहे तदर्थ लीलाके उपायसे यह सृष्टि भगवान्से संबद्ध है अतः वह लीला भगवान्से पृथक् हो नहीं सकती है. अतः योगमाया स्वयं विश्वकी कर्ता नहीं, किन्तु केवल करणरूप हो साथमॄ रहती है, यदि साथमॄ न रहे तो सबका वशीकरण न हो सके. अब विश्वका स्वरूप कहते हैं. वह(विश्व) भगवान्का ही एक रूप है उस विश्वकी उत्पत्ति आदि पदार्थ तो योगमायाके सम्बन्धवाली लीलाओंसे ही हुए हैं. ये विषय तो सिद्ध ही हैं, मैं तो केवल कहनेवाला हूं, कविकी तरह उनका वर्णन नहीं किया जाता है परन्तु आदिसे अन्त तक क्रम-पूर्वक कहता हूं ।।२२।।

आभासार्थ: इस प्रकार प्रतिज्ञाकर और श्रोताको सावधानकर, विश्वकी उत्पत्ति निरूपण करनेकेलिए सृष्टिसे पहलेकी अवस्थाका निरूपण करते हैं:

भगवान् एक आसेदम् अग्र आत्मात्मनां विभुः ।
आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षितः ।।२३।।

श्लोकार्थ : सृष्टिसे पहले आत्माओंका आत्मा सर्व समर्थ भगवान् एक ही था, आत्माके धर्म पीछे उनमें प्रविष्ट हुए, किन्तु अनेक बुद्धिके कारण आत्मरूप होने लगे ।।२३ ।।

व्याख्या: यह समग्र जगत् उत्पत्तिसे पूर्व भगवान् ही था, शुद्ध भगवान्की लीला तो तब होती है जब भगवान् स्वयं ही इस प्रकारके(जगद्रूप) होते हैं, दूसरी लीला योगमायाके सम्बन्धवाली है, जिसमें वह जगत् भगवान्का एक प्रकारका रूप है. वह प्रवाहरूपसे आविर्भाव तिरोभाव युक्त होनेके कारणसे अनादि और अनन्त है. जब जगत् भगवान्की तिरोभाव शक्तिसे भगवान्में तिरोहित होता है तब जगत् भगवान् ही हो जाता है, जैसे नमक जलमें पड़नेपर जलमें लीन होके जलरूप हो जाता है. तब नमकका रूप देखनेमें नहीं आता है केवल जल ही दीखता है, इतना होते हुए भी उन दोनोंके स्वरूपोंका ऐक्य नहीं होता है क्योंकि जलका रस मीठा है और नमक खारा रस है, किन्तु उनको अलग-अलग नहीं किया जा सकता है. इसलिए उसका भी भगवत्पना कहा जाता है. इसलिए कहा जाता है कि यह जगत् सृष्टिसे पहले भगवान् ही था. अनन्तमूर्ति भगवान्में जगत्का तिरोभाव नहीं होता है बल्कि एक ही रूपमें होता है. 'आस' पद देनेका भाव यह है कि यह जगत् भगवान्के एक रूपमें जो लय हुआ उसमें भगवान्ने कुछ भी क्रिया नहीं की है, वह(जगत्) स्वयं स्वतः भगवान्में लय हो जाता है, जैसे जलमें नमक स्वयं लय हो(गल) जाता है. जलको इसलिए कुछ भी क्रिया करनी नहीं पड़ती है, उस(भगवान्)से उस(जगत्)को पृथक् करना महान् कठिन है, उसको तो भगवान् ही कर सकते हैं अतः इसको पुरुषार्थवाला भगवच्चरित्र कहा जाता है, जैसे किसी कार्य करनेमें योगी वा मणिको कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पडता है वैसे ही जगत्का रूप आप(भगवान्) बन जावें अथवा अपनेसे पृथक् कर उसकी उत्पत्ति करें. इसमें भगवान्को भी कुछ श्रम नहीं होता है.

उस समयके जीव चिद्रूप थे, तो एकमें ही कैसे लय हुए होंगे? इसका उत्तर देते हैं कि 'आत्मात्मना', वही भगवान् सब जीवोंकी आत्मा हैं, समष्टिकी

तरह मूलभूत चिद्रूप ही हैं, उसमॄ ही इस सत्प्रधानका पृथक् करनेमॄ लय होता है, यदि उसमॄ लय न होता तो पृथक् करणमॄ प्रयास करना पड़ता. अब पृथक्मॄ कठिनाई नहीं है. सत्मॄ लय होनेसे 'सत्' ही हुए, जिन जीवॄकी मुक्ति नहीं हुई है उनका जब प्रलय होता है तब जीवाश्रित जगत् भगवान्मॄ लीन होता है. 'विभुः' नाम देनेका आशय है कि भगवान्मॄ जगत् उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य वह ही सर्व सामर्थ्य पहले जीवॄका अपनेमॄ सम्पादनकर वहां ही फिर जगत्का लय कराया, यॄ कहनेसे यह बताया है कि जगत्का सम्बन्ध भगवान्से नहीं हुआ यह सर्व लीला जगत्से अस्पर्श रहते हुए भगवान्ने की हैं . इस प्रकार ऐक्य होते हुए भी अस्पर्श रहनेकी सामर्थ्य भगवान्मॄ है, कारण कि 'विभु' हैं, जबकि जीवॄमॄ इच्छा आदि धर्म मौजूद हैं तब फिर भगवान्मॄ एकभावसे स्थिति कैसे बनेगी? इस शंकाका निवारण करते हैं कि 'आत्मेच्छानुगतौ सत्याम्', पश्चात् जीवॄमॄ आत्माके धर्म भी प्रविष्ट होते हैं अथवा जब भगवान्की इच्छा होती है तब उनकी जगत्मॄ गति(लय) होती है, तब वह लीन हुआ, यॄ पूर्व प्रलयमॄ कारण कहा है तब यह भगवान् आत्मा ही है यॄ कहे जाते हैं अथवा आत्मापनसे ही उनमॄ ऐसी इच्छा उत्पन्न होती है. इस कारणसे ही वह(जगत्) आत्मरूप हुआ. तब भगवान् अन्य सृष्टिकी तरह एक रस न रहे किन्तु पृथक्-पृथक् बुद्धियॄके कारण नानाविधि दीखता है अथवा जैसे जुदी जुदी जातिके लवणके टुकडे जलमॄ डाले जावें तो वे नाना भांतिवाले भी उस जलमॄ नमकके टुकड़े एक ही दीखते हैं, उस समय यदि कोई पूछे कि नानाविधि सैन्धवके टुकड़े कहां हैं, तब उनके बदलेमॄ जाना जाता है कि सर्व जल ही है. इसी तरह सर्व मतियॄसे एक ही भगवान् हैं यॄ जाना जाता है अथवा भगवान्की इच्छा(धर्म) सर्वमॄ जानेसे सबमॄ आत्मापन ही है यॄ भान होता है, इससे यह निश्चय होता है कि भगवान्के एकदेशमॄ ही विश्वका लय होता है यॄ कहा गया है. ''एकांशेन स्थितो जगत्'', यह भगवद् वाक्य भी इसी सिद्धान्तकी पुष्टि करता है, आविर्भावमॄ भी यॄ ही समझना चाहिए, अर्थात् सृष्टि भी भगवान्के प्रकाशमॄ स्थित है ।।२३।।

आभासार्थः इस प्रकार पूर्व स्थिति बताकर पहले जीवॄकी उत्पत्ति कहते हैं:

स वा एष तदा द्रष्टा नाऽपश्यद् दृश्यम् एकराट् ।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरलुप्तदृक् ।।२४।।

श्लोकार्थः वह ही भगवान् तब द्रष्टा हुए, एक ही प्रकाशक आपने कुछ

भी दृश्य न देखा, कारण कि उस समय अन्य शक्तियां प्रकट न हुईं थीं, किन्तु ज्ञान शक्ति लोप न हुई थी अतः अपने असत् जैसा समझने लगा ।।२४ ।।

व्याख्या: जिसके भीतर सर्व विद्यमान है वह ही भगवान् निश्चयसे देवदत्त आदि रूपसे प्रतीतिमृ आनेवाला 'जीव' बना, तब जीव बनकर [1]तिरोभाव प्रकारसे प्रकट हुआ, प्रथम संस्कारृके कारण द्रष्टा बना, मैं द्रष्टा हूं यों पूर्वावस्थाका वर्णन करने लगा, जिससे यह इच्छा उत्पन्न हुई कि देखूं, दृश्य पदार्थ ढूंढ़ने लगा किन्तु दृश्य देख न सका. कारण कि वह एक ही सर्व जीवृका आत्मारूप अकेले ही प्रकट हुए थे, हालांकि आत्माको भी देख सकते थे तो भी पूर्ववासनाके कारण बहिर्मुख बनकर प्रकटा था. इसलिए अपने अतिरिक्त ही दृश्यको ढूंढ़ने लगा, दूसरा कोई नहीं था अपनेको ही असत् जैसा मानने लगा था. 'इव' पदसे यह सूचित किया है कि पूर्ण असत् नहीं माना किन्तु अर्द्ध असत् समझने लगा. अर्द्ध असत् माननेका भाव यह है कि 'आत्माका अंश है' जानने योग्य अंश नहीं है. जब उपाधि नहीं होती है तब औपाधिक धर्मोंमृ धर्माभाव रहता है, अतः द्रष्टाने अपनेको अद्रष्टा ही माना.

यदि कहो कि प्रथम जब दृश्य विद्यमान था और सद्रश्य(दृश्य सहित) ही उसका लय हुआ था तब अपने आविर्भावके समय द्रश्य भी क्यृा आविर्भूत न हुआ? इस शंकाके निवाराणार्थ कहते हैं कि 'सुप्तशक्ति', जो शक्तियां प्रयत्नकी उद्बोधक थीं, वे अब तक प्रकट नहीं हुई हैं तब तो ज्ञानशक्ति भी प्रकट न होनी चाहिए, यदि ज्ञानशक्ति प्रकट न हो तो अपनेको असत् जैसा कैसे माना इस शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि 'अलुप्तदृक्', आपकी ज्ञानशक्तिका कभी भी लोप नहीं होता है, आत्मा(स्वरूप)की तरह स्थित रहती है क्यृाकि आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है, अत: आत्मा प्रकट होती है तब वह भी साथमृ प्रकट हो जाती है इसलिए उस आत्माने अपनेको असत् जैसा माना ।।२४।।

१. ''पराभिध्यानात् तत् तिरोहितम्'' (३।२।५) ब्रह्मसूत्रमृ कहे हुए प्रकारसे ऐश्वर्यादिके तिरोभाव होनेसे.

आभासार्थ: आत्माको असत् मनानेवाले ज्ञान इकठ्ठे हो मायारूप बन गए जिसका वर्णन निम्न श्लोकमृ करते हैं :

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका ।
'माया' नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः ।।२५।।

श्लोकार्थः हे महाभाग! वह सत्-असत् रूपा, मायाशक्ति उस पूर्ण रीतिसे देखनेवालेकी ही है, जिसमृ सर्व प्रथम ईश्वरने यह जगत् रचा है ।।२५ ।।

व्याख्याः अपनेको जिस कारणसे असत् माना वह ही माया है. प्रथम कही हुई सत् असत् रूपा मोहमृ डालनेवाली जो शक्ति है वही माया है, जिसकी आत्मा सत् एवं असत् रूप है, स्वभावसे वह सत् रूप है अन्यथा उसका अङ्गीकार करनेके कारण वह असत् है, उस(माया)की आत्मा(स्वरूप) वैसी ही है यह(द्रष्टा) ही आत्मा है, वह(माया) धर्म(गुण) रूप है, उसका स्वरूप आत्मा ही देती है अथवा उसका(मायाका) स्वरूप त्रितयात्मक तीन तरहका है(आत्मा, सत्व और ज्ञानरूप है). वह माया गुणरूप है क्यृकि इस द्रष्टा जीवकी शक्ति है, दृश्य पदार्थको ढूढ़ते हुए अपनेको ही देखती है. 'शक्ति' शब्दका तात्पर्य है, उत्तर(होनेवाले) कार्यको करनेकी सामर्थ्य धारण करती है, अतः उसका नाम (माया) है. 'मया सह वर्तते इति माया', मेरे साथ रहती है वह माया, इस 'माया' पदमें 'म'मृ जो 'अ' है वह व्याकरणानुसार दीर्घ हुआ है जिससे मया से माया पद बना है.

हे महाभाग्यशाली! सम्बोधनसे यह सूचित किया है कि यह अर्थ समझना अतिशय दुरूह(कठिन) है किन्तु उसका ज्ञान आपको हुआ है अतः आप महाभाग्यवान् हैं. ''ययेदं निर्ममे विभुः'', सर्व समर्थ प्रभुने सारको न खृचकर जीवकी उस चित्त शक्तिरूप मायासे यह जगत् बनाया है, 'विभु' पदसे उस भावरूप शक्तिके कर्तव्यका निषेध करते हैं. सारांश यह है कि जगत्का कर्तापन भगवान्मृ ही है.(उस भगवान्ने) जीव स्वरूपकेलिए ही जगत्की रचना की है, अतः उसकी चित्तशक्तिरूप मायाको करण कर भगवान्ने जगत् रचा है, भगवान् किसी भी साधनसे जगत् रचनेमृ समर्थ हैं क्यृकि 'विभु' सर्व समर्थ हैं ।।२५।।

१.सृष्टिकी उत्पत्तिसे पहले जब भगवान्के सिवाय कोई नहीं था उस समय चित्तशक्तिसे कही हुई माया, सदसदात्मिका,भगवान्मृ थी.- प्रकाश

आभासार्थः जिस सृष्टिको आपने सामान्य रूपसे कहा उसको विस्तारसे निरूपण करते हैं:

कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्याम् अधोक्षजः ।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यम् आधत्त वीर्यवान् ।।२६।।

श्लोकार्थः जिनको ज्ञान, इन्द्रियृसे नहीं हो सकता है ऐसे वीर्यवाले

भगवान्ने कालकी क्रियासे गुणवाली हुई मायामृ अपने अंशरूप पुरुष द्वारा वीर्यका आधान किया ।।२६ ।।

व्याख्या: 'तु' शब्दसे उस पक्षको, जिसमृ जीवको जगत्कर्ता कहा गया है असत् कहते हैं, क्यृकि जीव जगत्का कर्ता नहीं है और न दूसरे किसीसे जगत्की रचना हुई है, अब जगत् रचना किस प्रकार हुई वह प्रकार बताते हैं कि, कालने आकर मायाकी प्रदक्षिणा की, जिससे मायाका गुणक्षोभ हुआ अर्थात् कालसे व्यापृत होनेसे उसके गुणृमृ क्षुब्धता उत्पन्न हुई जिससे वह मोहको प्राप्त हो जानेसे पुरुषकी तरह कामान्ध बन गई, भगवान् इन्द्रियातीत ही रहते हुए उससे अदृश्य होकर अपनेमृसे उनने एक पुरुष उत्पन्न किया जो उस(माया)के पति होने योग्य था. वह भर्ताके योग्य भगवदंश पुरुषोत्तमरूप ही था, वह पुरुष स्वतः प्रवृत्ति करनेमृ समर्थ नहीं होनेसे, उसको निमित्त बनाकर भगवान् स्वयं(खुद) ही उसके अन्तर्यामी हो गए. फिर उस(माया)मृ वीर्य डाला, क्यृकि स्वयं ही वीर्यवान् हैं, पुरुष और जीव दोनृमृ वीर्यका अभाव है कारण कि 'कोश' शरीरमृ ही होते हैं, अतः पुरुषको निमित्त मात्र बनाकर भगवत्स्थापित वीर्य, मायामृ स्थित हुआ, फिर जब उसमृ जीवका प्रवेश हुआ तब वह महत्तत्त्व बना ।।२६।।

ततोऽभवन् महत्–तत्त्वम् अव्यक्तात् कालचोदितात् ।
विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जन् तमोनुदः ।।२७।।

श्लोकार्थ: अनन्तर कालकी प्रेरणावाली उस मायासे महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ जो महत्तत्त्व अपनी देह स्थित जगत्के अन्धकारका नाशकर उसको प्रकाश देनेवाला विज्ञानात्मा है ।।२७ ।।

व्याख्या: उस मायामृ स्थित बीज, महत्तत्त्व नहीं है, किन्तु जब कालके क्षोभसे उस मायाका प्रसव हुआ तब वह महत्तत्त्व बना. चेतन कार्यकी उत्पत्ति जीवके धर्म(गुण)से और भगवदंशसे ही होती है. यहां संघातकी उत्पत्ति ही इच्छित है और लय भी संघातमृ होता है. वह ही विज्ञानात्मा हुआ. 'महत्तत्त्वम्' 'महत्' उसका नाम है, 'तत्त्वं' कहनेसे बताया है कि इसमृ भगवान्का कारणभाव है. इसलिये यह 'तत्त्व', 'महत्तत्त्व' कहा जाता है. वह उत्पन्न होनेसे गुणभाव वाला होनेपर भी अनन्तर प्रधानभावसे तत्त्वपनका त्याग करता है जिससे वह महान् पुरुषत्वसे निर्दिष्ट हुआ है. वह ही विविध ज्ञानृकी आत्मा(स्वरूप) बना है. क्रमसे जो सृष्टि होनेका पक्ष(मत) है, उसमृ यृ माना जाता है उसके द्वारा ही

सकल जगत् उत्पन्न हुआ है. तब उसके विज्ञानसे अपनेमृ विद्यमान जगत् प्रकाशसे युक्त(प्रकाशित) हुआ. उस जगत्का आवरण(पर्दा) जो तम (अन्धकार) था वह नाश हो गया. इसलिए कहा है कि ''स विज्ञानात्मा आत्मदेहस्थमेव विश्वं प्रकाशयन् तमोनुदो जातः इति'. उसको(विज्ञानात्माको) जगत्को उत्पत्तिकेलिए भगवान्ने रचा है इसलिए फिर उसके मौन स्थित होते ही कार्यकेलिए भगवान्से वह देखा गया ।।२७।।

सोऽप्यंश–गुण–कालात्मा भगवद्दृष्टि–गोचरः।
आत्मानं व्यकरोद् आत्मा विश्वस्याऽस्य सिसृक्षया ।।२८।।

श्लोकार्थ : भगवान्से देखे हुए उस अंश, गुण, काल और आत्मा रूपने विश्वात्मा होनेसे इस विश्वकी रचना करनेमृ अपनेको संलग्न किया ।।२८ ।।

व्याख्या: इस विज्ञानात्मामृ काल, सत्त्वादि कारणके गुण, अंश, पुरुष और आत्मा(जीव) भी प्रकट हुए, जिससे वह भगवान्से देखा हुआ वह चतुर्मूति अपनेको विविध करने लगा अर्थात् कार्य करनेमृ अपनेको संलग्न किया क्यृकि यह विश्वकी आत्मा है, यदि आत्मा न होती तो अपनी आत्मा कार्यमृ निमग्न नहीं होती. यृ किस कारणसे किया? इसका उत्तर देते हैं कि इस विश्वके रचनेकी इच्छासे किया वह ब्रह्मवेत्ताकी तरह साक्षीरूपसे स्थित था, बादमृ कार्यमृ संलग्न हुआ ।।२८।।

महत्–तत्त्वाद् विकुर्वाणाद् अहन्तत्त्वं व्यजायत।
कार्य–कारण–कर्त्रात्मा भूतेन्द्रिय–मनोमयः।।२९।।

श्लोकार्थ: वह महत्तत्त्व जब कार्यमृ विशेष निमग्न होने लगा तब उससे (महत्तत्त्वसे) कार्य, कारण और कर्त्तारूप, भूत, इन्द्रियां तथा मनोमय अहंकार उत्पन्न हुआ ।।२९ ।।

व्याख्या: इस श्लोकमृ विज्ञानात्मा न कहकर 'महत्तत्त्वात्' कहा, जिसका कारण कहते हैं कि 'स्वातन्त्र्याभावात्', स्वतन्त्र न होनेके कारणसे फिर वह पहली महत्तत्त्वकी(कारणकी) स्थितिसे प्राप्त हुआ. वह(महत्तत्त्व) जब कार्य करनेमृ विशेषरीतिसे लगा अर्थात् अपनेलिए कार्य करनेकी इच्छा की तब उस (महत्तत्त्वसे) अहन्तत्त्व उत्पन्न हुआ. उस(अहन्तत्त्व)का तीन प्रकार पूर्वकी तरह निरूपण करते हैं १.कार्य(अधिभूत) २.कारण(अध्यात्म) ३.कर्ता(अधिदैव). वह तीन रूप आत्मा होकर भूत, इन्द्रियां और मनोमय बनकर अहन्तत्त्व हुआ

अर्थात् भूत, इन्द्रियां और मनको उत्पन्न करनेवाला अहंकार हुआ ।।२९।।

आभासार्थः निम्न श्लोकसे उन भेदोंको गिनाते हैं :

वैकारिकस् तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ।
अहन्तत्त्वाद् विकुर्वाणाद् मनो वैकारिकाद् अभूत् ।।
वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः ।।३०।।

श्लोकार्थः अहंकार तीन तरहका है. १. वैकारिक २. तैजस ३. तामस. जब अहंकार कार्यमें विशेष मग्न होता है तब वैकारिक अहंकारसे मन तथा वैकारिक देव उत्पन्न हुए, जो देवता पदार्थोंका भान(ज्ञान) कराते हैं ।।३० ।।

व्याख्याः वैकारिक अहंकार सात्त्विक है, तैजस अहंकार राजस है, भूतोंका जो कारणरूप अहंकार है वह तामस अहंकार है. सात्त्विक अहंकारसे जो सृष्टि हुई उसको अब कहते हैं, सात्त्विक अहंकारसे मन और वैकारिक(सात्त्विक) देव हुए. 'वैकारिकाश्च ये देवाः', यों कहनेसे यह सूचित किया है कि ये देव गन्धर्वादि देवोंसे पृथक् हैं, सात्त्विक अहंकारके कार्यरूप जो देव हैं वे भी सात्त्विक उत्पन्न हुए. गन्धर्वादिसे देव भिन्न हैं, जिसमें प्रमाण देते हैं कि 'अर्थाभिव्यञ्जनं यतः', जो देवलोकमें पदार्थोंका ज्ञान कराते हैं वे ये हैं जो सात्त्विक अहंकारसे उत्पन्न हुए हैं. गन्धर्वादि देव पदार्थोंका ज्ञान नहीं कराते हैं, यदि इन्द्रियोंमें वे देव न रहते तो केवल इन्द्रियां शब्दादि(सुनने देखने आदि)का ज्ञान नहीं कर सकती थीं. ज्ञान करानेका सामर्थ्य इन देवोंमें ही है. यदि शास्त्रकल्पित हो तो इन्द्रियां भी कल्पित हों, जैसे शास्त्रों द्वारा निर्णय हुआ है वह ही यहां कहा गया है, विषयोंको प्रकाश करनेकी शक्ति देवोंके अधीन ही है ।।३०।।

आभासार्थः निम्न राजस अहंकारसे उत्पन्न सृष्टिका वर्णन करते हैं:

तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च ।
तामसो भूतसूक्ष्मादिः यतः खं लिङ्गम् आत्मनः।।३१।।

श्लोकार्थः ज्ञान और कर्मवाली इन्द्रियां तैजस(राजसाहङ्कार)से उत्पन्न होनेसे तैजस(राजस) हैं, तामस भूत और सूक्ष्मोंका कारण है, जिससे आत्मा (भगवान्)का ज्ञान करानेवाला आकाश उत्पन्न हुआ है।।३१ ।।

व्याख्याः कर्मेन्द्रियां तथा ज्ञानेन्द्रियां ये दोनों राजस हैं. ये दोनों प्रकारकी इन्द्रियां राजस हैं, जिसकी युक्ति पूर्वमें द्वितीय स्कन्धमें कही हुई है. 'एव' शब्द देनेका भाव(आशय) यह है कि दोनों इन्द्रियोंमें न सात्त्विकता है और न तामसत्व

है, याॅ तो ज्ञान सत्त्वप्रधान है और कर्म(क्रिया) तामसप्रधान हैं, किन्तु द्वितीय स्कन्धमॅ युक्तिपूर्वक इन्द्रियाॅका राजसत्व सिद्ध किया है. 'च' शब्दसे बुद्धि और प्राण कहे हैं.

अब श्लोकके उत्तरार्धमॅ तामससे उत्पन्न सृष्टि कहते हैं. भूत सूक्ष्माॅकी आदि(कारण) अर्थात् शब्द तन्मात्राएं कारण हैं. तामस होनेसे 'आदि' शब्द पुंल्लिङ्ग दिया है अथवा अहंकारका विशेषण है. विशेषण माननेपर तब भूताॅके सूक्ष्मका सामान्यतः कारण शब्द तन्मात्राआॅको माना गया है क्याॅकि अहंकारसे वा शब्द तन्मात्रासे उत्पन्न आकाश, आत्मा(भगवान्)का बोधक(ज्ञान कराने वाला) है अथवा शरीर है, कारण यह है कि भगवान् आकाशकी तरह ही व्यापक तथा निर्लेप हैं, एवं जैसे आकाशमॅ मेघाॅसे अन्धकार और फिर प्रकाश होता है किन्तु आकाश उनसे लिप्त नहीं होता है इस प्रकार आत्मा(भगवान्) भी किसीसे लिप्त नहीं होता है. ''आकाश शरीरं ब्रह्म'' इस श्रुत्यनुसार ब्रह्मका शरीर आकाश है. अतः जब शरीर ही लिप्त नहीं होता है तब आत्मा कैसे लिप्त होगा? इस सृष्टिके ऐसे प्रकार माहात्म्यकेलिए कहा है, अन्यथा तामससृष्टि अधमा है याॅ कहना चाहिए ।।३१।।

आभासार्थः आकाशसे वायुकी उत्पत्ति हुई इसका वर्णन करते हैं:

काल–मायांश–योगेन भगवद्–वीक्षितं नभः।
नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन् निर्ममे–ऽनिलम्।।३२।।

श्लोकार्थः जब भगवान्की दृष्टि आकाशपर पडी, तब काल, माया तथा जीवके सम्बन्धसे वह(आकाश) कार्य करने लगा, जिससे आकाशमॅसे स्पर्श उत्पन्न हुआ, स्पर्श जब कार्य करने लगा तब उससे वायु उत्पन्न हुई ।।३२।।

व्याख्याः पूर्वकी तरह गुणाॅमॅ क्षोभ करानेवाले काल, माया तथा अंश(पुरुष या जीव) हैं. इनके सम्बन्धसे आकाश कार्यमॅ लगा तब आकाशसे उत्पन्न स्पर्श तन्मात्राने वायु उत्पन्न की. आकाशको भगवान्ने देखा, यह वाक्य पृथक् है.।।३२।।

अनिलोऽपि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः।
ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम्।।३३।।

श्लोकार्थः आकाशसे भी बहुत बलवान् वायुने, निरत हो, कार्यरूप तन्मात्रा पैदा की, उस तन्मात्राने लोकका लोचन, तेज पैदा किया ।।३३।।

व्याख्या: इस प्रकार वायु भी अपने कारण आकाशसे विशेष बलवान् हुआ, तब उसने रूप तन्मात्राको उत्पन्न किया, उस(रूपतन्मात्रा)से लोकका लोचन रूप 'तेज' पैदा हुआ, यदि तेज न होता तो आंख होते हुए भी विद्यमान पदार्थोंको लोक देख नही सकता इसलिए तेजको लोचन कहा है ।।३३।।

अनिलेनाऽन्वितं ज्योतिः विकुर्वत्परवीक्षितम् ।
आधत्ताऽम्भो रसमयं कालमायांश–योगतः ।।३४।।

श्लोकार्थ: जब वायुसे मिले हुए तेजपर भगवान्की दृष्टि पडी तब वह भी कार्य करने लगा, उस(तेज)ने काल, माया और जीवके संयोगसे 'जल' पैदा किया ।।३४ ।।

व्याख्या: वायु सहित तेज कहनेका भावार्थ यह है कि इसने भी ऊपर कहे हुएके समान अपने कारणसे बल प्राप्त किया, भगवान्के देखते ही उसने रस तन्मात्रा उत्पन्न किया, जिसने जलको पैदा किया किन्तु इस तन्मात्रा जलसे पृथक् देखनेमॅ नहीं आती है, जिससे दोनॅकी उत्पत्ति साथमॅ कही है, किन्तु यहां भी जैसे अन्यॅकी उत्पत्ति हुई है वैसा क्रम समझना चाहिए. पहले रसतन्मात्रा अनन्तर उससे जल उत्पन्न हुआ. काल, माया और अंश(पुरुष या जीव)के संयोगसे ही उत्पत्ति पूर्ववत् हुई. ज्योति इसका साधन है यॅ आगे भी समझ लेना ।।३४।।

ज्योतिषाम्भोऽनुसंस्पृष्टं विकुर्वद् ब्रह्मवीक्षितम् ।
महीं गन्धगुणामाधात् कालमायांशयोगतः ।।३५।।

श्लोकार्थ: जब जलपर ब्रह्मकी दृष्टि पडी तथा तेजसे सामर्थ्य मिली, तब जल कार्य करने लगा. कार्य करते हुए काल, माया और जीवसे सम्बन्ध होनेपर गन्धके गुणवाली पृथ्वी पैदा की ।।३५ ।।

व्याख्या: तेजसे प्राप्त सामर्थ्यवाले जलने गन्ध गुणवाली पृथ्वी उत्पन्न की, पहले गन्धतन्मात्रा पश्चात् उससे पृथ्वी पैदा हुई ।।३५।।

आभासार्थ: निम्न श्लोकॅसे उनके गुण कहते हैं:

भूतानां नभआदीनां यद्यद् भाव्यावरावरम् ।
तेषां परानुसंसर्गाद् यथासङ्ख्यं गुणान् विदुः ।।३६।।

श्लोकार्थ: आकाश आदि भूतोमॅ क्रमशः एकके पीछे दूसरे गुण उत्पन्न होते हैं क्यॅकि उनको कारणका सम्बन्ध है, जिससे उनमॅ संख्यानुसार गुण हैं यॅ विद्वान् जानते हैं ।।३६ ।।

व्याख्याः जिन वायु आदि भूतॄकी आदि आकाश है, उनमॄ जो कुछ उत्तरोत्तर आगे होनेवाला वह ही प्रत्येकमॄ अधिक गुण है. जिसका कारण यह है कि उनको अपने-अपने कारणसे सम्बन्ध है, अतः संख्यानुसार सब अपने-अपने गुणको प्रकट करते हैं, जैसे प्रथम आकाश है तो वह एक गुण, शब्दको पैदा करता है. दूसरा वायु है तो वह दो गुण, शब्द और स्पर्श को उत्पन्न करती है. तीसरा तेज है तो वह तीन गुण, शब्द-स्पर्श और रूप पैदा करता है. चौथा जल है तो वह चार गुण, शब्द-स्पर्श-रूप और रस पैदा करता है तथा पांचवां पृथ्वी है तो वह पांच गुण प्रकट, शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध को पैदा करती है, सारांश यह है कि प्रत्येक भूतके इस प्रकारके गुणॄको तत्त्वज्ञ जानते हैं ।।३६।।

आभासार्थः चेतन प्राणियॄको कार्य करनेमॄ जो हमारा रूप उपयोगी हो वह रूप हमॄ प्राप्त हो तदर्थ वे तत्त्व भगवान्‌का भजन करने लगें यॄ निम्न श्लोकमॄ कहते हैं:

एते देवाः कला विष्णोः कालमायांशलिङ्गिनः ।
नानात्वात् स्वक्रियाऽनीशाः प्रोचुः प्राञ्जलयो विभुम्।।३७।।

श्लोकार्थः काल, माया और जीवके लिंग(चिह्न)वाले ये देव, विष्णु की कलाएं हैं, पृथक् पृथक् होनेके कारण अपने ब्रह्माण्ड निर्माणके कार्यमॄ आसक्त थे. अतः हाथॄकी अंजलि बांध प्रणाम करते हुए प्रभुको प्रार्थना करने लगे ।।३७।।

व्याख्याः इन्द्रियां और उनके देवॄको साथमॄ गिननेसे वे दश माने जाते हैं कारण कि उनकी एकता बतानेकी इच्छा है अतः दश कहे हैं, भूत और तन्मात्राएं दश हैं(५ भूत और ५ तन्मात्राएं मिलाकर दश है). महत्तत्त्व, अहंकार और मन ये तीन हैं, इस तरह प्राकृतिक गुण २३का होता है, स्तुति करनेका निर्देश सामान्य रूपसे कहनेके कारण जाना जाता है कि काल और मायादि भी स्तुति करते हैं, सर्वदेव भगवान् विष्णुकी [1]कलाएं हैं, जिनके काल, माया और अंश(जीव) चिह्न हैं. इस प्रकार अपने कारणॄ सहित होते हुए भी तीन गुणॄके कार्यरूप होनेसे पृथक् पृथक् भावॄको प्राप्त हुए हैं, अतः नाना होनेसे भिन्न भिन्न भाववाले हुए, जिस कारणसे ब्रह्मांडकी रचना करनेमॄ असमर्थ हुए, तीन प्रकारके होनेसे उनका मेल भी न हो सका, अकेले कार्य करनेमॄ प्रत्येक असमर्थ रहा. अतः(इस कारणसे) समर्थ प्रभुको हाथ जोड़कर कहने लगे अर्थात् स्तुति करने लगे.

इनके देह वचनादिका विचार किया जाता है, ये तत्त्व भगवान्के भाव (स्वभाव)रूप बने हुए हैं, 'भाव'का तात्पर्य है कि सर्व तत्त्वॄके प्रति भगवान्की कारणता समान[२] है, भगवान्की कारणता २५[३] प्रकारसे हुई है, क्यॄकि भावकी प्रधानता जहां होती है वहां धर्मोंकी प्रधानता नहींहोती है अर्थात् भगवद्रूपी तत्त्वॄमॄ भगवान्की सच्चिदानन्दरूपता नहीं है. अतः उनमॄ सच्चिदानन्द रूप भी तिरोहित होते हैं. भगवान् जितने ही केवल धर्म उनमॄ प्रकट करते हैं वे वैसे ही धर्मयुक्त होते हैं. जिस भगवान्के ये अंशरूप प्रकट हुए हैं उस भगवान्के हस्तपादादि सर्वत्र प्राप्त हैं अतः सर्वत्र ही कारणके प्रतिरूप हस्तपादादि उनमॄ(तत्त्वॄमॄ)विद्यमान होनेसे वे उनसे ही अपना सर्व व्यवहार करते हैं, अर्थात् तत्त्वॄको अपने कार्य करनेमॄ किसी प्रकार प्रतिबन्ध नहीं होता है, शरीर तो मिला ही है, उस शरीरके अभिमानी 'चिद्'के अंशरूप देव वे भी हैं ही, इसलिए ही श्रुति ''कनीयसा एव देवाः''(ये देव निर्बल हैं) कहती हैं. वेदमॄ तो तत्त्वॄके स्थानपर प्रजापति कहा गया है, वहां समष्टिके अनन्तर ही वहांके पदार्थोंका निरूपण किया है, ''द्वया ह प्रजापत्याः'' प्रजापत्य दो प्रकारके हैं. यहां भी सॄष्टिभेदसे दोनॄ प्रकारकी इन्द्रियां वहां हैं, इसलिए उनका भी यह ही रूप है, तब ही ''चक्षुरुदगायत्'' (चक्षु बाहर प्रकट हुए), इत्यादिकी संगति हो सकती है. जैसे यहां महत्तत्त्व है, वैसे वेदमॄ प्रजापति है, जैसे यहां पुरुष है वैसे वेदमॄ विराट् है, जैसे यहां भगवान् वैसे वहां(वेदमॄ) यज्ञ है, जैसे यहां काल वैसे वेदमॄ परमेष्ठी है, जैसे यहां माया वैसे वेदमॄ उनका प्रयत्न है. उत्तरकाण्डमॄ यज्ञके स्थानपर 'ब्रह्म' कहा है, जैसे यहां भगवत्स्तुति वैसे वेदमॄ उद्गीयः है. वे आधिदैविक हैं इसलिए वे हमारे+४ इन्द्रियादिके नियामक कहे हैं, यॄ न होता तो दोष और गुणादिके नियम और भगवान्की आज्ञा प्रत्येकको पालन करनी पडती, इस कारणसे भगवान्की इन्द्रियॄकी प्रतिरूप इन्द्रियां तत्त्वॄमॄ विद्यमान होनेसे मोक्षमॄ भी जीवॄकी इन्द्रियां इस प्रकारकी रहती हैं जिससे किसी प्रकार अयोग्यता नहीं है ।।३७।।

१.धर्म. २.समानता भगवान्का स्वाभाविक गुण है.३.२३ प्रकारका समूह ऊपरका है इनमॄ काल और मायाके संयोगसे २५ होते हैं.४.जीवके देहमॄ जो इन्द्रियां हैं उनके नियामक कहे हैं.

सॄष्टौ तु साधकं रूपं भक्त्यादेः विनिरूप्यते ।
तत्त्वादिस्तोत्ररूपेण सर्वलीलासु तत्स्थितौ ।।कारि.१।।
तत्त्वैस्तु भक्तिनिर्द्धारो ज्ञानस्य ब्रह्मणा तथा ।

ऋषिभिः यज्ञनिर्धारः त्रितयं सृष्टिहेतुकम्।।कारि.२।।

कारिकार्थः सृष्टिमॄ मोक्षकी प्राप्तिका साधक भक्ति आदि हैं, यह तत्त्वादिने प्रार्थना(स्तुति)कर सिद्ध किया है, तत्त्वॄने यह निर्णय किया है कि मोक्षका साधक भक्ति है, ब्रह्माने यह निर्णय किया कि मोक्षका साधक ज्ञान है और ऋषियॄने कहा है कि यज्ञ द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है, सकल लीलाओंमॄ सृष्टिकी स्थितिकेलिए वे तीनॄ कारणरूप हैं।।१,२।।

भगवत्कार्यसिद्ध्यर्थं कामादिरहितं तथा।
साधकं नाऽन्यथारूपम् इत्यग्रे नाश उच्यते।।कारि.३।।

कारिकार्थः भगवत्सम्बन्धी कार्यकी सिद्धिकेलिए निष्काम भक्तिका स्वरूप, मोक्ष प्राप्त करानेवाला है सकामभक्ति मोक्षकी सिद्धि नहीं करती है इसलिए आगे उसका नाश हो जानेको कहा है।।३।।

कालप्रयुक्ता भक्तिर्हि त्रयोदशविधा यतः।
अन्यथा सृष्टिकरणं शुद्धया नैव तद् भवेत्।।कारि.४।।

कारिकार्थः काल द्वारा होनेवाली भक्ति १३ प्रकारकी कही है कारण कि तत्त्वॄने १३ श्लोकोंसे स्तुति की है. यदि यॄ न होवे तो शुद्ध भक्तिसे इस सृष्टि करनेका कार्य नहीं हो सकता।।४।।

१. ब्रह्मकल्पकी सृष्टि अन्यप्रकारसे होनेसे इसको शुद्धभक्ति नहीं रच सकती है.अतः काल द्वारा होनेवाली १३ प्रकारकी भक्ति कही है.

भक्ति–प्रपत्ती प्रत्यक्षं भक्तिज्ञाने परोक्षतः।
सात्त्विकीयं समाख्याता वासन्तग्रैष्मभावतः।।कारि.५।।

कारिकार्थः भक्ति और प्रपत्ति(शरण) दोनॄ प्रत्यक्ष मोक्ष करानेवाले हैं भक्ति एवं ज्ञान परोक्षसे मुक्तिप्रद होते हैं, वासना(वसन्त ऋतुके) तथा(ग्रीष्म ऋतुके) भावॄसे यह सात्त्विकी क्रिया बताई है।।५।।

राजसे भक्तिराहित्यात् तदर्थं प्रार्थना पुरा।
शरणागमनं पश्चाद् निन्दया साधनं फले।।कारि.६।।

कारिकार्थः राजस अहंकारमॄ(राजस अहंकार होनेपर) भक्ति नहीं हो सकती है, अतः इसकेलिए पहले प्रार्थना करनी पडती है, पश्चात् शरण ली जाती है अनन्तर निन्दाके प्रकारसे साधन एवं फल दोनॄ कहे हैं।।६।।

तामसे ज्ञाननिन्दातः परोक्षे भजनं स्तुतम्।
भगवत्कार्यराहित्य–हेतूक्त्या स्वस्य साधनम्।।कारि.७।।

फलवत् प्रार्थना प्रोक्ता द्विविधा सा निगद्यते।

कारिकार्थः तामस अहंकारकी दशामृ ज्ञानकी निन्दा हो जाती है और वियोगमृ(परोक्षमृ) भजनकी प्रशंसा की है, भगवत्कार्य(सेवा-स्मरण) आदिमृ निकम्मा बन जानेसे उसके हेतुको बताकर स्वयं साधनरूप बन जावृ ऐसी प्रार्थना करते हैं. प्रार्थना मल सम है. वह दो प्रकारकी कही[1] है।।७।।

आभासार्थः उसमृसे प्रथम बताते हैं कि जब भगवान् प्रत्यक्ष हो तब सात्त्विकी उत्तमाभक्ति होती है जिसका इस श्लोकमृ वर्णन करते हैं:

देवाः ऊचुः

नमाम ते देव! पदारविन्दं प्रपन्नतापोपशमातपत्रम्।
यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति।।३८।।

श्लोकार्थः देव कहते हैं हे देव! शरणागतृके तापका नाशक जो आपकी चरणारविन्दरूप छतरी है, जिसके नीचे जिन्हृने आश्रय लिया है ऐसे [2]योगीजन, संसारके महादुःखृको शीघ्र ही सरलतासे दूर फृक देते हैं. इस प्रकारके आपके चरणारविन्दको हम प्रणाम करते हैं।।३८।।

१. इन कारिकाओृमृ कहे हुए विषयकी ३८ श्लोकसे ५० श्लोक तकके श्लोकृमृ स्पष्टता की गई है. २.संन्यासी.

व्याख्याः भगवान् जब प्रत्यक्ष होते हैं तब सिवाय प्रणाम करनेके अन्य प्रकारका भजन नहीं हो सकता है, क्यृकि "**नमो नमः[1] एतावत् सदुपशिक्षितम्**" इस वाक्यमृ ऐसी ही शिक्षा है, अतः हे स्वामी! हम आपके चरणारविन्दको नमस्कार करते हैं, आपको नमस्कार इसलिए करते हैं कि आप देव हैं . जिस स्वरूपमृ देवत्वका भान हो वह स्वरूप ही नमन योग्य है, गुरुओृको भी जो प्रणाम किया जाता है उसका भी कारण यह है कि गुरुओृमृ देवत्व दिखता है गुरुत्व ही सेवा कराता है. वह प्रणाम तीन प्रकारके हैं १.लौकिक २.वैदिक ३.भक्तिमार्गीय. उनमृसे यह नमन भक्तिमार्गीय है, यृ जतानेकेलिए 'पदारविन्द' पद दिया है. चरणका [2]सुसेव्यपन देख(समझ)कर जो प्रणाम स्नेहसे किया जाता है वही भक्ति है, भगवान्के स्वरूपको जो प्रणाम किया जाता है वह प्रणाम वैदिक है(वेदविधि है) और जो प्रणाम भगवान्के ऐश्वर्यादि धर्मोंको किया जाता है वह लौकिक प्रणाम है क्यृकि लोकमृ लोग ऐश्वर्यादिको ही नमते हैं. अप्रकटित स्वरूपको नमन करनेके कारणसे ही 'चरणारविन्द' एकवचन दिया है. सगुण होनेसे

चरणारविन्द सृष्टिरचना करनेका साधन है अर्थात् चरणारविन्दसे ही हमको (देवॄको तत्त्वरूपॄकी) सृष्टि रचनेकी सामर्थ्य प्राप्त होगी, जिससे रचना करनेमॄ क्लेश न होगा.

चरणारविन्द क्लेश मिटानेवाला है जिसको दो प्रकारसे निरूपण करते हैं १.भक्तिसे .इन दोनॄमॄ जो शरणागतिके अधिकारी हैं वे त्याग करनेमॄ समर्थ नहीं हैं अर्थात् वे त्याग नहीं कर सकते हैं, अतः शरण ही लेते हैं और जो भक्तिके अधिकारी हैं वे त्याग कर सकते हैं, अतः प्रथम चरणारविन्द तापका निवारण करनेवाला है. यह प्रतिपादनार्थ कहते हैं कि 'प्रपन्नतापोपशमातपत्रम्'. शरणागतॄके जो भीतरके तथा बाहरके ताप हैं उनको शीघ्र ही शांत करनेकेलिए भगवच्चरणारविन्द आतपत्र(छत्री) है अर्थात् तापसे रक्षा करने(बचाने)वाला है भगवान्का चरण भक्तके ऊपर ध्रुवकी तरह अर्थात् सर्वत्र एवं सर्वदा विराजमान रहता है. इससे यह कहा है कि भक्त जहां कहीं भी जाता है तो चरणारविन्द भी वहां ही ताप दूर करता हुआ जाता है इससे भगवान्के चरणारविन्दकी भक्तवश्यता निरूपण की है. यह ताप कालकृत है, इसलिए सर्व प्रकारके तापसे बचानेवाला चरण है यॄ कहा है. स्वभावसे ताप हो तो जिसकेलिए चरणका अमृतत्त्व निरूपण किया है. यदि ताप कर्मके कारण व्याधिरूपमॄ है तो उसकेलिए चरण औषधि आदि रूप कहा है. जो शरणागत हैं तदर्थ भगवान् स्वयं ही आते हैं एवं साथमॄ चलते हैं यॄ भी कहा है.

सर्वतः जो विरक्त भक्त हैं उनकेलिए चरणमाहात्म्य कहते हैं कि 'यन्मूलकेता', ऐसे विरक्त भक्त सर्वदा भगवच्चरणारविन्दके नीचे ही रहते हैं, गृह तथा वृक्षका आश्रय नहीं करते हैं सर्वथा केवल भगवच्चरणारविन्दाश्रय होकर रहते हैं, अर्थात् भगवच्चरणारविन्द ही उनका मूल स्थान है. वे स्वच्छन्द व्यवहार नहीं करते हैं यह बतानेकेलिए 'केतु' शब्दके आगे उपसर्ग नहीं दिया है, तब तो उनकेलिए पंचाग्नि तप करनेवालॄकी तरह दूसरा कोई गृह निर्माण करना चाहिए? इसपर कहते हैं कि वे योगी(संन्यासी) हैं जिससे वे केवल भगवन्मार्गमॄ प्रयत्नवाले हैं प्रथमावस्थाका(गृहस्थ विषयादिका) त्याग, पूर्व अङ्ग है. यदि केवल पूर्वाङ्ग होकर स्थित हो जाते हैं तो वे वृकादि(विषयादिके) भक्ष्य हो जाते हैं, वह त्याग दोष रहित नहीं होता है अतः वह समीचीन(सम्पूर्ण) न होनेसे उस त्यागका पाखण्डत्व पर्यवसान(अन्त) हो जाता है और जो संन्यासी पूर्वाङ्ग करनेके अनन्तर

अपनी सर्वक्रिया भगवत्प्राप्तिकेलिए करते हैं वे शीघ्र बिना परिश्रमसे महत् संसार दुःखको (भूखप्यासादि तृष्णारूपको) बाहर फूक देते हैं. परलोकका दुःख तो उनको होता ही नहीं है वह तो उनका निवृत्त हो गया है. अतः सर्व पुरुषार्थरूप जो भगवच्चरणारविन्द हैं उसको ही हम प्रणाम करते हैं यॄ मुख्य हेतुका निरूपण किया है. जिनकेलिए भगवान् पधारे हैं वे(१) भगवदीय(२) शरणागत और(३) भक्त. ये तीन प्रकारके कहे हैं ।।३८।।

१. वारम्वार नमन करना इतना ही सदुपदेश(शिक्षा) दिया है. २. सरलतासे सेवा होना समझकर, अर्थात् प्रणाम करनेमॄ किसी प्रकार श्रमादि नहीं है.

आभासार्थः दूसरे कार्यकेलिए अर्थात् सृष्टिकेलिए आए हुए भगवान्को जो भजते हैं उनका स्वरूप निम्न श्लोकमॄ कहते हुए मध्यभावसे उनका आश्रय सिद्ध करते हैं :

धातर्यदस्मिन् भव ईश जीवाः तापत्रयेणाऽभिहता न शर्म ।
आत्मंल्लभन्ते भगवंस्तवाङ्घ्रिच्छायां सविद्याम् अत आश्रयेम ।।३९।।

श्लोकार्थः हे विधाता!(पिता) हे ईश! तीन तापॄसे तप्त जीवॄको इस जगत्मॄ शांति होती ही नहीं है, इसलिए हे भगवन्! आपके चरणारविन्दकी विद्यायुक्त छायाका आश्रय करते हैं ।।३९ ।।

व्याख्याः सृष्टिकार्यकेलिए पधारे हुए हैं. 'धाता' पद देनेका आशय कहते हैं कि वे जगत् रचनेवाले, कर्ता एवं पिता हैं, इस संसारमॄ जिस कारणसे जीव तीन तापॄसे तप्त होनेसे कहीं भी शांति पा नहीं सकते हैं. हे ईश! यॄ संबोधन देकर यह सूचित किया है कि उन तापॄसे उत्पन्न दुःखॄको दूर करनेमॄ आप समर्थ हैं, एक तापसे भी जो तप्त होता हैं उसको भी स्वाभाविक(आत्मसुख) सुख प्राप्त नहीं मिलता है तो अन्य सुखॄकी वार्ता ही क्या की जावे? जो तीन तापॄसे तप्त हैं उनको तो स्वल्पमात्र भी शांति नहीं मिलेगी, इसलिए हम पहलेसे ही संसारमॄ प्रवेशकर आपकी चरणच्छायाका आश्रय करते हैं. हे भगवान्! यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि आप निवृत्तिकर, सर्व प्रकारके इष्टफलको देनेवाले हैं, छायासे बाहरका ताप निवृत्त होता है, भीतरके तापकी निवृत्तिकेलिये कहा कि 'सविद्यां', जैसे छत्री जलवाली होती है वैसे यह छाया विद्या(उपासना व ज्ञान) युक्त हो तब भीतरका ताप निवृत्त करती है. छायाकी प्रधानता भगवान्की प्रधानता कहनेके अभिप्रायसे कही है, तात्पर्य यह है कि जैसे सूर्य आदिके वश

होनेसे छाया कभी चरणारविन्दके स्थानसे अन्यत्र होती है तब जहां छाया होती है वहां ही रहना पड़ता है क्यूंकि छायाके आश्रयसे ताप निवृत्ति होती है, चरणके नीचे तो धाम पड़ती है, अतः यदि भगवान्‌की इच्छा ऐसी हो कि मुझसे दूर रहकर ही उपासनादि करो, इसलिए भगवदिच्छानुसार हम आप(भगवान्) चरणार-विन्दकी छायाका ही आश्रय करते हैं, वह छाया उपासना व ज्ञानयुक्त होनेसे उसका आश्रय कर कहीं भी रहना उचित समझते हैं, वहां ही भगवद्‌गुणोंका अनुसन्धान वा भगवत्परिचर्या(सेवा)का आनन्द ले, सर्व प्रकारके तापोंको मिटाते हैं. इसी प्रकार साक्षात् भगवत्सम्बन्ध होनेपर भक्ति और शरण लेनेका सिद्धान्त निरूपण किया है ।।३९।।

आभासार्थः यदि वैसा अधिकार न होवे तो परोक्षमें गंगाजीके तटपर स्थित हो श्रुतिका तात्पर्य विचारकर भगवद् गुणानुसंधान करना चाहिए यों निम्न श्लोकमें कहते हैं :

मार्गन्ति यत् ते मुखपद्मनीडैः छन्दःसुपर्णैः ऋषयो विविक्ते ।
यस्याघमर्षोदसरिद्‌वरायाः पदं पदं तीर्थपदः प्रपन्ना ।।४०।।

श्लोकार्थः तीर्थपद(तीर्थ जिसके चरणोंमें रहते हैं वैसे भगवान्‌के) आपके पापनाशक जलसे पूर्ण नदीके स्थानरूप चरणोंके आश्रित जो ऋषि लोग हैं वे एकांतमें बैठकर आपके मुख कमलरूप नीडों(घोसलों)से उत्पन्न(निकले-प्रकट हुए) वेदरूप गरुडों द्वारा आपके चरणोंका विचार करते रहते हैं ।।४० ।।

व्याख्याः जो मन्त्रद्रष्टा होते हैं उनको ऋषि कहा जाता है, वे आपके मुख कमलरूप नीड़ों(घोसलों)से प्रकट हुए वेदरूप गरुड़ों द्वारा आपका चरण ढूंढते (विचारते) हैं, वेद निश्चयसे गरुड़रूप पक्षी हैं, उनका मूल स्थान भगवान्‌का मुखकमल ही है, जैसे कमलपर मकरन्दादिके पानार्थ पक्षी आकर बैठते हैं वैसे इनका(वेदरूप गरुड़ पक्षियोंका.) भी तो यह नीड़ ही है, वेदोंका पक्षीरूपत्व श्रुतियोंसे सिद्ध ही है . ''**छन्दांसि रथो मे भवतः**'', इस श्रुतिमें वेदोंको रथ कहा है. ''**छन्दांसि सौपर्णेयाः**'', इस श्रुतिमें वेदोंको 'सुपर्ण'पदसे गरुडरूप कहा है, गरुड़पर भगवान् विराजते हैं इसलिए उसकी लोकमें प्रसिद्धि हुई है. इसी प्रकार वेदोंमें भी भगवान् विराज रहे हैं. अतः वे वेद लोकमें यज्ञरूप भगवान्‌का बोध(ज्ञान) कराते हैं, ऋषि ही मन्त्रद्रष्टा हैं जिससे वे मन्त्रोंको जानते हैं, इस प्रकार गंगाके तटपर स्थिति करनेसे भगवान् अपने चरणकी प्राप्ति कराएंगे. इस कारणसे एकान्तमें

एकाकी होकर ही रहा जाता है, यदि बहुत होवॄ तो चरण प्राप्ति नहीं होती है कारण कि बहुत होनेपर भगवद् गुणानुसन्धानादि चिन्तन नहीं हो सकता है . 'यस्य' पद कहनेका भाव यह है कि आप जो प्रसिद्ध हैं, क्यॄ प्रसिद्ध हैं? इसके उत्तरमॄ कहते हैं कि 'तीर्थपद', आपके चरणमॄ तीर्थ रहते हैं. 'तीर्थ' पदका तात्पर्य है कि सर्व पापॄको वे क्षय करनेवाले हैं, पापॄके नाश हो जानेसे अधिकारकी सिद्धि प्राप्ति होती है, तीर्थपदत्वका प्रतिपादन करते हैं कि पापॄको नाश करनेवाला जल जिसमॄ, ऐसी जो उत्तम नदी 'गङ्गा', उसका निवास स्थान भगवच्चरण ही है. 'पद'का अर्थ स्थान है . दूसरा 'पद' शब्द विशेषण है, अतः इसका भावार्थ होता है कि गंगाजीके तीर परसे जाते-जाते 'पद' चरण(गंगा) तक पहुंच जाते हैं और फिर वहां वेदॄका भावार्थ विचारते हुए भगवच्चरणारविन्दको जान जाते हैं. जलसे पापॄका नाश होना तो गौण फल है.

चरणसे अन्यत्र जाती हुई भी गंगा फिर वेदकी तरह वहां ही(चरणमॄ ही) प्रविष्ट होगी. यॄ वेदॄके द्रष्टान्तकेलिए निरूपण किया है. जैसे पदके सम्बन्धसे गंगाजीका महात्म्य है, यॄ वेद कि प्रामाणिकता भी भगवान्की प्रामाणिकतासे ही है, मन्त्र और आयुर्वेद की तरह उसका प्रमाण आप्तॄकी(सत्य वक्ताॠकी) प्रामाणिकताके कारण ही है, यॄ स्मृति कहती है ।।४०।।

आभासार्थः जो शरणागत है वे ही चरणको ढूंढनेमॄ समर्थ होते हैं दूसरे नहीं. जो शरणागत नहीं हैं वे केवल ज्ञानमार्ग द्वारा चरणका आश्रय लेकर रहते हैं जो निम्न श्लोकमॄ कहते हैं :

यत् श्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या सम्मृज्यमाने हृदयेऽवधार्य ।
ज्ञानेन वैराग्यबलेन धीरा व्रजेम तत् तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम् ।।४१।।

श्लोकार्थः जिस(प्रभु)की श्रद्धा तथा श्रवणभक्तिसे शुद्ध हुए हृदयको आपके चरणकमलॄका निश्चित सिंहासन बनाकर एवं वैराग्य बलवाले ज्ञानसे धीर हो आप(भगवान्)के चरणॄको ही अपना स्थान बनाते हैं।।४१ ।।

व्याख्याः भगवान्मॄ श्रद्धा(आस्तिकता पूर्ण बुद्धि) और श्रवणादिसे पुष्ट भक्ति, ये दोनॄ(श्रद्धा और भक्ति) ज्ञानमार्गमॄ अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाले हैं. 'च' पद देकर यह सूचित किया है कि कीर्तनरूप भक्तिसे भी हृदयको विशेष शुद्ध करनेमॄ आता है, जैसा कि कहा है "**यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ**", ज्यॄ-ज्यॄ अन्तःकरण शुद्ध होता जाता है त्यॄ-त्यॄ उसमॄ चरणकमलके आसनको निश्चित

रूपसे धारण करनेसे वैराग्यबलवाला ज्ञान प्राप्तकर वे ज्ञानी हो धीर बन जाते हैं, वैसा जो आपका चरणकमलरूप आसन है उसको हम प्राप्त करू, हम उसके भी अधिकारी नहीं हैं अतः वह हृदयमृ स्थित है ऐसा निर्धारकर उनको भजते हैं. श्रद्धा श्रवणादिसे वैराग्य सहित जब ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान, आत्मतत्त्वका रूप समझाता व प्रकट कराता है, तब ज्ञानी(ब्रह्मरूप) होता है. उस समय भगवान्के चरणारविन्दका आसन जो अक्षर है प्रकट होता है, तब उसके(ज्ञानीके) उपदेशसे अथवा उस ज्ञानीके हृदयमृ प्रवेशकर वा उसके तत्त्वभाव (उसके स्वभावकी स्थिति)को प्राप्त होकर वे तत्त्व उस(अक्षर)के शरण जाते हैं, अतः भक्तिमार्गकी वह चतुर्थी कक्षा है. उस कक्षामृ आनेपर दो प्रकारसे भजन होता है. स्वतः हृदयमृ भजन होता है अथवा भक्तका आश्रय ले भजन करते हैं. ज्ञानियृके आगे भगवान् अपने चरणको प्रकट नहीं करते हैं अतः 'आसन' (अक्षर) कहा है, प्रत्येककेलिए उपयोगीरूप निरूपणार्थ 'अङ्घ्रि सरोज'(चरणकमल) पद दिया है. इस ज्ञानमार्गमृ 'धीर' बनना ही फल है. वास्तवमृ जो सब कुछ हो रहा है वह भगवान् स्वयं अथवा भगवदाज्ञासे काल करता है न कि अन्य प्रकार(भगवान् वा कालके सिवाय) से कुछ बन सकता है. जब भगवान् वा कालके सिवाय अन्य कोई भी कुछ नहीं कर सकता है तब भय करनेका कोई भी कारण नहीं है, प्राणी व्यर्थ ही धैर्यका त्यागकर क्लेशृका अनुभव करता है. अतः पूर्वोक्त पक्ष (स्थिति)का अभाव हो तो, धैर्य फल देनेवाली यह स्थिति श्रेष्ठ है. इसी तरह सात्त्विक प्रकारमृ पांच पक्ष निरूपण किये हैं ।।४१।।

आभासार्थ: अब इन निम्न श्लोकृमृ राजस प्रकार कहते हैं, जिसमृ पहले सकाम हो, शरणागति करनी कहते हैं:

विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमार्थे कृतावतारस्य पदाम्बुजं ते ।
व्रजेम सर्वे शरणं यदीश स्मृतिं प्रयच्छत्यभयं स्वपुंसाम् ।।४२।।

श्लोकार्थ: विश्वके जन्म, स्थिति तथा लयकेलिए अवतार धारण करनेवाले आपके चरणारविन्दकी हम शरण लेते हैं. क्यृकि हे ईश ! वह शरण भक्तृको अभय देती है ।।४२ ।।

व्याख्या: जिस भगवान्ने विश्वके सृष्टि आदिकेलिए विशेष अक्षर रूपसे अवतार धारण किया "**प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्मा अभवत् पुरा**". अर्थ प्रथम परमात्मा, प्रकृति और पुरुषरूप हुए इस निबन्धोक्त प्रकारसे जो भगवान्

अवतीर्ण हुए, उनके चरणकमलकी शरण हम लेते हैं, कारण कि शरण जाना ही हमारे अनुकूल है, जब आप सम्यक् प्रकारसे अवतीर्ण हो चुके हैं, तो फिर शरणागति लेनेकी क्या आवश्यकता है? इस शंकाका निवारण करनेकेलिए कहा है कि 'स्मृतिं प्रयच्छति', अपने भक्तृको उस रूपका दान करते हैं, जिसके प्राप्त होनेपर, भय नहीं रहता है अर्थात् भक्त कालादिके भयसे भी छूट जाते हैं सर्वथा निर्भय हो विचरते हैं. भगवान्का अवतार इसीलिए ही कराया है, तब यदि उसके अवतरित होते हुए भी हम(भक्त) निर्भय न होवॄ तो सब(अवतीर्ण होना आदि) व्यर्थ हो जाएंगे.

अथवा भगवद्भक्तॄका(भक्तॄके चरित्रॄका) स्मरण हो अथवा भगवान् की स्मृति हो अथवा भगवान्के पूर्वसिद्ध स्वरूपकी स्मृतिका होना विश्वकी रचना करनेवाले भगवान् स्मृति तथा अभय दोनॄके दाता हैं, उनके चरणकी शरण लेनेपर जन्मके आरम्भमॄ ही सुख प्राप्त होता है. इस प्रकार फलार्थ क्रिया करनेमॄ तत्पर की भक्ति, प्रथमा(उत्तम) राजसी है ।।४२।।

आभासार्थ: इस श्लोकमॄ दूसरीं कक्षाका वर्णन करते हैं:

यत् सानुबन्धेऽसति देहगेहे ममाऽहम् इत्यूढदुराग्रहाणाम् ।
पुंसां सुदूरं वसतोऽपि पुर्यां भजेम तत् ते भगवन् पदाब्जम् ।।४३।।

श्लोकार्थ: हे भगवन्! दोषवाले, असत् देह और गृहमॄ जिनका मैं और मेरा ऐसा दुराग्रह बढ गया है, उनके हृदयमॄ बिराजते हुए भी, आपका चरणारविन्द उनसे दूर रहता है अर्थात् ऐसे लोग चरणॄका आश्रय नहीं लेते हैं, हम तो उन(चरणॄ)का ही आश्रय करते हैं ।।४३ ।।

व्याख्या: जगत् कर्ता भगवान् सर्व रचकर सबमॄ प्रविष्ट हो गए हैं. सबॄके हृदयमॄ प्रकाशते हैं, तो भी उसकी प्रतीति नहीं होती है क्यॄकि हममॄ दोष हैं, ऐसे परमात्माके जिसके दर्शन नहीं होते हैं, तो भी केवल वह हृदयमॄ विराजते हैं, यॄ जानकर उनकी शरण जाना यह दूसरा प्रकार है. राजसभक्तिका मध्यम प्रकार है. दोष हैं यॄ कहनेका भावार्थ यह है कि हम उन दोषॄको मिटावॄ. वे दोष तीन तरहके हैं १.असत् पुत्रादिमॄ मोह आदि पूर्वक दोष २.देहमॄ अहम्भावरूप(मैं हूं) यह दोष, ३.यह देह और गेह आदि मेरे हैं. यह दोष इसी तरह आग्रह भी तीन तरहका है. १.केवल आग्रह होवे तो किसी तरह भी उसका निर्वाह किया जा सकता है २.आग्रह धर्मकेलिये अथवा ३.भगवद्भजनार्थ आग्रह होता है.

आग्रहके अन्य तीन प्रकार कहते हैं १.देह और गृह दोनॄ दोषवाले न होवॄ २.दोनॄमूसे एक दुष्ट न होवे ३.दोनॄ(देह गृह) दुष्ट होवें. ये तीन आग्रहके हुए, आग्रह दुष्ट, दोषवान् है. यॄ कहना 'अनुवाद' है. नियमसे तो दोनॄ देह और गेह दुष्ट ही हैं. देह तथा गृहमॄ रहनेसे आग्रह दृढ़ हो जाता है. इसलिए ऐसॄके हृदयसे चरणकमल दूर ही होते हैं. हालांकि भगवान् देहके भीतर ही विराजते हैं तो भी आपके चरणारविन्द वहां तिरोहित हैं, केवल अन्तःकरणकी प्रेरणाकेलिए हस्तॄका अथवा इच्छाका प्रादुर्भाव रहता है अर्थात् उनको प्रभु प्रकट करते हैं अतः इतना कहनेका भावार्थ यह है कि जिनको अभिमान है उनमॄ भक्ति नहीं रहती है यही मुख्य पक्ष(सिद्धान्त) है. संसारी अभिमान न होवे, केवल भगवदीय-पनका अभिमान होवे तो भी वहां भगवान् गौण हैं. सर्वथा अभिमानका जब अभाव होता है तब उस निरभिमानी दीनके यहां भगवान् सर्वथा सदैव विराजते हैं, इस कारणसे प्रकृत प्रसंगमॄ उस प्रकारसे कभी प्रकाशते हैं, कभी नहीं प्रकाशते हैं तो भी हम भगवान्की ही शरण लेते हैं ।।४३।।

१. शरण आनेकी दूसरी कक्षा

आभासार्थः ऐसे भी जो भगवान्के भक्तॄके सेवक बने वो भी राजसी तृतीयाभक्ति सिद्ध होवे, जैसे भक्तॄके भक्त वे भी यदि भगवान्के चरित्रॄके अभिज्ञ(पूर्ण ज्ञाता) होवें तो, यह पक्ष तो सुगम है फिर क्यॄ इसका आश्रय नहीं लिया जाता है? इस प्रकार निम्न श्लोक कहते हैं:

तान् वै ह्यसद्वृत्तिभिर् अक्षिभिर् ये पराहृतान्तर्मनसः परेश ।
अथो न पश्यन्त्युरुगाय नूनं ये ते पदन्यासविलासलक्ष्याः ।।४४।।

श्लोकार्थः हे परेश! हे महती कीर्तिवाले! आपके चरण विलासकी शोभासे जो पहचाने जाते हैं ऐसे भक्तॄको, आसुरी वृत्तिवाली इन्द्रियॄने जिनके भीतरके मनको अपने वशकर लिया है वे देख भी नहीं सकते हैं तो वे भजन कैसे कर सकॄगे? वह(भजन) तो उनसे दूर ही है ।।४४।।

व्याख्याः उन भगवद्भक्तॄको वे देख भी नहीं सकते हैं, भजन तो दूर रहा जिसका कारण कहते हैं कि 'असद्वृत्तिभिः अक्षिभिः पराहृतान्तर्मनसः', भीतरी आसुरी वृत्तिवाली इन्द्रियॄने उनका मन अपनी तरफ खींच लिया है. आसुरी इन्द्रियां स्वभावसे असत् पदार्थोंको ही ग्रहण करती हैं जैसे मक्षिकाएं अपवित्र (रक्त विष्टा आदि) पदार्थोंको ही ग्रहण करती हैं अर्थात् उनपर ही जाकर बैठती

हैं, न कि चन्दनादि सुगन्धित पदार्थोंपर, इस कारणसे ही आसुरी इन्द्रियवश भीतरी मनवाले पुरुष उनके ही अधीन होते हैं, वे इन्द्रियाधीन पुरुष भी एक प्रकारसे स्वतन्त्र तथा सुखी तो हैं, उन्हॄने यदि इन(भगवद्भक्तॄ)को न देखा तो कौनसी उनकी हानि हुई? इसपर हे परेश! सम्बोधन देकर यह सूचित किया है कि भगवान्की इच्छा उनको नाश करने की है, जिससे वे भक्तॄको देख नहीं सकते हैं अर्थात् पहचान नहीं सकते हैं. यदि पहचाने तो भगवद्भजन कर उत्तम गतिको प्राप्त कर सकॄ परन्तु वह नहीं कर सकते हैं यह ही उनकी हानि है, इन्द्रियाधीन होकर जो विषयादिक सुखभोगकर अपनेको सुखी समझते हैं यह अज्ञान है, वह सुख-दुःखरूप हैं. देखते नहीं यॄ कहनेका भाव(आशय) यह है कि यदि वास्तविकतासे देख सकते तो उनको पहचानते तो उनकी तरह आपका भजन करते, आप 'उरुगाय' हैं अर्थात्, आपको कीर्ति एवं गुणॄका ज्ञान बहुत बड़े-बड़े भक्त जैसे करते हैं वैसे ये भी करते, ये ऐसा नहीं करते हैं इसमॄ कहा गया है कि वे उन भक्तॄको देख(पहिचान) नहीं सकते हैं.

वे भक्त साधारण पंक्तिवाले नहीं हैं, यॄ बतानेकेलिए कहते हैं कि 'ते पदन्यास-विलासलक्ष्याः', आपके चरणॄके धरनेमॄ विलास है, उससे पहिचाने जाते हैं, वे तब ही पहचाने जाते हैं, जब भगवान् उनके पास जानेके समय उनमॄ अपने प्रेम प्रकट करानेकेलिए विलाससे चरणविन्यास करते हैं(प्रेम पूर्वक चरण धरते हुए जाते हैं) अथवा उन भक्तॄके हृदयमॄ चरण स्थापनार्थ विलास(प्रेमादि) करते हैं, तब(उस समय) उनकी पहिचान हो सकती है. उन भक्तॄका महत्त्व भगवान्के चरणकमलके सम्बन्धके कारण ही है नहीं कि अन्य किसी प्रकारके कारणमॄ है. अतः उनका लक्ष्यार्थ गुप्त है जिससे उनको जानना कठिन होनेसे वे नहीं जाने जा सकते हैं.

यदि श्लोकमॄ ७ 'विलास लक्ष्याः'के स्थानपर 'विलास लक्ष्म्याः' पाठ लिया जावे तो उसका अर्थ होगा विलास(प्रेम)की जो शोभा, उसके सम्बन्धके कारण ही वे प्रसिद्ध हैं, यॄ पूर्वकी तरह समझ लेना. इससे ऐसा भगवद् भक्तॄका ज्ञान(पहिचान) हो जावे तो उनके द्वारा भगवान्का जो भजन सिद्ध होता है वह भजन तृतीय राजस भजन करते हैं, उनको ही ज्ञान होता है ।।४४।।

आभासार्थः चतुर्थ कहते हैं:

पानेन ते देव! कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।

वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाऽञ्जसाऽन्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ।।४५।।

श्लोकार्थ: हे देव! आपकी कथा रूपसुधाके पानसे बढी हुई भक्ति द्वारा शुद्ध अन्तःकरणवाले, वैराग्यका साररूप ज्ञान प्राप्तकर जैसे शीघ्र सीधे कृत्रिम वैकुण्ठमॄ जाते हैं ।।४५ ।।

व्याख्या: हे देव! आपकी कथारूप सुधापानसे बढ़ी हुई भक्ति द्वारा जिनका अन्तः करण शुद्ध हो गया है वे वैराग्यके साररूप ज्ञानको प्राप्तकर जैसे बिना परिश्रमके कृत्रिम वैकुण्ठको जाते हैं वैसे दूसरे भी जाते हैं.

जो अन्तःकरणकी शुद्धिकेलिए एवं अन्तःकरणके तीन तापॄकी निवृत्ति केलिए भगवान्‌की कथारूप सुधाका पानकर उससे शुद्ध अन्तःकरणवाले हुए हैं तो फिर मध्यमॄ भक्ति द्वारा अन्तःकरणको विशेष शुद्ध करते हैं, इस प्रकार साधन तथा साध्य भक्तिको अन्तःकरणकी शुद्धिकेलिए जो करते हैं(अपनाते हैं) वे कर्म मार्गवालॄकी तरह राजसॄसे सभी प्रथम(निकृष्ट) हैं.

अन्तःकरण शुद्ध होनेपर वैराग्य ही जिसका सार है अर्थात् जिस ज्ञानसे विषयॄकी तृष्णा मिट जाती है वैसा ज्ञान प्राप्तकर शीघ्र ही कृत्रिम वैकुण्ठ को जाते हैं. हे देव! इस संबोधनसे यॄ सूचित करते हैं कि वे विष्णुलोकको जाते हैं अथवा ध्रुवके स्थानको पाते हैं. 'अकुण्ठम्' पदका भावार्थ है, किसी समय भी उनको किसी प्रकार रुकावट नहीं आती है अर्थात् वहां सदैव भोग(आनन्द) सिद्ध ही है अथवा वे अक्षरका सायुज्य पाते हैं ।।४५।।

आभासार्थ: वैसे केवल ज्ञानी भी प्राप्त करते हैं यॄ कहते हैं:

तथा परे चात्मसमाधियोग–बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम् ।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति तेषां श्रमः स्याद् न तु सेवया ते ।।४६।।

श्लोकार्थ: वैसे ही अन्य धीर भी आत्मसमाधियोगमॄ बलसे बलिष्ठ प्रकृतिको जीतकर पुरुषरूप आपमॄ प्रविष्ट होते हैं, यॄ करनेसे उनको श्रम होता है, सेवासे श्रम नहीं ।।४६ ।।

व्याख्या: ये ज्ञानी फलसे भगवदीय होनेसे भक्त हैं 'परे' दूसरे शब्द कहकर यह बताया है कि वे अब भगवदीय नही हैं. 'च' पदसे यह सूचित किया है कि कितने ही भगवदीय भी हैं, स्वाभाविक गुणवाले होनेसे आत्मामॄ परिणाम वाली वा आत्माके सम्बन्धवाली निरन्तर स्थिति रूप' समाधि तक ज्ञान द्‌वारा पूर्वकी तामस वासनापर विजय प्राप्तकर पुरुषरूप आपमॄ प्रविष्ट होते हैं अर्थात्

विराट्का सायुज्य प्राप्त करते हैं. यह ही कृत्रिम वैकुण्ठ है अथवा प्रकृतिसे उत्पन्न २४ पदार्थोंके सम्बन्धसे छूटकर प्रकृतिके पति पुरुषको प्राप्त करते हैं 'त्वमेव' पदसे यह सूचित किया है कि दूसरे किसीको प्राप्त नहीं करते हैं, किन्तु आपको ही प्राप्त करते हैं साधनभक्तोंसे भी 'फलभक्त'(फल दशामें जो भक्त होते हैं वे) हीन हैं. उनको श्रम होता है क्योंकि साधनमें भक्तिका प्रवेश नहीं है ।।४६।।

१.चंचल मन जहां भी जावे वहांसे खींचकर अपने वश कर वासनापर विजय प्राप्त करना है.

आभासार्थः इस प्रकार तत्त्व सबोंको कहकर अपनेको तामसोंमें मानते हुए अपने ही तीन प्रकार निम्न श्लोकमें कहते हैं:

तत् ते वयं लोकसिसृक्षायाऽद्य त्वयाऽनुसृष्टास् त्रिभिर् आत्मभिः स्म ।
सर्वे वियुक्ताः स्वविहारतन्त्रं न शक्नुमस् तत्प्रतिहर्तवे ते ।।४७।।

श्लोकार्थः आपने सृष्टि बनानेकी इच्छासे हमको त्रिगुणोंवाले बनाए हैं अतः भिन्न-भिन्न होनेसे आपकेलिए विहारार्थ जो सामग्री चाहिए, उसके बनानेमें अशक्त हैं इसलिए विहारकी मनचाही(सामग्री) आपको अर्पण नहीं कर सकते हैं ।।४७।।

व्याख्याः उन कारणोंसे वे हम, जो आपके त्वदीय हैं वा जो तामस हैं जिनको अब आपने लेकर रचनाकी इच्छासे तीन गुणोंसे अथवा अहंकारोंसे बनाया है. कितने ही कहते हैं कि तीन प्रकारके जीवोंसे बनाया है, इस पक्षमें हर एकके तीन भेद हैं, हमको आपने पीछे बनाया अर्थात् परोक्षमें बनाया, जिससे हम अज्ञानी ही रह गए हैं. 'अद्य' पदसे यह सूचना दी है कि यह सृष्टि उस सृष्टिसे निराली है जो सृष्टि '**एतस्माद् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च**'' इस श्रुतिमें निरूपण की गई है. यह श्रुतिनिरूपित सृष्टि साक्षात् भगवान्से ही प्रकटी है, अतः हम (तत्त्वों द्वारा प्रकटी हुई) सृष्टिसे. 'अद्य' पदसे सूचित सृष्टि पृथक् प्रकारकी है इसलिए कहा है 'त्रिभिः आत्मभिः' अर्थात् अपने तीन गुणोंसे अथवा अहंकारोंसे बनाई है जिससे अब [१]''जुदी जुदी' हो गई है. 'च' पदसे बताया है कि केवल हम पृथक् रूप नहीं हुए हैं किन्तु हमारी(सृष्टि रचनेकी) सब सामग्री भी भगवान्ने तीन तरहकी बनाई है, इस प्रकारसे भी हम जुदे-जुदे हो गए हैं इसलिए ही हम आपके लिए जो विहार करनेकी सामग्री है वह आपको अर्पण करनेमें अशक्त हैं. आपने हमको विहार करनेकी सामग्री समर्पण करनेकेलिए तो बनाया किन्तु हम यों

करनेमॄ अशक्त हो गए हैं. ये(जो कहते हैं हम अशक्त हैं वे) तामस-मध्यम हैं, भगवत्कार्य न करके भी स्थित हैं अतः वे दुष्टात्माएं अपने-अपने अभिमानसे नष्ट अधम ही हैं किन्तु भगवान्ने इनको भिन्नपनसे बताया है. इसलिए इनका मध्यमत्व है ।।४।।

१.किस प्रकार जुदे हुए हैं? ज्ञानी, साधनदशामॄ केवल समाधि करते हैं भक्ति नहीं करते हैं फलदशामें भक्ति करते हैं, भक्त साधनदशामॄ भी भक्ति करते हैं अतः वे उत्तम हैं.

आभासार्थ: ऐसे भी हम हुवे हैं, यॄ इस श्लोकमॄ कहते हैं:

यावद् बलिं तेऽज! हराम काले यथा वयं चान्नमदाम यत्र ।
यथोभयेषां त इमे हि लोका बलिं हरन्तोऽन्नम् अदन्त्यनूहाः।।४८।।

श्लोकार्थ: हे अजन्मा! जब तक हम आपको समयपर बलि अर्पण करॄ, उस समय तक, जिस तरह और जहां हम भोजनका रस लेवॄ यॄ आपको करना चाहिए और जिस प्रकार ये रचे हुए लोक आपको एवं हमको बलि देवॄ तथा वे भी निश्चिन्त हो भोजन करॄ(इस प्रकारके नेत्र हमॄ दीजिए) ।।४८ ।।

व्याख्या: भगवान्का जन्म(मनुष्यवत्) नहीं होता है किन्तु प्राकट्य ही होता है, अतः हे अज! यह सम्बोधन दिया है. इस सम्बोधनसे ब्रह्मादि देवॄसे भगवान्की उत्कृष्टता(उत्तमपन) बताई है. जब तक आपको हम बलि देवॄ, तब तक जैसे हम अन्न खावॄ(भोजन कर सकॄ) वैसे आपको करना चाहिये. जब तक कहनेका भाव है कि प्रलय तक केवल सृष्टिका समय नहीं. 'काले' पद देनेका तात्पर्य है कि आपने अपने समयमॄ अर्थात् योग्य समयमॄ जैसे हम अन्न खावॄ अथवा जैसे ये बनाए हुए लोक, आपको और हमको बलि देवॄ तथा स्वयं बिना किसी रुकावटके आप भी भोजन करते रहॄ, इसी प्रकारके नेत्र दीजिए(इसका सम्बन्ध ५०वॄ श्लोकसे है). इसी कारण(नेत्र होनेके कारण) ही इनकी विषमता है.

कितने ही ऐसे हैं जिनको अपना स्वार्थ नहीं है किन्तु केवल भगवान्के लिए ही कार्य करना चाहते हैं, दूसरे ऐसे भी हैं जो स्वार्थी होते हुए भी जो-जो कार्य करते हैं वह भगवदर्थ ही करते हैं और समझते हैं कि भगवान् अवश्य पश्चात्(इच्छित पदार्थ द्वॄगे ही), तीसरे इस प्रकारके हैं जो अपना अपने सेवकॄका तथा भगवान्का कार्य समानरूपसे करते हैं, ये तत्त्व इस प्रकारके हैं ।।४८।।

आभासार्थ: इस प्रकार प्रार्थना क्यॄ करते हो? पहले हमारे(भगवान्के) लिए ब्रह्माण्ड बनाओ, अनन्तर अपनेलिए बनाओ ऐसी शंकाका इस निम्न श्लोक

द्वारा निवारण करते हैं:

त्वं नः सुराणाम् असि सान्वयानां कूटस्थ आद्यः पुरुषः पुराणः ।
त्वं देव शक्त्यां गुणकर्मयोनौ रेतस्त्वजायां कविम् आदधेऽजः।।४९।।

श्लोकार्थ: परिकर सहित हम देवॄके, आप अधिकारी, आद्य(पहले ही मौजूद) पुराणपुरुष हैं. हे देव! गुण तथा कर्मोंकी योनि जो अजा शक्ति है उसमॄ आप अजने अपने वीर्यरूप कविको स्थापित किया है ।।४९।।

व्याख्या: परिकर सहित हम देवॄके आप ही उत्पादक(पैदा करनेवाले हैं). हालांकि हम भी अपने कार्यके उत्पादक हैं तो भी हम विकारवाले हैं, आप तो 'कूटस्थ' अविकारी हैं. आप 'पुरुष' हैं अर्थात् स्वतन्त्र हैं. हम प्राकृत होनेसे परतन्त्र हैं किन्तु आप 'पुराण' हैं अर्थात् सबसे प्राचीन होनेसे पहलेके सब वृतान्तॄको जाननेवाले हैं, हम तो नवीन हैं, इस समयमॄ उत्पन्न हुए हैं जिससे आगेका कुछ भी नहीं जानते हैं, अतः आपको ही हमारा सर्व कर्तव्य करना है और विशेषमॄ हम आपके पुत्ररूप हैं, इसलिए पहले हमारी पालना आपको ही करनी चाहिए उसका प्रकार कहते हैं.

हे देव! आप देवरूपा शक्तिमॄ(मायामॄ) जिसकी योनि गुण और कर्मरूप हैं उसमॄ आपने बकरे आदि उत्पन्नार्थ वीर्य स्थापित किया है. अजाकी योनि गुण और कर्मोंको कहा है जिसका हेतु यह है कि उसमॄसे ही गुणरूप और कर्मरूप कार्य उत्पन्न होते हैं. यहां 'अजा' शब्द न [१]'यौगिक' है और न रूढ़ि है, किन्तु कल्पनासे संयुक्त है अतः 'अजा' पद यहां गौणी है. ''**कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवद् अविरोधः**'' इस ब्रह्मसूत्रके अधिकरणानुसार 'अजा' पदका भावार्थ यहां कहा है. यदि 'अजा' पदका भावार्थ अधिकरणानुसार न माना जाएगा, तो ब्रह्मसूत्रमॄ मायाकी उत्पत्ति कही है उसका अजाके यौगिक अर्थसे विरोध होगा, अजामॄ मायाकी आकृति न होनेसे रूढ़ि अर्थ भी नहीं बन सकता है अतः अधिकरण अनुसार कल्पना अर्थ ही उपयुक्त है.

सृष्टिमॄ 'काम' प्रधान है इसलिए उसके(कामके) निरूपणकेलिए 'अजा' शब्द कल्पनायुक्त कहा गया है. 'कवि' शब्दका अर्थ 'महत्तत्त्व' है. प्रथम अवस्था रेत है, उत्तरावस्था 'कवि' है. यदि दोनॄ एक जाति न होवें तो कार्य एक प्रकारका न होवे, अतः भगवान् को भी 'अज' कहा है. भगवान्का इस प्रकार वर्णन करना, यह ही 'भक्ति'का तामस (हीन) भाव है ।।४९।।

१.व्याकरणानुसार व्युतपत्तिकर, पदका जो अर्थ किया जाता है वह यौगिक, जैसे 'न जायते' इति अजा, जो पैदा नहीं होती है.

आभासार्थः उससे उसके जातिवाले ही हम उत्पन्न हुए हैं जिसका वर्णन निम्न श्लोकमॄ करते हैं :

ततो वयं सत्प्रमुखा यदर्थे बभूविमात्मन् करवाम किं ते।
त्वं नः स्वचक्षुः परिदेहि शक्त्या देव! क्रियार्थे यदनुग्रहाणाम्।।५०।।

श्लोकार्थः हे आत्मरूप! जिनमॄ सात्त्विक मुख्य हैं वैसे हम जिस कार्यके लिए उससे उत्पन्न हुए हैं वह कार्य हम कर सकॄ इसलिए हे देव! उस कार्य करनेके वास्ते आपके अनुगृहीत हम लोगॊको आप शक्ति सहित अपना(चक्षु) ज्ञान दीजिए।।५०।।

व्याख्याः मुख्य सात्त्विक अहंकारी(हम), जिस(भगवान्)के कार्यार्थ उत्पन्न हुए हैं, यदि आप वह कार्य न करोगे तो हम अन्यॊ(दूसरॊ)को उत्पन्न करॄगे, ऐसी शंकाका उत्तर देते हैं कि 'हे आत्मन्', आप सबकी आत्मा हैं, कार्योंका कोई स्वाभाविक गुण वा दोष नहीं है. क्यॊ आपसे ही उत्पन्न हुए हैं? एवं आपके ही रूप हैं अतः अन्यॊको पैदा करोगे तो उनको जब शक्ति दोगे तब वे भी उपयोगी हो सकॄगे, अन्यथा नहीं अतः अन्योत्पत्ति करनेमॄ विशेष श्रम वा समय लगेगा जिससे अच्छा है लाघवता मॄ(थोड़े हीमॄ) कार्य बन जाय इसलिए हमको ही वह सामर्थ्य दे दीजिए. यदि कहो कि आप आज्ञाकारी नहीं हैं जिससे कार्यमॄ प्रविष्ट न होकर मौन धारणकर बैठे हो, इसके उत्तरमॄ कहते हैं कि 'करवाम किम्' इति. आपकेलिए क्या करॄ? आपने यॊ करो, ऐसी कोई आज्ञा दी नहीं है और विशेष यह भी है कि हम अज्ञानी हैं इसलिए चुप हो कर बैठे हैं अतः जान लेना चाहिए कि हममॄ वास्तविक दुष्टता नहीं है, यदि आपमॄ दुष्टता नहीं है तो ब्रह्माण्डका निर्माण कीजिए, इसका उत्तर देते हैं कि सर्व कार्य करनेमॄ हमारे सहायक(साधक) आप ही हैं. अतः वह अपनी चक्षु दीजिए, जिस चक्षु(ज्ञान)से आपने हमको बनाया है वहां केवल क्रियाशक्ति ही हम लोगॊमॄ धरी है न कि ज्ञान शक्ति धरी है. अतः अब वह अपनी चक्षु(अपना ज्ञान) भी दीजिए. वह दान पूर्णतः कीजिए अर्थात् सर्वकेलिए क्रिया शक्तिके साथ ज्ञान भी दीजिए. टुकड़े टुकड़े होनेसे दोनॊकी प्राप्ति हो जानेपर भी कार्यकी सिद्धि नहीं होती है. अतः अपनी शक्ति(क्रियाशक्ति)के साथ अपनी चक्षु(अपना ज्ञान) दीजिए. दोनॊका

ज्ञान एक साथमृ देना अशक्य है, दोनृकी एक साथ स्थिति नहीं हो सकती है. यदि कहा जाय कि एककी स्थिति क्रियामृ और एककी ज्ञानमृ रहती है तो इसके उत्तरमृ कहते हैं कि हे देव! आप देव हैं अतः लौकिक नियम आपमृ लागू नहीं हो सकते हैं. लौकिकमृ दोनृकी एकसाथ स्थिति नही हो सकती है किन्तु आप देव हैं अतः अलौकिक सामर्थ्य आपमृ है जिससे दोनृ साथमृ रह सकते हैं एवं आप दोनृको साथमृ दे भी सकते हैं. नियमपूर्वक आपको ही देवृ ऐसा निर्बन्ध(आग्रह) आप कर रहे हो. इसपर कहते हैं, हमपर आपका अनुग्रह है. ब्रह्माण्ड रचनाके लिए हमको अनुग्रहके कारण ही रचा अतः उसी अनुग्रहसे क्रियाशक्ति सहित आपका ज्ञान भी दीजिए ।।५०।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके अध्याय ५ की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ६

विराट् शरीरकी उत्पत्ति

एवं भगवतः सृष्टौ भूतोत्पत्तिः निरूपिता।
कालोत्पत्त्यर्थम् अधुना ब्रह्माण्डोत्पत्तिरुच्यते ।।कारि.१।।

कारिकार्थः इस प्रकार भगवान्की सृष्टिमृ भूतृकी उत्पत्ति कही[१], अब कालकी उत्पत्तिकेलिए ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति[२] कही है ।।१ ।।

स्वशक्तिदान भोगौ तु विषयत्वार्थम् उच्यते।
विषयानन्त्यसिद्ध्यै हि माहात्म्यं विनिरूप्यते।।कारि.२।।

कारिकार्थः भोग विषयकी प्राप्तिकेलिए ही अपनी [३]शक्तिका दान और भोग कहा है, विषयृकी अनन्तता सिद्ध करनेकेलिए ही [४]माहात्म्यका निरूपण किया है ।।२ ।।

एवं भगवतो मात्राः चतुर्द्धा विनिरूपिताः।
स्पर्शो भगवतो नाऽस्ति तद्भावाद् देहवद् भुजिः।।कारि.३।।

कारिकार्थः इस प्रकार भगवान्की तन्मात्राओृका निरूपण चार[५] प्रकारसे किया, भगवान्को स्पर्श नहीं होता[६] है, क्योृकि वह सर्वत्र सबमृ हैं अतः देहवत् उसका भोग स्वतः होता है ।।३ ।।

१.वेदोक्त भगवद् सृष्टिमृ भगवद्धर्मरूप भूतृकी उत्पत्ति पूर्व अध्यायमृ कही गई है.

२.अब इस अध्यायमृ भोग्यमात्राओृका निरूपण करना है, इसलिए भोगको सिद्ध करनेवाला जो चेष्टारूप काल है उसकी उत्पत्तिकेलिए उस(काल)के आधारभूत ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति कही जाती है जिससे विषयकी संगति हो सकेगी. -प्रकाश

३.तत्त्व भोग्य हैं अतः भगवान् उनका भोग करते हैं योृ न कहकर उनको शक्ति देना और उनका भोग करते हैं योृ कैसे कहा? इस शङ्काको मिटानेकेलिए कहते हैं कि ब्रह्माण्डकी जो उत्पत्ति कही है वह इसलिए कही है कि ये तत्त्व भगवान्के भोग करनेके विषय हैं, कारण कि ब्रह्माण्डमृ ये तत्त्व अवयव हैं, उनके द्वारा ही अवयवी(भगवान्) भोग करते हैं . इस शक्तिके बिना नहीं हो सकता है इसलिए ही विषयत्वकेलिए ही ये दो(शक्तिदान और भोग) कहे हैं.

४.इनको लोकपालरूप कहनेसे इनका माहात्म्य प्रकट किया है तथा वे भोग, विषय हैं.

५.भोगायतन ब्रह्माण्ड शरीरमृ ही ये तत्त्व प्रविष्ट हुए हैं, वे जब तन्मात्रारूप होवें तब

भोग्य हो सकते हैं. वे ऐसे(तन्मात्रारूप) किस प्रकार होते हैं? इस शंका निवारणार्थ 'एवं भगवतो मात्राः चतुर्द्धा विनिरूपिताः' कहा है, ब्रह्माण्डोत्पत्ति, शक्तिदान और भोग तथा माहात्म्य प्रकारसे भगवान्ने मात्राएं चार प्रकारकी कही हैं, ब्रह्माण्डमृ पृथ्वी प्रधान होनेसे उसकी मात्रा 'गन्ध' कही है, शक्ति मिलनेपर परस्पर मिलाप गुणवाले रस(जल)की प्रधानता होनेसे उसकी 'मात्रा' भी रस है, भोगमृ रूपसे प्रवेश करनेके कारण उसकी मात्रा 'रूप' है. माहात्म्यमृ शब्द मुख्य है अतः 'शब्द' मात्रा कही है, इस प्रकार इन रूपाृसे इनका भोग्यत्व है.

६.यहां यह शङ्का होती है कि 'स्पर्श' मात्रा क्याृ नहीं की है, जिसका उत्तर देते हैं कि भगवान् अस्पृश्य हैं अर्थात् भगवान्को स्पर्श हो नहीं सकता है कारण कि स्पर्शसे जो भोग होते हैं वे दुःखके कारण होनेसे दुःख देनेवाले हैं, भगवान् आनन्दमय हैं अतः उनमृ सर्वथा दुःखाभाव है जिससे उनमृ स्पर्श नहीं कहा है.

द्वितीय स्कन्धमृ कहा है कि स्पर्श द्वारा ही गाढ़ सम्बन्ध होने पर भोग हो सकता है, तो उसके न होनेसे कैसे होगा? जिसके उत्तरमृ कहते हैं 'तद्भावाद् देहवद्भुजिः', भगवान् ब्रह्माण्डमृ सर्वत्र मौजूद हैं अतः ब्रह्माण्ड ही भगवान्की देह है, इसलिए उनको स्पर्शकी आवश्यकता नहीं है. वह इस ब्रह्माण्डरूप देहसे ही देहवत् भोग कर सकते हैं(करते ही हैं).

कारिका प्रकाश सम्पूर्ण

आभासार्थः पूर्वाध्यायमृ तत्त्वाृने जो प्रार्थना की उसका वर्णन किया, अब निम्न श्लोकसे उसका उपसंहार करते हैं:

ऋषिः उवाच

इति तासां स्वशक्तीनां सतीनाम् असमेत्य सः ।
प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिम् ईश्वरः।।१।।
कालसञ्ज्ञां तदा देवीं बिभ्रत् शक्तिम् उरुक्रमः ।
त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपद् आविशत् ।।२।।

श्लोकार्थः ऋषिने कहा है विद्यमान अपनी शक्तियाृका मिलाप न देख तथा जिनसे लोक समूह निष्क्रिय हो रहा है, ऐसी स्थितिमृ महान् पराक्रमी भगवान्ने 'काल' नामवाली देवी शक्तिको धारणकर, तेबीस तत्त्वाृके समूहमृ साथ ही प्रवेश किया ।।१-२ ।।

व्याख्याः तत्त्वाृकी इतनी ही प्रार्थना हुई अर्थात् तत्त्वाृने इतनी ही प्रार्थना

की, तदनन्तर उनकी स्थिति देखकर शक्तिको धारण करते हुए भगवान्ने उनमृ(तेवीस तत्त्वृके गुणमृ) साथ ही प्रवेश किया.

भगवान् उनमृ प्रवेश करृ यह उचित नहीं, ऐसी शंका होनेपर कहते हैं कि, वे तत्त्व मेरी ही(भगवान्की ही) शक्तियां हैं एवं स्त्री रूपा हैं. इसलिए वे प्रार्थना करृ उसमृ कोई दोष नहीं तथा भगवान् उनमृ प्रवेश करृ जिसमृ भी कोई अनौचित्य नहीं है. वे तत्त्व(शक्तियां) अपनी ही(ईश्वरको ही) सामर्थ्यरूप होते हुए भी यदि कार्य न करृ तो अपनेमृ(भगवान्मृ) सामर्थ्य नहीं है यृ सिद्ध होगा. वे(तत्त्व) तो स्त्रीरूपा हैं, यदि पतिका आज्ञप्त कार्य स्त्री न करे तो स्त्री आसक्त पति स्वयं ही करता है अथवा उससे करवाता ही है, शक्ति होनेसे अलग स्थितिमृ भी दोष नहीं है, वे(शक्तियां) स्त्रीरूपा होनेसे केवल वचन(कहने)से नहीं मिलती हैं, जो अपना(स्वामी) है उससे ही मिलती हैं, जब पुरुष स्वयं आलिंगन करता है तब वे साथमृ आ जाती हैं, किन्तु स्वतः(अपने आप) नहीं आती हैं क्यृकि उनका स्वभाव(प्रकृति) ही ऐसी है. मिलनेमृ दोनृको(पुरुष एवं स्त्रीको) समान लाभ है अतः उनको(स्त्री तत्त्वृको) अप्रसन्नता(नाराजगी) नहीं होती है, स्वभावसे स्वतः न मिलनेके कारण रजोवती होते हुए भी बिना पुरुषरूप भगवान्मृ प्रवेशके, वह रज प्रकट नहीं होती है, इसलिए लोकृकी रचना नहीं हो सकनेसे लोक वहां उनमृ जड़वत् पड़े थे, क्यृकि जीवृके कर्म अब तक जाग्रत नहीं हुए हैं, वे तत्त्वशक्तियां उन कर्मोंके अधीन हैं, प्राणियृके प्रारब्धसे प्रेरित होकर ही वे(शक्तियां) कार्योंको कर सकती हैं, तत्त्व समूह 'गृह'के समान है अतः वह कुछ नहीं कर सकता है किन्तु पृथक्-पृथक् शक्ति, व्यक्तिरूप होनेसे कार्य करनेमृ समर्थ हैं जैसे घरके मनुष्य ही कार्य कर सकते हैं न कि गृह.

यहां दो *पक्ष भगवान्के दो पुरुषरूप धारण सम्पत्तिकेलिए कहा है, उनके परस्पर मिलनेपर ही ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति होती है. कर्मके जागृत होनेपर व्यष्टियृकी उत्पत्ति होती है. यह सर्व जानकर आगे जिस प्रकारकी स्थिति होनेवाली है उसका विचारकर, सर्व प्रकार कार्य करनेकी शक्तिको धारणकर प्रवेश किया, अतः 'ईश्वर' नाम दिया है ।।१।।

* दो पक्ष हैं, समूह भी मुख्य है और व्यक्ति भी मुख्य है अतः कार्य करनेमृ दोनृका संयोग होना आवश्यक है.

व्याख्या: भगवान्ने कालके साथ ही तेवीस तत्त्वृके गुणमृ प्रवेश किया,

यॄ कहनेसे शङ्का उत्पन्न होती है कि तत्त्व(स्त्रीरूप हैं) उनमॄ दो पुरुषॄके प्रवेशसे रसाभास होगा. जिसके उत्तरमॄ कहते हैं कि काल पुरुषरूप नहीं है किन्तु भगवान्की एक स्त्रीरूप शक्ति ही है केवल उसका नाम 'काल' है . जिस नामसे पुरुषत्वकी भ्रांति होती है. काल भगवान्की मर्यादारूप शक्ति है. वह सृष्टि करनेके समय ही जागृत होती है. दूसरी शक्तियॄको भगवान् स्वयं जगाते हैं.

भगवान्के साथ काल नामवाली स्त्री शक्तिको भी अपनेमॄ प्रविष्ट देखकर उनको(अन्य स्त्रीरूप तत्त्व शक्तियॄको) तो मात्सर्य(डाह) हुवा होगा? इस शंकाका उत्तर देते हैं कि उनको मात्सर्य नहीं हुआ है क्यॄकि यह कालरूपा शक्ति 'देवी' है अर्थात् देवतारूप होनेसे अति सूक्ष्म है, उसके बिना कर्मोंका जागृत होना दुर्घट(मुश्किल) है, कारण कि कर्म कालके अधीन है, इसलिए ही कालमॄ ही कर्म करनेकी आज्ञा है, यदि कहो कि वह अप्रयोजक है तो यॄ कहना उचित नहीं है क्यॄकि वह 'शक्ति' है और इसका रूप प्रवेश्य नहीं है, यॄ बतानेकेलिए 'बिभ्रत्' पद दिया है, इस विषयमॄ भगवान् अतिशय सामर्थ्यवाले हैं, भगवान्मॄ अति विशेष(अनन्त) सामर्थ्य है जिसके सिद्ध्यर्थ भगवान्का नाम यहां 'उरुक्रम' दिया है. इस स्वरूपसे भगवान्ने अद्भुत चरित्र कर दिखाए हैं यह सिद्ध ही है. उस ही तरह अद्भुत चरित्र दिखाते हुए २३ तत्त्वॄके गणमॄ साथमॄ ही प्रविष्ट हुए, प्रकृति और पुरुषके सिवाय शेष तत्त्व २३ होते हैं. साथमॄ प्रवेश करना अद्भुत चरित्र है, लोहके दो टुकड़ॄको मिलाना हो तो दोनॄको तपाना पड़ता है तब वे परस्पर मिल जाते हैं . यदि एकको ही तपाया जाय तो वे नहीं मिल सकते हैं वैसे यहां भी समझना चाहिए अर्थात् एक तत्त्वमॄ पृथक् प्रवेशसे कार्य सिद्ध नहीं हो सकता. अतः सर्व तत्त्वॄमॄ साथ ही प्रविष्ट हुए, जिससे ही सम्पूर्ण कार्यकी सिद्धि हो गई. भगवान्का गणमॄ यह प्रवेश जलके समान नहीं है किन्तु जैसे लोहेके गोलेमॄ अग्नि प्रविष्ट हो उसको अग्निमय कर देती है वैसे ही भगवान्ने प्रवेशकर तत्त्वॄको भगवन्मय बना दिया, जैसे गणका कार्य भगवत्कार्य हो, यदि यॄ न होवे तो इस सृष्टिका उत्पादक भगवान् है यह न कहा जावे, अतः सृष्टि रचनावाला समग्र चरित्र भगवान्का ही चरित्र है, इसलिए ही कहा है कि 'आविशत्', प्रविष्ट हो स्वयं कार्य किया ।।२।।

आभासार्थः अनन्तर क्या हुआ? इसपर कहते हैं :

सोऽनुप्रविष्टो भगवान् चेष्टारूपेण तं गणम्।
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन्।।३।।

श्लोकार्थः सोये हुए कर्मोंको जगाते हुए, तत्त्वसमूहमृ चेष्टारूपसे पीछे प्रविष्ट भगवान्ने पृथक्–पृथक् जो तत्त्व थे उनको इकट्ठा किया ।।३ ।।

व्याख्याः हालांकि तत्त्वाृने क्रियाके साथ ज्ञान प्राप्तिकेलिए प्रार्थना की थी, न कि भगवत्प्रवेशार्थ प्रार्थना की थी. तो भी भगवान्ने सोचा कि जो कार्य मुझसे होनेवाला है वह कार्य ये(तत्त्व) नहीं कर सकृगे. इसलिए भगवान् स्वयं ही इनमृ प्रविष्ट हुए, इसके बाद जिस(ज्ञान प्राप्ति)केलिए प्रार्थना की थी उस(ज्ञान)का प्रयोजन न होनेसे वह प्रार्थित(ज्ञान) नहीं दिया.

जबकि स्वभावसे ही सकल वस्तुआृमृ वस्तुस्वरूप भगवान् हैं, तब भी यदि कार्य सिद्ध नहीं हो सकता है तो प्रवेश होनेपर भी क्या होगा? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि 'चेष्टारूपेण'. पहले सर्व वस्तुआृमृ केवल वस्तुस्वरूपसे थे. अब कार्योपयोगी ज्ञानेच्छा और प्रयत्नरूपसे अथवा केवल प्रयत्नरूपसे उनमृ प्रविष्ट हुए हैं, प्रवेशकर जो तत्त्व भिन्न भिन्न थे उनको मिलाया. वे सृष्टिमृ कार्य कर सके ऐसे बनाये थे किन्तु वे पृथक् पृथक् थे अतः उनको मिलाना था. बिना मिलनेके कार्य नहीं कर सकृगे अतः इस प्रकार इनको मिलाया जिससे सृष्टिकार्य करनेमृ समर्थ हो सके. भगवान्ने अपने साथ जिस शक्ति(काल)को लेकर प्रवेश किया उसका प्रयोजन बताते हैं 'सुप्तं कर्म प्रबोधयन्', प्राणियाृके कर्म जो सोये हुए थे, कार्य करनेमृ शक्त नहीं थे, उनको काल शक्ति द्वारा जागृतकर कार्य योग्य बनाया, जागृत करने तथा प्रवेश होनेका कर्म एक ही समय साथमृ होनेपर दोनाृ प्रकारके कार्य(समष्टि और व्यष्टिरूप कार्य) साथ ही सिद्ध होवें, जागृतका हेतु भिन्न होनेसे प्रधान क्रियासे उसका सम्बन्ध नहीं है ।।३।।

आभासार्थः पश्चात् जो हुआ वह इस श्लोकमृ कहते हैं :

प्रबुद्धकर्मा दैवेन त्रयोविंशतिको गणः ।
प्रेरितोऽजनयत् स्वाभिः मात्राभिर् अधिपूरुषम् ।।४।।

श्लोकार्थः दैवने जिस तत्त्वसमूहके गणके कर्मोंको जगाया तथा प्रेरणा की, उस गणने अपनी मात्राआृसे ब्रह्माण्डकी रचना की ।।४ ।।

व्याख्याः जो सोये हुए हैं उनके साथ कार्य करना भी कठिन है. जागृत हो तो सहायता भी कर सके. 'दैवेन' पदका आशय है देवतारूप शक्तिसे. स्त्री यदि जागृत होकर करती है तो अपने स्वार्थकेलिए करती है, किन्तु यह जागृत करनेवाली शक्ति स्त्री नहीं है इसलिए 'दैवेन' यह नपुंसकलिंग दिया है. जिसका

भाव यह है कि उसने अपने स्वार्थकेलिए जागृत नहीं किया है अथवा उसके साथ जो भगवद्रूप है, 'दैव' शब्दसे उसका सूचन किया है. सर्वत्र कर्मोंके जागृत करनेके लिए फिर 'त्रयोविंशतिको गणः', २३ तत्त्वोंका गण कहा है, पुनः भगवान्का दूसरा कार्य कहते हैं 'प्रेरितः'. भगवान्से प्रेरणा किया हुआ भिन्नोंको मिलाना वा प्रेरणा करना दूसरा भगवत्कार्य है. भगवान्के प्रवेशसे उस गणकी व्यापकता हुई, पश्चात् उससे गणके अल्पांशोंसे ही ब्रह्माण्ड निर्माण हुआ यह 'स्वाभिर्मात्राभिः' पदसे दिखाया है. 'अधिपूरुषम्' पदका अर्थ ब्रह्माण्ड है. 'पुरुषम् अधि, अधिपुरुषं पुरुषशरीरत्वात्', पुरुष शरीर होनेसे अधिपुरुष कहा गया है. 'पुरुष' शब्द भी है अथवा पुरुषसे भी अधिक आवरणोंके भी उत्पन्न होनेसे 'ब्रह्माण्ड' पुरुषसे अधिक है. गणने जो कार्य किया वह भगवत्प्रेरणासे किया अतः वह भगवत्कृत ही है ।।४।।

आभासार्थः इस प्रकार ब्रह्माण्डकी सृष्टि कहके द्वितीय पुरुषका उत्पादन बताके अब तृतीय पुरुष(समष्टि तथा व्यष्टिरूप देह)की उत्पत्तिकर वहां ही कार्य होनेका वर्णन करते हैंः

परेण विशता स्वस्मिन् मात्रया विश्वसृड्गणः ।
चुक्षोभाऽन्योन्यम् आसाद्य यस्मिन् लोकाश् चराचराः।।५।।

श्लोकार्थः जब भगवान्ने अंशरूपसे अपने उस शरीरमें प्रवेश किया तब विश्वको रचनेवाले महत्तत्त्वादि परस्पर मिलाकर परिणामको प्राप्त हुए अर्थात् स्वरूप धारणमें समर्थ हुए, वह ही(तत्त्वोंके मिलनसे उत्पन्न परिणाम ही) विराट् पुरुष है जिसमें चराचर जगत् विद्यमान् है ।।५ ।।

व्याख्याः अपनेमें भगवान्का प्रवेश होनेसे विश्व रचने वा गणोंमें क्षोभ(हलचल) उत्पन्न हुआ, किन्तु भीतर एक देशस्थित मात्राओंसे एक भागमें ही क्षोभित हुए, नहीं तो ब्रह्माण्डमें भेद हो जाता. भगवान् भीतर कार्य करनेके लिए ही समूहमें प्रविष्ट हुए यों कहा है, नहीं तो कहते कि भगवत्प्रेरणासे क्षुब्ध हुए. अतः प्रवेशसे समस्तमें क्षोभ न हुआ तब एक ब्रह्माण्ड बना, यदि समस्तमें क्षोभ होता तो अनेक प्रकारके ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो जाते.

जब फिर भगवान्ने नियामकरूपसे अथवा भिन्न-भिन्न रूपसे उस ही गणका स्पर्श किया तब मध्यमें सहस्र प्रकारसे विदीर्ण हो क्षोभित हुआ. यदि यों न होता तो इतने व्यष्टि देह न बनते. क्षोभका फल कहते हैं 'अन्योऽन्यम् आसाद्य'

अर्थात् जो पृथक् थे वे परस्पर मिल गये, जिससे वह गण अपना सृष्टि रचनेका कार्य करनेमॅ सशक्त हुए, अतः प्रत्येक व्यष्टिमॅ भी सर्व तत्त्वॉकी कार्यसिद्धिके लिए परस्पर मिल हलचल करने लगे. हर एक तत्त्वमॅ शेष २२ तत्त्व प्रविष्ट हुए, यॉ विस्तार होनेसे आकृतिके अधिकरणके न्याससे व्यक्तियॉकी अनन्तता हुई. इसलिए ही मिले थे. इसका जो फल हुआ वह कहते हैं कि, इससे उस गणमॅ चर और अचर लोक स्थित हुए ।।५।।

आभासार्थ: इसी तरह समष्टि तथा व्यष्टिदेहॉकी उत्पत्ति कहकर अब कहते हैं कि सर्वत्र भगवान् प्रविष्ट हों इसलिए जीवॉने प्रवेश नहीं किया. तत्त्वॉने भी भगवान्का प्रवेश हो, इसलिये सकल सामग्री सम्पादन करने लगे:

हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान् ।
आण्डकोश उवासाऽप्सु सर्वसत्वोपबृंहितः ।।६।।

श्लोकार्थ: समस्त सत्त्व सहित वह सुवर्णमय पुरुष सदंशॉसे सम्बद्ध हो एक सहस्र वर्ष पर्यन्त ब्रह्माण्डके कोशके भीतर स्थित हो जलमॅ रहा ।।६ ।।

व्याख्या: क्यॉकि वह ब्रह्माण्डकी आत्मा सुवर्णमय पुरुष है . पृथ्वी, जल और तेज, ये तीन ही समान अंशसे परस्पर मिलकर जब रहते हैं तब वह सुवर्ण होता है. यदि उनमॅ जलका भाग अधिक हो तो रौप्य हो जाता है. यदि उनमॅ पृथिव्यंश विशेष हो तो अन्य धातु बन जाती है.

जल और तेज, कारणमॅ प्रवेश करे तब मृत्तिकाका कार्य(पदार्थ) हो जाता है. मृत्तिकाको तेजका विशेष ताप मिलनेसे 'रेत' बनती है. यदि मृत्तिका तेजका मध्यम ताप मिले तो पाषाण बनते हैं ,मृत्तिकाको अल्प ताप मिले तो ईटॅ बन जाती हैं . मृत्तिकासे यदि जीवका कुछ संबन्ध हो जावे तो वह मृत्तिका स्थावर रूप काष्ठ आदिके रूपमॅ वा उनके अनेक भेदॉमॅ परिणत होती है.

वहां वह सुवर्णमय विराट् पुरुष, सुवर्ण प्रतिमावत् रहता है . वह ही पुरुष देहरूपसे अथवा पुरुषके(जीव) साथ नारियलके फलके समान स्वयं अण्डसे (ब्रह्माण्डसे) पृथक् रहा, उसी ही ब्रह्माण्ड कोशके नीचे स्थित गर्भरूप उदकमॅ स्वत एव देहसे उत्पन्न जलमॅ अथवा आपने ही जिस जलको उत्पन्न किया उस जलमॅ सहस्र परिवत्सर पर्यन्त शयन किया. 'सर्वसत्वोपबृंहितः' पदसे कहते हैं कि उस समय व्यष्टि भी सोये हुए थे. किस तरह? वह बताते हैं कि देह सदंश होनेसे जीवकी तरह सत्त्व कहे हैं, उनसे सम्बन्धित होकर जलमॅ वास किया अर्थात्

नारायणके उदरमॄ ही सर्वसत्त्व(भूत) स्थित हुए हैं. इस पक्षमॄ अर्थात् इस सिद्धांतमॄ यह सिद्ध किया है कि कभी भी आत्माके बिना वह ब्रह्माण्ड नहीं था क्यॄकि भगवान्ने सबसे पहले ही उसमॄ प्रवेश कर रखा था, रचकर फिर प्रवेश किया इस पक्षमॄ तो प्रथम आत्मा रहित स्थिति थी, इस कारणसे ही यहां कहा है कि पुरुष सहित प्रवेश किया, यहां अर्थात् इस सिद्धान्तानुसार सहस्रवर्षपर्यन्त कार्य किए, बिना ही भीतर रहे किन्तु भीतर केवल सत्त्वॄसे कार्यके प्रकारका विचार करनेके सम्बद्ध रहकर स्थित हुए ।।६।।

आभासार्थ: अनन्तर कार्य किया जिसका वर्णन निम्न श्लोकमॄ किया है :

स वै विश्वसृजां गर्भो दैवकर्मात्मशक्तिमान् ।
विबभाजात्मनात्मानम् एकधा दशधा त्रिधा ।।७।।

श्लोकार्थ: दैव, कर्म और आत्माकी शक्तिवाले विश्वकी रचना करने वालॄके उस गर्भ(बालक)ने स्वयं अपने एक, दश और तीन विभाग किये ।।७।।

व्याख्या: विश्वकी रचना करनेवाले तत्त्वॄका वह गर्भ अर्थात् बालक था अथवा भीतरका सामर्थ्यवाला था जो तीन तरहका बना. कैसे? चेष्टारूप भगवान् के प्रवेशसे कर्मकी शक्तिवाला बना. कर्मकी प्रेरणा करनेवाली कालकी शक्तिके प्रवेशसे देव शक्तिशाली बना, विश्व रचकॄकी सहजसामर्थ्यसे कारणधर्म द्वारा आत्माकी शक्तिसे युक्त हुआ, अतः त्रिविध शक्तिवालेने अपने विभाग किए, कितने ही विभाग आत्माके आधीन किए वे आध्यात्मिक, कितने ही देवके आधीन किए वे आधिदैविक(अर्थात् कालाधीन), कितने ही क्रियाके आधीन किए वे आधिभौतिक, अतः क्रियारूप भगवान्के प्रवेशसे क्रिया द्वारा भगवत्कार्य ही करना चाहिए. भगवान्की क्रियासे यदि दूसरेका कार्य किया जाएगा तो दोष लगेगा, वह दोष उत्तरार्द्धमॄ 'विबभाज आत्मना'से कहते हैं कि 'आत्मना आत्मानम्', अपने विभाग आपसे ही. तीन प्रकारके अवान्तर भेद कहते हैं एक प्रकारका भेद, वह सात्त्विक देव था जो एक ही प्रकारका था. दूसरा राजस था जिसमॄ दश भेद थे, तीसरा तामस था जिसमॄ तीन भेद थे ।।७।।

आभासार्थ: इतने ही भेदॄसे सर्व कार्य कैसे सिद्ध ह्यॄगे? इस शंकाका उत्तर इस श्लोकमॄ देते हैं:

एष ह्यशेषसत्त्वानाम् आत्मांशः परमात्मनः ।
आद्योऽवतारो यत्राऽसौ भूतग्रामो विभाव्यते ।।८।।

श्लोकार्थः निश्चयसे इन सकल प्राणियॄकी आत्मा, परमात्मा अंश प्रथम अवतार है, जिसमॄ यह भूत ग्राम(भूतॄका समूह) देखनेमॄ आता है ।।८ ।।

व्याख्याः यह समस्त प्राणियॄकी आत्मा है. 'ह' पदसे यह भाव बताया है कि यह अर्थ उचित है क्यॄकि जैसा कार्य(फल) होता है(होगा). सर्वकी आत्मा होनेसे वह जब इस तरह तीन रूप हुआ तब सर्वसत्त्व वैसे ही ह्यॄगे. यॄ सर्व कार्य पूर्ण होगा . किन्तु क्या इस एकसे भगवान्के इतने करोड़ अंश हुए हैं? यदि यॄ है तो भगवान्से भी अनेक भेद ह्यॄगे? इस अभिप्रायसे अर्थात् इस संशय निवृत्यर्थ कहा है कि 'परमात्मनो अंशः', यह परमात्माका अंश है. यह गर्भ(विश्व) रचना करनेवाले तत्त्वॄका गर्भ अर्थात् बालक अथवा(अन्तःसामर्थ्य) पुरुषोत्तमका अंश है अर्थात् करोड्यॄ अंशॄका भी अंश है, किन्तु यह आनन्दांश है. इसलिए कहा है कि 'आद्योऽवतारः', यह आद्य अवतार है. जीव तो चिदंश है ब्रह्माण्डमॄ जो सर्व अवतार हैं उनमॄ यह आद्य(प्रथम) अवतार है.

जो अक्षरसे परे विद्यमान् भगवान् हैं उनने प्रथम इस विराट् पुरुषमॄ अवतार लिया पश्चात् मध्यमॄ दूसरे अवतार लिए, इसको ही अवतार कहा जाता है, सम्बन्ध तो उनकी तरह है जो पहले ही कहा गया है, इस अवतारके स्वरूपसे कभी भी हानि नहीं होती है, इस अभिप्रायसे कहा है कि जहां यह 'भूतग्राम' (भूतॄका समूह) सदैव स्थित है, भगवत्त्व अर्थात् भगवान्-पन उसे कहते हैं जिसमॄ प्रपंच आश्रय लेवे. अतः यह नारायण, प्रपंचका आधार(आश्रय) होनेसे भगवान् ही हैं, यह देखनेमॄ आनेवाला(दृश्य जगत्) जिस पुरुषमॄ विशेष रीतिसे देखनेमॄ आता है अर्थात् यह जगत् उसमॄ एक होते हुए भी पृथक्-पृथक् देखनेमॄ आता है यह भी उनका भगवत्त्व है ।।८।।

आभासार्थः पूर्व कहे हुऐ भेदॄका वर्णन निम्न श्लोकमॄ करते हैं:

साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा ।
विराट्प्राणो दशविध एकधा ह्रदयेन च ।।९।।

श्लोकार्थः तीन प्रकार बताते हैं १. साध्यात्म २. साधिदैव ३. साधिभूत. विराट्के प्राण दश प्रकारके हैं एवं ह्रदयसे एक प्रकार है ।।९ ।।

व्याख्याः यदि इस श्लोकमॄ इसका सत्यप्रकार वर्णन न करॄ तो दूसरा कोई अन्य प्रकारसे वर्णन कर देगा वह वर्णन भागवत सिद्धान्त सम्मत नहीं होगा.

पहले इस जगत्के त्रैविध्यका वर्णन करते हैं, क्यॄकि यह जगत् तामस

प्रधान है. 'तामस' पदसे देह समझना चाहिए, इन तीन भेदॄमॄ 'साध्यात्म' भेद है. साध्यात्म किस प्रकारको कहते हैं वह बताते हैं कि आत्माको अधिकारमॄ लेकर अर्थात् आत्मासे सम्बन्धित जो वर्तता है वह आध्यात्म(देह) है अथवा उसमॄ रहा हुआ जीव अथवा भगवदंश जो है उसको 'आध्यात्म' कहते हैं, उस आध्यात्मके साथ विराट्के देहका जो अंश है वह साध्यात्म है, इसी प्रकार साधिदैव देव अर्थात् अन्तर्यामी दिगादि देव हैं, उनमॄ सम्बन्धित जो इन्द्रियॄका वर्ग है, उनके अभिमानी जीव वा भगवदंश वे अधिदेव हैं अथवा इन्द्र आदिदेव हैं, उनके साथ जो विराट्मॄ देहका ऊपरके भागवाला अंश है वह सादि देव है. इसी तरह अधिभूत भी समझना चाहिए.

यहां जो 'च' शब्द दिया है उसका आशय यह है कि अवान्तर भेदॄमॄ भी आध्यात्मिकादिके सङ्ग्रहार्थ है, विराट्का अधोभाग, साधिभूत है, यॄ इस प्रकारसे तीन विभाग समझने चाहिए. यह ही तत्त्वगणका त्रैविध्य है. अब दश प्रकार बताते हैं 'विराट्प्राणो दशविधः', विराट्का प्राण दशविध है. विराट्का जो प्राण है वह आसन्यरूप है, उसके दश भेद हैं, 'विराट-प्राण' पदॄका षष्ठीसे सम्बन्धके कारण 'विराट्' आसन्यका अवतार है, महत्तत्त्वका ही जो क्रिया-शक्त्यंश सूत्रात्मा है वह ही 'विराट्' है. प्राण, अपान, समान उदान और व्यान ये पांच प्राण हैं वैसे ही नाग कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय पांच प्राण हैं. इनका देहमॄ नियत कार्य कास(खांसी), छींक, डकार, ओबासी और शोषण करना है.

उसका एक प्रकार हृदयसे होता है, यॄ हृदयसे करणकारक देनेका आशय यह है कि, यॄ कहना अवान्तर भेदके निरूपणार्थ ही है अर्थात् 'हृदय' पदसे मन, बुद्धि अहंकार और चित्त इन चारॄको लेना और 'च' पदसे उसके अधिभूतादि भेद भी लिये हैं अर्थात् उन चारॄके देवता भी ग्रहण करने हैं ।।९।।

आभासार्थः उस विराट्के और उसके भीतर जो रहते हैं उनके स्वरूपॄका एक प्रकारसे स्वरूप कहकर तथा अपने प्रवेशसे ही विश्व रचनेवालॄका कार्य पूर्ण कर ज्ञान एवं क्रियाशक्ति न दे के **'यथा वयं चाऽन्नमदाम यत्र'** इति. जैसे हम जहां अन्न खाते हैं, ऐसी जो प्रार्थना पांचवॄ अध्यायके ४८वॄ श्लोकमॄ पूर्व की है, यदि वह प्रार्थना भगवान् स्वीकार न करें तो तत्त्वॄका नाश हो जावे अथवा उनको खेद हो इसलिए उनकी प्रार्थना सत्य(पूर्ण) करने लगे, जिसका वर्णन इस श्लोकमॄ करते हैं:

स्मरन् विश्वसृजाम् ईशो विज्ञापितम् अधोक्षजः ।
विराजम् अतपत् स्वेन तेजसैषां विवृत्तये ।।१०।।

श्लोकार्थः इन्द्रियातीत भगवान्ने विश्वरचकाृकी प्रार्थनाका स्मरणकर उनके वासस्थानके निर्माणार्थ अपने तेजसे विराट्को तपाया ।।१० ।।

व्याख्याः तत्त्वाृकेलिए 'विश्वसृक्' शब्द देकर उनका महत्त्व और उपकार सूचित किया है. दान क्याृ किया ? जिसका कारण बताते हैं कि उन्हाृने 'प्रार्थना'की थी अर्थात् दानका कारण उनकी प्रार्थना है. यहां भगवान्का नाम 'अधोक्षज' दिया है जिसका आशय है कि इन्द्रियाृसे जो कुछ ज्ञान वा क्रिया उत्पन्न होती है वह भगवान् तक पहुंचनेमृ समर्थ नहीं है, वे पीछे लौट आती हैं, अतः वह दान भगवान्के उपयोगमृ आनेवाला नहीं है, यदि दोनाृका उपयोगी होवे तो भक्तिका विरोध हो जाए, भक्तने दान देकर उनका ही उपकार किया, कैसे उपकार किया ? 'विराजम् अतपत्', विराटको तपाया. भगवान् सर्व करनेमृ समर्थ हैं, कार्य(विराट्) उत्पन्न हो गया अर्थात् यह कार्य सिद्ध हो गया तो भी तत्त्वाृके उपयोगार्थ अपने तेजसे फिर उस कार्य(विराट्)को तपाया. तपनेसे तो उसका नाश हो जाएगा इस शंकाको मिटानेकेलिए 'स्वतेजसा' कहा है अर्थात् अपने तेजसे तपाया, जिसे वृथा नाशके प्रकारसे उसका भङ्ग न हुआ, किन्तु इन तत्त्वाृके स्थानाृकी ही सिद्धि हुई. अतः स्पष्ट करते हुए आज्ञा करते हैं कि भगवान्ने इस तरह ताप किया जिससे उनके निवासकेलिए मध्यमृ छिद्र(स्थान) बन जावे यह तात्पर्य है ।।१०।।

आभासार्थः उन छिद्राृ(वासस्थानाृ)का उपयोग(भगवदर्थ, अपनेलिए) न होनेसे भिन्न प्रकारसे निरूपण करते हैं :

अथ तस्याऽभितप्तस्य कति चायतनानि ह ।
निरभिद्यन्त देवानां तानि मे गदतः शृणु ।।११।।

श्लोकार्थः अनन्तर तपाये हुए उसमृ देवाृके कितने स्थान प्रकट हुए ? जितने भी हुए वे मैं कहता हूं तुम सुनो ।।११ ।।

व्याख्याः भगवत्तेजसे तप्त विराट्मृसे कितने स्थान प्रकट हुए, उनका तुम्हे ज्ञान होवे तो न कहूं, यदि नहीं जानते हो तो कहूं, इस अभिप्रायको स्पष्ट करनेकेलिए 'कति' शब्द कहा है. 'च' पदका स्वारस्य प्रकट करते हैं कि जीवके लिए अथवा अपने(विराट् पुरुष)केलिए वहां ऐसे प्रकाराृका समावेश किया है. तपानेसे जो भेद(छिद्र) हुवा होगा तो उससे उसका(विराट्) नाश होना चाहिए?

इस शङ्काका 'आयतनानि' पद देकर निवारण करते हैं कि वे छिद्र तो उन तत्त्वादिके रहनेके स्थान हुए, अतः नाश नहीं बल्कि तपानेसे कार्य सिद्धि ही हुई है. विराट्की देहमू देवूके स्थान होनेसे भी देहके अङ्ग विकल नहीं हुए यह आश्चर्यका कार्य हुवा जिसका 'ह' पदसे वर्णन किया है. उन स्थानूको नहीं जानते हो तो हम कहते हैं आप सुनो, हम यह वर्णन आपकेलिए ही करते हैं, इसलिए देवूके गुप्त विषयको प्रकट करनेसे भी दोष नहीं लगेगा किन्तु हम देवताओूके स्थानूका स्वरूप वर्णन करते हैं सो आपको भी सुनने चाहिए क्योूकि बिना आज्ञाके सुना जाय तो उसे 'चोरी' कही जाती है ।।११।।

आभासार्थ: निम्न श्लोकूसे उन स्थानूका निरूपण करते हैं :

तस्याऽग्निर् आस्यं निर्भिन्नं लोकपालोऽविशत् पदम् ।
वाचा स्वांशेन वक्तव्यं ययाऽसौ प्रतिपद्यते ।।१२।।

श्लोकार्थ: उस विराट्का मुख प्रकट हुआ जिससे लोकपाल अग्निने अपने अंश वाणीके साथ प्रवेश किया अर्थात् उस(मुख)को अपना निवासस्थान बनाया, जिस वाणीसे वाणीकी यह क्रिया होती है ।।१२ ।।

व्याख्या: उस विराट्मू प्रकट हुए मुखमू अग्निने प्रवेश किया वाणीमू उत्पन्न भोग अग्निका होता है, तत्त्वरूप अग्निकी प्रार्थनासिद्धिकेलिए('लोक बलि धरे' इस प्रार्थनाके सिद्ध्यर्थ) ही लोकपाल विशेषण दिया है अर्थात् अग्नि लोकपाल है, आग्नेय दिशामू जो लोक है उनकी पालना करनेका कार्य इस(अग्नि) को दिया है और मुखमू वासस्थान दिया है वह उसका स्थान है, उसके लोक तो 'पाल्य'[1] पालनेके ही योग्य हैं भोग तो वाणीमू ही है. 'वाचा स्वांशेन', स्वकीय अंश वाणीसे, यूा कहनेसे यह सूचित किया है कि वाग्रूप इन्द्रिय अग्निका आध्यात्मिक रूप हैं[2]. सङ्ग दोष होनेपर ही अग्नि वाणी बनती है, इसलिए ही अग्निके अपने अंशसे उद्भूतको वाणी कहा है इससे वाणीके अभिमानत्व[3] कहनेसे यूा कहा कि यह अग्नि पूजनीय नहीं है. उस देवता अथवा वाणीसे क्या लाभ? इसपर कहते हैं कि, 'यया वाचा असौ विराट् पुरुषः', जिस वाणीसे विराट् पुरुष हुआ जिससे वाणीका व्यापार अर्थात् शब्दोच्चारण हो सका तथा वह बनी हुई इन्द्रियसे ही देवताका स्थान प्राप्त कर सकता है ।।१२।।

१.लोक, भोगके योग्य नहीं है एवं आधारभूत भी नहीं है, यहां सब श्लोकूमू यह भी समझना. 'जहां अन्नको खावू' इस प्रार्थनाका फल मुखादिस्थान है और 'जिस तरह

अन्नको खावें' इस प्रार्थनाका फल वाक् आदि इन्द्रियां भोग्य हैं क्यूंकि वागादि उन देवोंकी स्त्रियां हैं, अन्न तो सकलभूतोंका जीवनरूप है. बलिका दान तो विराट् पुरुषके वाणीकी क्रियाका साधक है, स्तुति आदि तो भगवदर्थ की जाती है, आग्नेय आदि दिग्भाग और देह तो लोगोंका निवासस्थान है, सकल देवता इन्द्रियां और गोलक ये सब लोकोंके रहनेके प्रकार हैं. प्रत्येक प्रदेशमें उत्पन्न अन्न तो अपने अदृष्ट द्वारा प्रत्येकको खानेकेलिए प्राप्त होता है. बलि धरनेका तात्पर्य है उस-उस देवता तथा भगवान्की पूजा(सेवा) आदि करनी है.

२.गोलकसे संसर्ग होनेपर ही आसक्तिरूप दोष लगता है, उस आसक्तिके कारण ही, शरीरसे सम्बन्धित होनेसे 'आध्यात्मिक' कहनेमें आया है. जब अनासक्त होता है तब देवता होकर रहता है, सम्बन्धित होनेका हेतु रजोगुण है, अनासक्तिका कारण सतोगुण है. वास्तवमें तो ये दोनों अहंकारसे ही उत्पन्न हुए हैं जिससे दोनोंका परस्पर अंशांशी भाव है.

३.अभिमन्तव्य होनेसे अंशभूत हैं और वैसे जिस राजसको सात्त्विकका अभिमानी बननेकेलिए भगवान्ने प्रेरणा दी वह राजस उस सात्त्विकका अंश है. 'प्रकाश'.

आभासार्थ: अब इस श्लोकमें अन्य स्थान बताते हैं:

निर्भिन्नं तालु वरुणो लोकपालोऽविशद् विभोः ।
जिह्वयांऽशेन च रसं ययाऽसौ प्रतिपद्यते ।।१३।।

श्लोकार्थ: विराट्में प्रकट तालु स्थानमें लोकपाल वरुणने अपने जिह्वारूप अंशसे प्रवेश किया, जिससे रस प्राप्त किया जाता है ।।१३ ।।

व्याख्या: उसी ही मुखमें जो मुखसे मिला हुआ पोल(आकाश) देखनेमें आया जिसमें अग्निदेवता और वागिन्द्रियने निवास किया, अनन्तर उसी ही आकाश(पोल)में जो तालु प्रकट हुआ था उसमें 'जिह्वा' नामक गोलक प्रकटा. विराट्के उस तालुमें वरुणदेवने प्रवेश किया. क्यूंकि वह वरुण भी पश्चिम दिशाका लोकपाल है. अतः लोकपाल अग्निकी तरह इसने भी अपने वासस्थानमें स्थिति की, वह वरुण अनेक प्रकारके रस उत्पन्नकर विराट्को ग्रहण कराता है इसमें वरुण विराट्के भोगस्थानमें रहनेसे नाना भोग भोगता है, वरुण अपने अंशरूप जिह्वा इन्द्रियसे विराट्को रस प्राप्त कराता है ।।१३।।

आभासार्थ: इस श्लोकमें दूसरे दो विवर(स्थान) कहते हैं:

विनिर्भिन्नेऽश्विनौ नासे विष्णोर् आविशतां पदम् ।
घ्राणेनांशेन गन्धस्य प्रतिपत्तिः यतो भवेत् ।।१४।।

श्लोकार्थ: विराट्के मुखमृ दो नासापुट देखनेमृ आए जिनमृ उत्तर दिशाके लोकपाल दो अश्विनी कुमारॄने घ्राणेन्द्रियके साथ प्रवेश किया, जिससे गन्धका ज्ञान प्राप्त होता है ।।१४।।

व्याख्या: उत्तर दिशाके लोकपाल दो अश्विनी कुमारॄने विराट्के मुखमृ प्रकट हुए नासापुट(नथनॄ)मृ प्रवेश किया. दो नासापुट 'गोलक' हैं, नाक(घ्राण) इन्द्रिय है, घ्राणेन्द्रिय और उसका देवता दोनॄ साधनॄसे विराट् पुरुषको गन्धका ज्ञान प्राप्त होता है, सर्वत्र जो छिद्र हैं वे गोलक होनेसे देवताके स्थान हैं, इन्द्रियको प्रेरणा करनेवालेको देवता कहते हैं, इन्द्रिय उस(देवता)का अंश है. देहाभिमानीको इन्द्रिय तथा देवता द्वारा उस विषयका अनुभव होता है ।।१४।।

आभासार्थ: अन्य नेत्रादि इन्द्रियके विषयका निरूपण करते हैं :

निर्भिन्ने अक्षिणी त्वष्टा लोकपालोऽविशद् विभोः ।
चक्षुषांशेन रूपाणां प्रतिपत्तिर् यतो भवेत् ।।१५।।

श्लोकार्थ: विराट् पुरुषमृ प्रकट नेत्रके २ गोलकॄमृ सूर्यने अपने अंशरूप नेत्र सहित प्रवेश किया ।।१५ ।।

व्याख्या: नेत्रेन्द्रियके रहनेके दो स्थान(गोलक), जब विराट्मृ देखनेमृ आये तब उनमृ त्वष्टा(सूर्य)ने अपने नेत्र इन्द्रियके साथ प्रवेश किया. यहां सूर्यके लिए अभिमानी त्वष्टा नाम देनेका भावार्थ यह है कि त्वष्टाका अर्थ दुर्बल करना है. आंख इन्द्रिय[१] है ।।१५।।

१.आंख छोटा देखती है या करती है इसलिए वह आसुरी कही गई है क्यॄकि असुरॄका कार्य दुर्बल बनाना है, इसलिए अभिमानी, त्वष्टा कहा गया है जो पूर्व दिशाका लोकपाल है. प्रकाश.

निर्भिन्नान्यस्य चर्माणि लोकपालोऽनिलोऽविशत् ।
प्राणेनांशेन संस्पर्शं येनाऽसौ प्रतिपद्यते ।।१६।।

श्लोकार्थ: विराट्की त्वचामृ प्रकट हुए छेदॄमृ लोकपाल वायुने अपने अंशरूप प्राण सहित प्रवेश किया, जिससे इसको स्पर्शका ज्ञान होता है ।।१६ ।।

व्याख्या: विराट्की त्वचामृ बहुत छिद्र प्रकटे इसलिए बहुवचन दिया है. यह 'त्वचा' रूप इन्द्रिय है. 'त्वक्' शब्दसे आगेके सूक्ष्म अंशको कहा है. इससे यहां दो इन्द्रियां हैं अर्थात् प्राणॄके रहनेके दो गोलक हैं. एक ऊपरका सूक्ष्म अंश त्वचा, दूसरा नीचेका स्थूलांश चर्म है. वहां चर्ममृ(छिद्रॄमृ) वायु देवता रहता है.

प्राण इन्द्रिय लोकमृ 'त्वक्' शब्दसे प्रसिद्ध है, प्राण आधार होनेसे 'त्वचा'[१] शब्दसे कहा जाता है ।।१६।।

१.त्वचाको यहां प्राण क्यृ कहा? त्वचाको प्राण इसलिए कहा कि जैसे प्राण देहका आधार है वैसे त्वचा भी देहका आधार है, अतः इसको प्राण कहा है. प्रकाश.

कर्णावस्य विनिर्भिन्नौ धिष्ण्यं स्वं विविशुर् दिशः।
श्रोत्रेणांशेन शब्दस्य सिद्धिं येन प्रपद्यते ।।१७।।

श्लोकार्थः दो कर्णरूप गोलक जब प्रकटे तब उन अपने स्थानमृ दिग्देवाृने अपने अंश श्रोत्र इन्द्रिय सहित प्रवेश किया, जिससे शब्दका ज्ञान होता है(सुना जाता है) ।।१७।।

व्याख्याः दिशाएं भी देवता हैं, श्रोत्र इन्द्रिय है, सुनना कार्य है, कान गोलक हैं ।।१७।।

त्वचम् अस्य विनिर्भिन्नां विविशुर्धिष्ण्यम् ओषधीः।
अंशेन रोमभिः कण्डूं यैर् असौ प्रतिपद्यते ।।१८।।

श्लोकार्थः इस विराट्मृ प्रकट त्वचारूप गोलकमृ औषधि देवताआृने अपने अंशरूप रोमाृने प्रवेश किया, जिससे इसको खुजली उत्पन्न होती है ।।१८।।

व्याख्याः त्वचा गोलक(रहनेका स्थान) है, [१]औषधियां देवता हैं, रोम इन्द्रियां, खुजली(खारिश) त्वचाके घर्षणसे सुख प्राप्ति होती है ।।१८।।

१.हालांकि औषधियां वायुकी अंश हैं और रोम त्वचाके अंश हैं उसको दो गोलकमृ दो रूपसे भोग सिद्ध होता है, औषधियां तथा रोम पृथक् नहीं है क्याृकि गण तेवीस ही सिद्ध किए गए हैं.

मेढ्रं तस्य विनिर्भिन्नं स्वधिष्ण्यं क उपाविशत्।
रेतसांशेन येनाऽसौ आनन्दं प्रतिपद्यते ।।१९।।

श्लोकार्थः इस विराट्मृ प्रकट लिंगरूप गोलक(अपने वासस्थान)मृ प्रजापतिने अपने अंश(वीर्य[२]) सहित प्रवेश किया, जिससे इसको आनन्द प्राप्त होता है ।।१९।।

व्याख्याः लिङ्ग गोलक है अर्थात् प्रजापतिका निवासस्थान है, प्रजापति देवता है(जिसने अपने निवासस्थान लिङ्गमृ प्रवेश किया है). वीर्य इन्द्रिय प्रजापतिका अंश है, आनन्दका तात्पर्य स्त्रीके साथ किए हुए भोगसे प्राप्त सुख ।।१९।।

२.'वीर्य' शब्दसे उपस्थ इन्द्रियका बोध करना.

गुदं पुंसो विनिर्भिन्नं मित्रो लोकेश आविशत्।
पायुनांशेन येनाऽसौ विसर्गं प्रतिपद्यते ।।२०।।

श्लोकार्थ: विराट्मृ गुदा प्रकटी, जिसमृ लोकेश मित्रने अपने अंश वायु सहित प्रवेश किया, जिससे मल त्याग किया जाता है ।।२० ।।

व्याख्या: गुदा गोलक है, मित्र देवता है, पायु इन्द्रिय है और विसर्ग मलका त्याग ।।२०।।

हस्तावस्य विनिर्भिन्नौ इन्द्रः स्वर्पतिराविशत्।
वार्तयांशेन पुरुषो यया वृत्तिं प्रपद्यते ।।२१।।

श्लोकार्थ: इस(विराट्)के प्रकटे हुए हस्तरूप दो गोलकामृ स्वर्गपति इन्द्रने अपने अंश वार्ता(बल) सहित प्रवेश किया, जिससे पुरुषवृत्ति(अपना कार्य) कर सकता है ।।२१ ।।

व्याख्या: दोनृ हाथ गोलक हैं, इन्द्र देवता हैं, स्वर्गका पति होनेसे लोकपाल हैं, 'वार्ता' पदका यहां आशय है कार्य करनेका बल,(न कि वैश्यवृत्ति अथवा वार्ता), यह इन्द्रिय है. 'वृत्ति' शब्दका भाव है हस्तकी क्रिया(व्यापार) जो हाथसे किया जा सके ।।२१।।

पादावस्य विनिर्भिन्नौ लोकेशो विष्णुराविशत्।
गत्या स्वांशेन पुरुषो यया प्राप्यं प्रपद्यते।।२२।।

श्लोकार्थ: इसके प्रकट दो पादृ(पैरृ)मृ लोकपाल विष्णुने अपने अंश(गति-जाना)के साथ प्रवेश किया, जिससे जहां जाना चाहें वहां जा सकता है ।।२२ ।।

व्याख्या: दो पाद(चरण) गोलक, विष्णु देवता हैं, गति इन्द्रिय है, कहीं भी ग्रामादिमृ जाकर पहुंच जाना चरणृका कर्म है* ।।२२।

*.इस तरह बाहरकी दश इन्द्रियृसे ११ स्थानृमृ भोग कहा है.

बुद्धिं चाऽस्य विनिर्भिन्नां वागीशो धिष्ण्यम् आविशत्।
बोधेनांशेन बोद्धव्यप्रतिपत्तिर् यतो भवेत्।।२३।।

श्लोकार्थ: इसमृ प्रकट बुद्धिरूप गोलकमृ वाक् पतिने अपने अंश(बोध ज्ञान)के साथ प्रवेश किया, जिसके द्वारा जो कुछ जानना हो वह समझा जा सकता है ।।२३ ।।

व्याख्या: अन्तःकरण [1]चतुष्टयका 'हृदय' एक गोलक है, वह ही अंश भेदसे बुद्धि आदि शब्दको पहचाना जाता है. अतः 'बुद्धि' गोलक है, वागीश वाणीका ईश 'ब्रह्मा' देवता है, 'बोध'[2] इन्द्रिय है, घटादि पदार्थोंका ज्ञान इन्द्रिय का कार्य है ।।२३।।

१.अन्तःकरणचतुष्टय मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार.

२.राजसी बुद्धि इन्द्रिय है, जिससे बोध(ज्ञान) होता है, वह बुद्धि राजस होनेसे इन्द्रिय है, अन्य बुद्धि गोलक है. प्रकाश.

हृदयं चाऽस्य निर्भिन्नं चन्द्रमा धिष्ण्यम् आविशत् ।
मनसांशेन येनाऽसौ विक्रियां प्रतिपद्यते ।।२४।।

श्लोकार्थ: यदि इस विराट्मृ प्रकट हृदयरूप गोलक(स्थान)मृ चन्द्रमाने अपने अंश मनके साथ प्रवेश किया, जिसके द्वारा यह विकारको प्राप्त होता है ।।२४ ।।

व्याख्या: हृदय गोलक है, चन्द्रमा देवता है, मन इन्द्रिय है. इस मनरूप इन्द्रियका कार्य सङ्कल्प विकल्प द्वारा विविध प्रकारकी क्रिया करना है ।।२४।।

आत्मानं चाऽस्य निर्भिन्नम् अभिमानोऽविशत् पदम् ।
कर्मणांशेन येनाऽसौ कर्त्तव्यं प्रतिपद्यते ।।२५।।

श्लोकार्थ: इसके प्रकट हुए हृदयरूप गोलक(वासस्थान)मृ अभिमानने अपने अंशरूप कर्मके साथ प्रवेश किया, जिससे यह अपने कर्तव्यमृ तत्पर होता है ।।२५ ।।

व्याख्या: आत्मा अर्थात् अहङ्कार. वह अन्तःकरणका ही एक भाग है, अभिमान देवता है, कोई कहते हैं कि वह *रुद्रात्मक अभिमान देवता है, नवीन सृष्टिकी रचना होनेसे उस-उस शब्दसे वाच्य ही वे उसी प्रकारके हैं. कर्मका तात्पर्य है 'अभिमान' अर्थात् देह आदिमृ अहं बुद्धि. यह(देह ही मैं हूं) ही इन्द्रिय है. 'कर्तव्य' अहंकारका कार्य है, अहङ्कार न होवे तो कर्तव्य हो न सके ।।२५।।

* ''रुद्रोऽभित्वा हृदयम्'', रुद्रने अभिमानसे हृदयमृ प्रवेश किया यृ आगे कहा जायेगा, इस वाक्यानुसार कोई कहते हैं अभिमान 'रुद्रात्मक' है क्यृकि प्रकरणकी समानता है, यह पक्ष आचार्यश्रीको अभिमत नहीं है, कारण कि वहां चित्त अंश सहित चैत्यने प्रवेश किया, यृ कहृगे और यह निम्न २६ वृ श्लोकमृ कहा है कि

महत्तत्त्वने चित्त अंश सहित हृदयमॄ प्रवेश किया, इसमें यहां और वहांके देवॄमॄ भेद है.

सत्त्वं चाऽस्य विनिर्भिन्नं महान् धिष्ण्यम् उपाविशत्।
चित्तेनांशेन येनाऽसौ विज्ञानं प्रतिपद्यते ।।२६।।

श्लोकार्थः इस विराट्के प्रकट सत्त्वरूप गोलक(वासस्थान)मॄ महत्तत्त्वने अपने चित्तरूप अंशके साथ प्रवेश किया, जिससे इसको चैतन्य प्राप्त होता है ।।२६ ।।

व्याख्याः 'सत्त्व' गोलक है, उस(गोलक)मॄ स्थित महत्तत्त्व देवता है उस देवताका 'अंश' चित्त इन्द्रिय है, विज्ञान अर्थात् *चेतना इन्द्रियकी क्रिया है, इस प्रकार सात्त्विक अहंकारके कार्य मनमॄ, महत्तत्त्व, अहङ्कार और बुद्धिकी एकता कहनेकी इच्छासे उनका भी इन्द्रियत्व कल्पना कर, वहां देवतादिकॄका भेद कहा है ।।२६।।

* चैतन्य, समग्रदेहमॄ व्याप्त चेतनता.

आभासार्थः अब निम्न श्लोकॄसे मध्यमॄ विराट्के अवयवॄसे लोकका जो निर्माण हुआ वह कहते हैंः

शीर्ष्णोऽस्य द्यौर्धरा पद्भ्यां खं नाभेरुदपद्यत।
गुणानां वृत्तयो येषु प्रतीयन्ते सुरादयः ।।२७।।

श्लोकार्थः इस विराट्के मस्तकसे स्वर्ग, दो पादॄसे पृथ्वी और नाभिसे आकाश उत्पन्न हुआ, जिनके भीतर ही गुणॄकी वृतियां तथा देव देखनेमॄ आते हैं ।।२७ ।।

व्याख्याः इस विराट्के मस्तकसे स्वर्गलोक उत्पन्न हुआ, नाभिसे अन्तरिक्ष(आकाश)का उद्भव हुआ. 'पद्भ्यां' यह पांचवीं विभक्ति है यॄ विभक्ति कहनेका आशय यह है कि 'पद्भ्यां' तृतीया विभक्तिमॄ भी आता है, यदि तृतीया विभक्ति मानी जाएगी तो पाद कारण हो जाएंगे किन्तु पाद पृथ्वीके उत्पन्न होनेमॄ करण नहीं है बल्कि उत्पादन है, यह जाननेकेलिए कहा है 'पद्भ्यां' पंचमी है. अपादानमॄ पंचमी विभक्ति दी जाती है, दो पादॄसे पृथ्वी उत्पन्न हुई.

विपरीत क्यॄ कहा जिसका कारण कहना चाहिए यह(विज्ञप्तिका) निरूपण किसलिए? विज्ञप्ति करनेपर ही सन्ताप किया. तत्त्वॄके भोगार्थ ही स्थानॄके निर्माणका वर्णन किया, धरा आदिके निर्माणका कहां उपयोग होगा?

इस शङ्काके निवारणार्थ ही श्लोकके उत्तरार्धमू कहते हैं कि 'गुणानाम् इति' प्रथम अहंकार और मायाके गुण कहे हैं, उन प्रत्येककी वृत्ति एवं स्थान कहना चाहिए. उन गुणूके अभिमानी देवूके नियमित भोगकेलिए वृत्तियां अर्थात् विलासके प्रकार भी कहने चाहिए और वे विलास जिन स्वर्गादिकूमू करू वे भी कहने आवश्यक हैं.

गुणूकी वृत्तियू(विलासू)का कौनसा प्रकार है? विलास तो चेतनूका होता है? ऐसी शंका होनेपर उत्तर देते हैं कि 'येषु प्रतीयन्ते सुरादयः', जिनके भीतर देवादिकूकी प्रतीति होती है, जिनके भीतर यह पद फिर लेना चाहिए . 'सुराः' अर्थात् देव आदि शब्दसे 'नराः'(मनुष्य) 'भूतानि च' और भूत भी दीखते हैं ।।२७।।

आभासार्थः इस श्लोकमू उसका ही विभागकर स्पष्ट करते हैं :

आत्यन्तिकेन सत्त्वेन दिवं देवाः प्रपेदिरे ।
धरां रजःस्वभावेन पणयो ये च तान् अनु।।२८।।

श्लोकार्थः विशेष सतोगुणी होनेसे देवूने स्वर्ग प्राप्त किया. मनुष्यूने राजस स्वभावके कारण पृथ्वी प्राप्त की और जो इन(मनुष्यू)के पीछेके गौ आदि हैं, उन्हूने भी पृथ्वी प्राप्त की ।।२८ ।।

व्याख्याः 'आत्यन्तिक' पदका भाव है कि अन्यगुणसे जिस सतोगुणका स्पर्श भी न हुआ है वैसा शुद्ध सतोगुण जिनमू है अथवा विशेष सतोगुणवाले अर्थात् किञ्चित् मात्र अन्य गुण भी हैं, वैसे पूर्वोक्त देव और अन्य देवूने भी स्वर्ग प्राप्त किया, पूर्व आधिदैविकूका निरूपण किया है और दूसरे तेतीस, वे सर्व अतिसात्त्विक हैं, इसलिए सत्त्वके विलासका स्थान स्वर्ग प्राप्त किया. विपरीत कथनमू हेतु कहते हुए उलटे क्रमसे निरूपण करते हैं. 'धरामिति', यहां गुणूका क्रम ही क्रम है, न कि यहां अवयवूका क्रम लिया गया है, मनुष्यूने राजस स्वभाववाले होनेसे पृथ्वी प्राप्त की है. वे(मनुष्य) कर्मसे ही खरीददारी करते हैं अर्थात् कर्म देकर फल ग्रहण करते हैं. इन(मनुष्यू)का व्यवहार कर्मसे ही होता है इसलिए मनुष्यूको 'पणयः' कहते हैं अर्थात् व्यापारी कहकर बुलाते हैं, उन(मनुष्यू)के पश्चात्(अनन्तर) जो गौ आदि हैं वे तामस होते हुए भी पृथ्वीका ही आश्रय करने लगीं, कारण कि वे मनुष्यूका उपकार करनेवाले जीव हैं ।।२८।।

आभासार्थः इस निम्न श्लोकमू तीसरे स्थानमू रहनेका हेतु कहते हैं :

तार्तीयेन स्वभावेन भगवन्नाभिम् आश्रिताः।
उभयोर् अन्तरं व्योम ये रुद्रपार्षदा गणाः ।।२९।।

श्लोकार्थः रुद्रके पार्षदगण तमोगुणी होनेसे भगवान्के नामरूप, दोनूके मध्यभाग शून्य स्थानमू रहने लगे ।।२९ ।।

व्याख्याः 'तार्तीयम्' अर्थात् तीसरा. प्रकृतिका गुण होनेसे उसको स्वभाव कहा है. भगवान्की नाभि 'अन्तरिक्ष'(आकाश) है. तामसका मध्यमू प्रवेशका कारण कहते हैं 'उभयोरन्तरं व्योम', दोनूके(स्वर्ग और पृथ्वीके) मध्य जो अन्तरिक्ष शून्य स्थान है, अतः यह तामसूके रहनेका स्थान है. 'रुद्र' पदका भाव है कि ये घातक(हत्यारे) हैं और इनको कहीं भी रहनेकेलिए स्थान नहीं है, इस कारणसे मध्यस्थान शून्य और तीसरे होते हुए भी रुद्रूने इस स्थानको ग्रहण किया, आधेय और आधार दोनू बलिष्ठ होनेसे उनकेलिए अन्तराल ही उचित स्थान हैं, वहां अन्तराल(मध्य)मू जो स्थित हैं उनको बताते हैं कि वे कौन और वे कैसे हैं, वे रुद्रके पार्षद् हैं. 'गणाः' शब्द कहनेका कारण बताते हैं कि रुद्रकी सभामू कभी सनकादि देव भी आकर बैठते हैं, 'पार्षद्' शब्दसे देवूको भी कोई समझले इस भ्रमके निवारणार्थ 'गणाः' पद दिया है अर्थात् रुद्रकी सभामू जो उसके गण बैठते हैं, वे मध्यमू रहते हैं, इसी तरह व्यष्टिसृष्टिमू गुणूके स्थान भेद कहे हैं ।।२९।।

आभासार्थः वर्णोंके ४ भेद सत्त्व आदि गुणूके कारण ही हुए हैं, इसलिए भजनार्थ ही उनकी उत्पत्ति अवयवूसे हुई है यू निम्न चार श्लोकूमू बताते हैं:

मुखतोऽवर्त्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह।
यस्तून्मूखत्वाद् वर्णानां मुख्योऽभूद् ब्राह्मणो गुरुः।।३०।।

श्लोकार्थः हे कौरव श्रेष्ठ! पुरुषके मुखसे ब्रह्म उद्भूत हुआ जिसने फिर ब्रह्मकी तरफ ही दृष्टि की, जिससे वह वर्णोमू मुख्य ब्राह्मण वर्ण हुआ एवं वर्णोका गुरु हुआ ।।३० ।।

व्याख्याः भगवान्के मुखारविन्दसे शुद्ध सत्त्वका परिणामरूप, देवतारूप ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मी देवता प्रकटा, जिसके अधिष्ठानसे ब्राह्मण होते हैं अर्थात् उस अधिष्ठानसे ब्राह्मण वर्ण हुआ, किन्तु नया नहीं बना, जो वर्ण मुखमू विद्यमान था उसका ही आविर्भाव हुआ. 'पुरुषस्य' पदका भावार्थ भगवान् नारायण हैं. 'कुरूद्वह' विशेषणसे बताया है कि आपको इस उक्तिमू विश्वास है वा रखना

चाहिए क्यूंकि कुरुकुलमूं श्रेष्ठ हो अथवा यह 'कुरूद्वह' विशेषण इसलिए दिया है कि आपको इस विषयमूं सुननेका अधिकार है, जो कि, वर्णोंमूं मुख्य है, और ब्रह्मकी तरफ ही अपनी दृष्टिवाला होनेसे ब्राह्मण वर्ण बना और वर्णोंके गुरु हुए. 'तु' शब्दसे ब्राह्मणका स्वत: ब्रह्मके मुखत्वका निषेध करता है. जिसका कारण बताते हैं कि जो ब्रह्ममूं रहे वह ब्राह्मण अथवा ब्रह्ममूंसे उद्भूत ब्राह्मण अथवा ब्रह्मका यह है इसलिए ब्राह्मण, यह अर्थ 'अण्' प्रत्यय होनेसे निकलता है. 'उन्मुख' पदका भावार्थ है कि, सबसे पहले प्रवृत्त मुख्य वर्ण होनेसे उसका मुख सबसे ऊंचा रहता है कारण कि यह वर्ण उपदेश देनेमूं तत्पर रहता है और आद्य होनेसे उसका मुख ऊर्ध्व होता है, एवं भगवन्मुख भी ऊर्ध्व है, भगवन्मुखसे आविर्भावके कारण भी ब्राह्मण ऊर्ध्वमुख होते हैं. भगवान्का मुख भी ऊर्ध्व ब्रह्मके उत्पत्तिकेलिए ही हुआ है, अतः समष्टि एवं व्यक्ति परस्पर बीजाङ्कुर भाववाले होनेसे ऐक्य होनेके कारण तथा उन्मुखत्वकी समानतासे वर्णोंमूं मुख्य (मुखसे उद्भूत) पहले हुआ वह ब्राह्मण कहलाया. इसलिए ही वह वर्ण गुरु है, भगवान् ही गुरु है, वह ही मुखसे उपदेश देते हैं. उससे उपदेश देनेकेलिए ही आधिभौतिक ब्रह्म प्रकट हुआ. आध्यात्मिक ब्रह्म वेद है, अक्षर आधिदैविक ब्रह्म है.

ब्राह्मण वर्ण गुरु है जिसका प्रतिपादन करते हैं अत: भौतिक ब्रह्म आविर्भूत होते ही ब्रह्मके समान ऊंचे मुखवाला होनेसे उस आधिदैविक अक्षर ब्रह्मने प्रथम उत्पन्न ब्राह्मण वर्णमूं प्रवेश किया, इसलिए ब्राह्मण ही द्वितीय आध्यात्मिक ब्रह्मवेदका और तृतीय आधिदैविक अक्षरब्रह्मका ज्ञानार्थ उपदेशक होता है इसलिए 'गुरु' है ।।३०।।

आभासार्थ: इस श्लोकमूं दूसरे वर्णकी उत्पत्तिका प्रकार कहते हैं:

बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस् तदनुव्रतः ।
यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात् ।।३१।।

श्लोकार्थ: दो भुजाओंसे क्षत्र प्रकटा, उसका अनुसरण करनेवाला, क्षत्रिय वर्ण हुआ, जो वर्ण पुरुषसे उत्पन्न होनेसे पौरुष पराक्रमरूप हुआ, जिससे जन्मते ही अन्य वर्णोंका कांटोंके भयसे भी रक्षा करता है ।।३१ ।।

व्याख्या: 'क्षत्र' पदका भावार्थ है भगवान्का लोक रक्षात्मक कोई किंचित् वीर्य. वह वीर्य(क्षात्रशक्ति) भगवान्की दो भुजाओंसे प्रकटा, जो वीर्य भगवद् भुजाओंके भीतर स्थित था वह बाहर निकला. उस वीर्य(क्षात्र शक्ति)का

अनुयायी हुआ वह वर्णोंके मध्य दूसरा वर्ण हुआ. जैसे 'क्षत्र' रक्षार्थ ही प्रवृत्त हुआ, वैसे वह वर्ण भी उसकेलिए प्रवृत्त हुआ क्यूंकि एक ही स्थानसे उद्भूत होनेसे और एक ही उपादानवाले होनेसे दोनूंमें क्षत्र और दूसरे वर्ण(क्षत्रिय)में वही शक्ति रही, क्षत्रियवर्ण, क्षत्र शक्तिका सेवक हुआ इसलिए भी उसमें यह शक्ति प्रकटी. ''क्षत्राद् घः''(पाणि.सू.४।१।१३८) इस पाणिनीय व्याकरण नियमके आनुसार 'घ' प्रत्ययके होनेसे नियत धर्म एवं जाति वाचक धर्म दो उसमें रहते हैं, उसको स्पष्ट कर समझाते हैं 'क्षतात् त्रायते इति क्षत्रियः', जो जन्मते ही अपनेसे शेष तीन वर्णोंकी कांटोंसे रक्षा करता है, कांटोंसे रक्षा कहनेका आशय यह है कि रोगसे रक्षा नहीं करता है किन्तु 'कांटे' अर्थात् पृथ्वीपर जो दैत्यांश उत्पन्न हो प्रजाकी उन्नतिमें बाधक होते हैं एवं धर्मके प्रतिबन्धक होते हैं, उनसे जनताकी(मनुष्य-पशु-पक्षी आदिकी) रक्षा करता है, यदि रक्षा न करे तो क्षत्रिय मारक होनेसे उनमें क्षात्रत्वसे विपरीतता प्रकट देखनेमें आवे. इससे यह बताया है कि जो कण्टक दैत्यांश होते हुए भी क्षत्रियोंमें कर्मवश प्रकट हुए हैं वे क्षत्रिय नहीं हैं. 'क्षतात्' पदका भावार्थ है जब कि भयको सम्भव देखते हैं तब रक्षण करते हैं. 'पौरुष ही क्षत्रिय है, पुरुषसे उत्पन्नको पौरुष कहा जाता है, सामर्थ्यको जतानेके लिए 'पौरुष' पद दिया है ।।३१।।

आभासार्थः तीसरे वैश्य वर्णकी उत्पत्तिका प्रकार कहते हैं :

विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोः लोकवृत्तिकरीर् विभोः ।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां यः समवर्तयत् ।।३२।।

श्लोकार्थः उस विभुके दो उरुओंसे लोकोंकी वृत्ति(आजीविका) करनेवाली विशो(वैश्य देवता) निकली, उससे वैश्य वर्ण उत्पन्न हुआ, जो वर्ण मनुष्योंकी वृत्तिका व्यवहार चलाता है ।।३२ ।।

व्याख्याः 'विशः' पदसे सकल वर्णोंकी आजीविका जिससे होती है ऐसे कृषि(खेती) आदि पदार्थ, शिलोञ्छादि(खेतीमें पड़े रहे अन्न कणोंको चुनना आदि)का भी वह ही मूल है, दान भी उससे ही उत्पन्न होता है अर्थात् जब खेती आदि धनको पैदा करते हैं तब ही दान किया जा सकता है. धन पैदा करनेवाली दो ही वस्तु हैं. १.खेती २.गोरक्षा. व्यापार और व्याज(सूद) तो उस धनको बढ़ानेवाले हैं, हालांकि धातुओंसे जो व्यवहार होता है उसमें वैश्यवर्णका प्रयोजकत्व नहीं है अर्थात् प्रायः धातुओंका व्यवहार(धंधा) वैश्योंका नहीं है, वे

नहीं करते हैं कारण कि, धातुॠसे जीवन निर्वाह(उदरपूर्ति) नहीं होती है, अन्न दूधसे ही जीवन निर्वाह(उदर पूर्ति) होती है. अतः खेती और गोरक्षा करना ही उपयोगी है.

क्षत्रियॠका कांटॠसे अर्थात् दुष्टॠसे रक्षण करना कर्तव्य है उससे ही खेती और गौॠसे उत्पन्न अन्न रसादिको, ब्राह्मण उपदेशकर प्राप्त करते हैं, उनसे अपनी आजीविका चलाते हैं. इसी प्रकार क्षत्रिय दुष्टॠसे जनताकी रक्षाकर वह(अन्न तथा रस) प्राप्तकर आजीविका(पोषण) करते हैं. हालांकि अरण्यॠमृ उत्पन्न कन्दमूल फल आदिसे जीवन निर्वाह हो सकता है तो भी वे सबकेलिए सर्वदा उपयोगी नहीं होते हैं.

उस भगवान्के दो ऊरुॠ(जंघाॠ)से लोकॠकी आजीविका करनेवाली वार्ताएं उत्पन्न हुईं. वार्ताएं तो निराकार हैं, पदार्थ तो आकारवाले हैं, उनसे साकारवाले पदार्थ कैसे प्रकटे? उनको हानि आदि होना भी प्रकट दीखता है. इसपर कहते हैं कि जिससे ये 'वार्ताएं' उत्पन्न हुईं, वह(विभु) सर्व समर्थ है. वृत्ति (धंधा आदिके केवल आश्रय करनेसे ही सर्वदोषॠको दूरकर उसको जिलाता ही है, उन अमूर्तोंके आधारकेलिए उनसे ही तीसरा वैश्य वर्ण उत्पन्न हुआ. मनुष्यॠ की आजीविकाको वह प्रसिद्ध 'वैश्य' अच्छी तरह चलाता है अथवा उससे उत्पन्न वैश्य वर्ण. 'य' पद अनुवाद मात्र है. 'नृणां' पदका आशय है कि देवॠकी आजीविका नहीं चलाता है, इससे साधारण पुरुष ही आजीविका पाते हैं न कि जिन्होंने परम अर्थको प्राप्त कर लिया है. 'सम्यग्वर्तन' अच्छी तरह चलानेका आशय है कि उसकी नित्य प्राप्तिकेलिए विशेष प्रयास नहीं करना है ।।३२।।

आभासार्थः चतुर्थ वर्णकी उत्पत्ति इस श्लोकमॄ करते हैं :

पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः।।३३।।

श्लोकार्थः भगवान्के दो चरणॠसे धर्म(कर्म)की सिद्धिकेलिए शुश्रूषा देवता प्रकटा, उसमॄसे पहले शब्दवर्ण उत्पन्न हुआ जिसकी वृत्तिसे भगवान् प्रसन्न होते हैं।।३३।।

व्याख्याः सबके आत्मारूप भगवान्को चार पदार्थ(१.ज्ञान २.क्रिया (रक्षा) ३.जीविका और ४.सेवा) अभिप्रेत है. इस कारणसे भगवान्के चरणॠसे 'शुश्रूषा' नाम वाली सेवारूप कोई देवता प्रकटी. वह देवता भगवान्की कोई

भक्ति(सेवा)रूपा अन्तरंग शक्ति है. उसके प्रकट होनेका कारण कहते हैं 'धर्मसिद्धये'. धर्मकी सिद्धिकेलिए धर्म सेवासे ही सिद्ध होता है, गुरु सेवा, देव सेवा, अरण्यकी सेवा, आत्माकी सेवा. बहुत क्या कहें, सर्व धर्म पातिव्रत्य आदि भी सेवामृ ही गिने जाते हैं, अत: धर्मकी सिद्धिकेलिए सेवा आगे बढ़ानेवाली है, जिससे भगवान् तक पहुंचा जाता है. इसलिए ही यह शुश्रूषा देवाता प्रकट हुई है. इससे यह सूचित किया है कि पूर्व कहे हुए ब्राह्मणादि वर्णोंके कर्म अन्य पुरुषार्थोंकेलिए हैं वैश्य अर्थ साधक हैं, क्षत्र कामसाधक हैं, ब्रह्म मोक्षसाधक हैं, अतएव ब्राह्मण वर्णमृ ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है, क्षत्रियमृ भोग, वैश्यमृ अर्थ और शूद्रमृ धर्म सिद्ध होता है.

उत्तरमृ कहा हुआ धर्म पहले कहे हुएका हेतु(कारण) है, पीछे कहे हुएके लिए ही पहलेका ग्रहण किया गया है. अत: मोक्षकेलिए ही धर्म आदि अन्य धर्म ब्राह्मण वर्ण करता है, वैसे ही क्षत्रिय भी धर्मादि भोगकी प्राप्तिकेलिए करते हैं. वैश्य भी धन प्राप्तिकेलिए धर्मादि करते हैं. शूद्र तो धर्मकेलिए ही सेवा धर्म करते हैं . इसलिए यह शूद्र वर्ण महान् है क्यृकि दूसरेकी प्राप्तिकेलिए नहीं करता है, किन्तु धर्म प्राप्तिकेलिए सेवा धर्म पालता है. ''यद्वृत्या तुष्यते हरिः'', शूद्र अपनी वृत्ति सेवाधर्म पालता है, इसलिए भगवान् शूद्रपर प्रसन्न होते हैं, भगवान्का नाम यहां 'हरि' देकर यह भाव प्रकट किया है कि भगवान् सर्वके दु:खृको हरण करनेवाले हैं और सेवासे भी दु:ख नष्ट होता है इसलिए अपने कर्तव्य करनेके कारण उन(शूद्रृ)पर प्रभु प्रसन्न होते हैं.

अतः कल्पके आदिमृ शूद्र ऐसी सेवामृ ही उत्पन्न हुआ है अथवा सेवाका हो सके इसलिए पैदा हुआ है. अभीके शूद्र तो उस शूद्रसे उत्पन्न हुए हैं. 'शूद्र' शब्द 'शुश्रूषा' पदसे कैसे बना? जिसका वर्णन आचार्यश्रीने पाणिनीय व्याकरणानुसार यृ किया है 'शुश्रूषा'के दो 'श' और दो 'उ'(उकार) मिलकर 'शू' बना है. अन्तिम मूर्धन्य 'ष' सन् प्रत्ययका है और वह 'ष' जश् प्रत्याहारका होनेसे ''झलां जशोऽन्ते''(पाणि.सू.) पाणिनीय सूत्रानुसार उसको 'द्' हुआ है और 'श्रू'मृ जो 'र' है. परोक्षका अर्थ दिखानेकेलिए उसका व्यत्यय(फेर फार, इधरका उधर) हुआ है. अन्तमृ ''अप्रत्ययात्'' (पाणि.सू.३।३।१०२) पाणिनीय सूत्रसे सन्नन्त होनेसे 'अ' प्रत्यय हुआ है अथवा 'अण्' प्रत्यय तद्धित है. स्त्रीलिंग न होनेसे 'टाप्' प्रत्यय न लगा है वृद्धि न होनेका कारण परोक्ष अर्थ है.

''शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणाद्''(ब्रह्मसू.१।३।३४) व्यासजीके रचित ब्रह्मसूत्रने 'शूद्र' शब्दकी व्युत्पत्ति अन्य प्रकारसे की है जिसका भावार्थ है, हंस द्वारा अपना अनादर सुनकर उसको शोक हुआ जिससे 'शूद्र' कहलाया, वह व्युत्पत्ति वर्णके उपयोगी नहीं है अथवा कालभेदसे उसकी व्युत्पत्ति कहते हैं 'पुरा शूद्र', वह जब तक सेवा नहीं करता है तब तक शोकके कारण गलता है, उसको अर्थ आदि भी नहीं होनेसे धर्म भी यदि न बने तो शोक होवे और उससे गलता है, इसलिए पहले यह शूद्र होता है, पीछे नाममात्र शूद्र बनता है, फिर जब अपने सेवा धर्मका पालन करता है तब हरिकी प्रसन्नतासे उसका सकल शोक नष्ट हो जाता है हरिकी प्रसन्नतासे सर्व सिद्ध होता है ।।३३।।

आभासार्थः इस प्रकार वर्णोंकी उत्पत्ति कहकर उनका विनियोग भगवान्मृ किस प्रकार होता है? जिसका वर्णन करते हैं:

एते वर्णाः स्वधर्मेण यजन्ति स्वगुरुं हरिम्।
श्रद्धयात्मविशुद्ध्यर्थं यज्जाताः सह वृत्तिभिः ।।३४।।

श्लोकार्थः ये चार वर्ण अपने-अपने धर्मके पालनसे अपने गुरु(पूज्य) हरिका श्रद्धासे यजन करते हैं. किसलिए करते हैं? इसके उत्तरमृ कहा है कि अपने अन्तःकरणकी शुद्धिकेलिए करते हैं क्यृकि इनकी उत्पत्ति वृत्तियृके साथ ही हुई है ।।३४।।

व्याख्याः 'स्वधर्मेण', अपने-अपने वाणी आदि कर्तव्यसे भगवान्का भजन करते हैं क्यृकि यह उनका अपना सहज धर्म है, जैसा कि, वाणीकी क्रिया(उपदेश-अनुष्ठान आदि)से भगवान्का भजन ब्राह्मणका सहजधर्म है. दुष्टृसे रक्षा करनेसे भगवद् भजन क्षत्रियका सहज धर्म है. सेवाके उपयोगमृ आनेवाले अन्न, रस आदि पदार्थ जनताको पहुंचाने रूप धर्मसे वैश्य भगवान्की पूजा करता है. सर्वकी पूर्वोक्त प्रकारसे सेवाकर शूद्र अपना धर्म पालता है. यह ही उसका भगवद्भजन है जिससे तुझ(शूद्र वर्ण)पर भगवान् प्रसन्न होते हैं. उनकी प्रसन्नतासे शूद्रके सर्वकार्य सिद्ध हो जाते हैं, सर्व कर्तव्यृमृ 'सेवा' उत्तम कक्षाका धर्म है और सर्वसुलभ है. जो सकल वर्ण भगवान्की प्रसन्नता ही चाहते हैं तो सबको सेवा ही करनी चाहिए. यदि स्वधर्मसे भगवान्का भजन करना चाहते हैं तो तब अपने धर्मकी सिद्धिकेलिए सेवा करनी चाहिए. अब स्वधर्मका फल बतानेके लिए उसके उपयोगी भगवद्गुणृका वर्णन करते हैं 'स्वगुरुं हरिम्', स्वधर्मसे भी

वह हरि सेव्य है, हरिसेवा ही आवश्यक है, वहां भगवान् धर्मोपदेष्टा हैं अतः वह ही उपास्य हैं, वह ही अपने गुरु हैं, क्यूंकि धर्मके साथ ही सबको उत्पन्न किया है, यथार्थ(ठीक अर्थ) जताते हुए शब्दका जो शुद्ध उच्चारण कराते हैं वे ही गुरु हैं, इसी तरह ही भगवान् वृत्तिरूप स्वधर्मको पहले उत्पन्नकर, फिर उसका पालन करने या करानेकेलिए अपना आविर्भाव करते हैं, किन्तु यूं ही करनेपर इस(इस वर्ण)का दुःख दूर होगा. यह नियम होनेसे वैसे कर्ता हरि होते हैं. 'यजन्ति', पूजन करते हैं, इस पदसे यह सूचन किया है कि भजन सिद्ध ही है, 'उत्पत्ति'से ही धर्म और उसके करनेका प्रकार जाना गया होनेसे उनमूं बिलम्बका कोई कारण नहीं है, अभी पूरा नहीं हुआ है अर्थात् भजनकी कोई अवधि नहीं है अतः सर्वदा ही करते ही रहना चाहिए. 'यजन्ति' पदका यह भी भाव है कि भजन, स्वधर्म समझ इसी तरह करना चाहिए, जैसे भगवान्मूं प्रेम उत्पन्न होवे, प्रेमसे ही आसक्ति आदिकी उत्पत्ति होती है, वह भजन 'श्रद्धा'से ही कर्तव्य है, वह हेतु सर्वत्र समझना चाहिए, अर्थात् श्रद्धा ही कार्य करनेमूं साधन है और सेवा शुद्ध अन्तःकरणसे करनी चाहिए देखा देखी वा पाषण्डसे नहीं करनी चाहिए, जो पाषण्ड बिना श्रद्धासे सेवा करते हैं उनको निश्चित् फल(भगवत्प्रेम व प्रसन्नता आदि) मिलता है, तथा जब अन्तःकरण शुद्ध है तब ही अधिकार प्राप्त हुआ है यूं समझना चाहिए, अधिकारान्तर सब सुलभ है, हमेशा सेवा करनेका आग्रह क्यूं? इस शङ्काका निवारण करते हैं कि इसी कारणसे यह धर्म अपनी वृत्तियूंके साथ उत्पन्न हुए हैं अतः यदि ऐसे स्वधर्मका पालन न किया जाएगा, तो कालान्तरमूं वृत्तिहीन होना पड़ेगा जिससे लौकिक और पारलौकिक दोनूं बिगड़ूंगे ।।३४।।

आभासार्थः इसी तरह भगवान्ने समष्टि-व्यष्टिसृष्टिका उत्पादन किया और उसमूं समस्त देवूंका वहां उपभोग किया, अपने 'भू'लोकका सृष्टि कार्य चलानेकेलिए चार वर्ण बनाये तथा उनकेलिए भगवद्भजन करनेका प्रकार कहा यूं ये चार कहकर अब इस विषयका निम्न श्लोकसे उपसंहार करते हैं :

एतत् क्षत्तर् भगवतो दैवकर्मात्मरूपिणः ।
कः श्रद्दध्याद् उपाकर्तुं योगमायाबलोदयम् ।।३५।।

श्लोकार्थः हे क्षत्तः! दैव कर्म और स्वभावरूप भगवान्के योगमायाके बलके उदयवाले इस चरित्रके आरम्भ करनेकी श्रद्धा कौन करे? ।।३५।।

व्याख्याः ये चार ही हमने केवल सूचना देनेकेलिए निरूपण किए हैं,

अधिक आप खुद ही समझ लेओ. क्यूंकि आप निपुण हैं, निपुणताकेलिए ही 'क्षत्तः' सम्बोधन दिया है, एक वीर्यकी अंशभूत क्रियाशक्तिका यहां करोडवां अंश लेशमात्र निरूपण किया है, भगवान् तो पूर्ण ही हैं, इसलिए 'भगवतः' पद दिया है, उसमूं भी दैव, कर्म और स्वभाव इन तीनोंका संयोग है, दैवका तात्पर्य है काल, कर्मसे प्राणियोंके कर्म समझने और आत्माका आशय है स्वभाव. ये तीनों भी भगवान्के ही रूप हैं. ये रूप जिसके हैं वैसे भगवान्के एक रूप भी अनन्त हैं, वह कौन है? जो उनके चतुरूप वा चतुष्टयकी अनन्तताका वर्णन कर सके, किन्तु भगवान् चरित्रमूं योगमायाके बलका सर्वथा उदय ही है. योगमाया ऐसी बलवती है जो क्षणमात्रमूं कोटि ब्रह्माण्ड बना सकती है. उस(योगमाया)का बल भगवद्गुणोंके कारण ही अथवा योगमाया करण(साधन) है अर्थात् योगमायाके बलका जो उदय है वह करणमात्र है.

'उपाकर्तुं' पदके भावकी स्पष्टता करते हैं कि जैसे वेदोंका प्रारम्भ उपाकरणसे किया जाता है और उत्संगसे पूर्णता की जाती है, भगवान्के गुण भी मुख्य विद्या(ज्ञान)रूप हैं, उसका भी उपाकरण करना उचित है. समाप्ति तो दूर रही, विशेष स्पष्टता करते हुए कहते हैं कि उपाकरण भी जब कोई नहीं कर सकता है वह ही करना दूर है तो फिर उत्सर्गका तो नाम ही नहीं लिया जा सकता है, प्रारम्भके समीप जाकर करनेकी श्रद्धा, विश्वास, साहस भी कौन करे? अतः मैंने चतुर्मूति भगवान्के गुणोंका ऊपर-ऊपरसे ही वर्णन किया है ।।३५।।

आभासार्थः इतना कहकर ही मैं रुकता नहीं हूं क्यूंकि भगवान्के गुण अनन्त हैं वे निम्न श्लोकमूं कहे जाते हैं:

अद्याऽपि कीर्तयाम्यङ्ग! यथामति यथाश्रुतम् ।
कीर्तिं हरेः स्वां सत्कर्तुं गिरम् अन्याभिधासतीम्।।३६।।

श्लोकार्थः हे अंग! अन्य वर्णनसे दूषित अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिए अब भी मैंने अपनी मतिके अनुसार जैसा सुना है, वैसा भगवान्का यश गाता हूं।।३६।।

व्याख्याः हे अङ्ग! ऐसे प्रेमभरित कोमल सम्बोधन देनेका आशय है कि मैं जो कुछ गुण वर्णन कर रहा हूं वह तुमको धोखा देनेकेलिए नहीं है, किन्तु भगवान्के ऐसे ही अप्रतिम अन्तगुण हैं. जबसे मैं उत्पन्न हुआ हूं वहांसे लेकर आज तक एवं मरण तक भगवान्का गुणानुवाद गाता हूं और गाता रहूंगा क्यूंकि मेरा यह धर्म है

किन्तु विशेषता यह है कि मैं सूक्ष्म जीव होनेसे अल्पज्ञ हूं. जिससे अपनी स्वबुद्धि(अल्पबुद्धि) अनुसार जितना जानता हूं, उतना ही कहता हूं, न कि कल्पना करके कहता हूं, जैसा बुध्यनुसार गुरुसे सुन पाया है वैसा ही सुनाता रहता हूं, इससे यह सूचित किया है, मैं याॄ पुनः पुनः सुनानेसे भगवद् गुणॄकी आवृत्ति(अभ्यास) कर रहा हूं, अभ्यास करनेका प्रयोजन बताते हैं कि 'कीर्तिं हरेः', भगवान्की कीर्ति ऐसी ही है जो पुनः-पुनः कहने व सुननेकेलिए आकर्षित करती ही है, नवीन सुननेकी शक्ति तथा कोई उपाय भी नहीं है और प्रयोजन भी नहीं है क्यॄकि भगवान्के गुण अनन्त हैं, अनन्तताके कारण उनके सुननेकी जो शक्ति(बुद्धि) चाहिए वह अपनेमॄ न होनेसे गुणॄको सुनना अपना धर्म(कर्म) नहीं है. अतः जितना कीर्तन हो सके उतना ही सुनना अपना धर्म है. इसलिए अल्प बुद्धिके अनुसार अल्प सुनकर उतना ही कीर्तन करता हूं. इसलिए एक वचनसे कहा है 'हरेः कीर्तिं', भगवान्की कीर्ति. भगवान् इतनेसे ही दुःख मिटायॄगे इसलिए विशेष सुननेकी आवश्यकता नहीं है, पुनः-पुनः गुणानुवाद करनेका प्रयोजन है, वह प्रयोजन यह है कि अन्य पदार्थोंके वर्णन करनेसे वाणी अपवित्र हो गई है, अतः इस अपवित्र वाणीको पवित्र करनेकेलिए बार बार गुणगान करनेकी आवश्यकता है, भगवान्ने अपनेलिए ही अर्थात् अपने गुण वर्णन करनेकेलिए अपनेको उत्पन्न किया है और वाणी भी इसलिए दी है जिससे कीर्तन कर सकॄ, उस(वाणी)के पति भगवान् हैं, उस वाणीका भगवदर्थ प्रेरक भी स्वयं है किन्तु वैसे होते हुए भी यदि स्वतः अथवा मेरी प्रेरणासे वह वाणी अन्य विषयके वर्णनमॄ प्रवृत्त हुई तो व्यभिचारिणी हुई, उस अपवित्र व्यभिचारिणी वाणीको गुणगानसे शुद्ध करता हूं, शुद्ध हो जानेपर भगवान्मॄ उसका उपयोग किया जाएगा, अतः शुद्ध करनेकेलिए भगवत्कीर्तिका गान बहुत प्रकारसे करता हूं. इससे जिस जिसको भगवान्ने अपनेलिए जो-जो साधन दिये हैं यदि उनका विनियोग दूसरेमॄ करनेसे वह अपवित्र हो गया हो तो उसकी शुद्धिके लिए उसको बार-बार भगवान्मॄ वे साधन लगाने चाहिए ।।३६।।

आभासार्थः इसी तरह उक्त विषयका उपसंहारकर इस श्लोकमॄ सर्वका निश्चित्त निर्णय किया हुआ जन्म फल कहते हैं :

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां सुश्लोकमौलेर्गुणवादम् आहुः।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां कथासुधायाम् उपसम्प्रयोगम् ।।३७।।

श्लोकार्थः उत्तम कीर्त्तिरूप मुकुटवाले भगवान्के गुणॄका गान ही,

पुरुषाका एवं वाणीका सम्पूर्ण लाभ है एवं विद्वानाने प्रारम्भ की हुई कथारूप सुधाका ध्यानपूर्वक श्रवण करनेमे कान तथा पुरुषाका सम्पूर्ण लाभ है ।।३७ ।।

व्याख्या: वाणी एवं कानाके सिवाय अन्य इन्द्रियां केवल भगवदर्थ ही लगानी कठिन ही नहीं किन्तु अशक्य हैं क्याकि उन अन्य इन्द्रियाका उपयोग देहकेलिए आवश्यक है और जो दूषित हैं उन इन्द्रियाका उपयोग भगवान्मे नहीं करना चाहिए जैसे कि हस्त दूषित है, क्याकि नित्य अमङ्गल वस्तुआका स्पर्श करता रहता है, वैसे ही नेत्र भी अमङ्गल पदार्थोंको देखते रहते हैं, या अन्य इन्द्रियां भी देह निर्वाहकेलिए अवश्य दूसरी वस्तु आदिमे लगानी पड़ती है, ऐसा होनेपर कुछ इन्द्रयां तो भगवदर्थ रखनी ही चाहिए, वे इन्द्रियां स्वतः शुद्ध हा अथवा उनको स्वयं शुद्ध अवस्थामे रखना चाहिए, वे कौनसी इन्द्रियां हैं जिनको शुद्ध रखा जा सकता है. इसपर कहते हैं ''वागिन्द्रियं श्रोत्रं च'', वाणी और कान, इन दोनाका देहकेलिए उपयोग आवश्यक नहीं है, इसलिए ये दोना यदि भगवत्कृपासे भगवदर्थ लगाई जावें तो वाणीसे भगवान्के गुण गाने चाहिए और कानासे भगवद्गुण सुनने चाहिए. वाणीसे भगवत्सम्बन्धी विषयके सिवाय अन्य कुछ कहना ही नहीं चाहिए और न अन्य कुछ सुनना चाहिए, वाणीन्द्रियका एक भगवान् ही अन्तिम सत्य स्वार्थ(अपना धन) है. अतः उस सत्यधन भगवान्की प्राप्तिसे ही पूर्ण लाभ होता है अन्यथा नहीं होता है, वह कौन सा लाभ है? इसपर कहते हैं कि 'सुश्लोकमौलेर्गुणवादम्', उत्तम कीर्तिरूप मुकुटवाले भगवान्के गुणाका गान होना.

कीर्तिका प्रतिपादन करनेवाले भागवतादि शास्त्राामे जो कीर्ति प्रतिपादित है वह कीर्ति जिसके मुकुटमे है. इससे यह बताया है कि उसकी कीर्ति मुकुटरूप है, अर्थात् ऐसी उत्तम कीर्ति अन्य किसीको नहीं है, ऐसी उत्तम उस कीर्तिको बार बार रटे तो जैसे सर्वगात्राामे सिर मुख्य है वैसे यह कीर्तिका गान भी सर्वफलाा वा साधनाामे प्रधान भूषण हो जाय, अत: ऐसे भगवान्के उत्कर्ष प्रतिपादन करनेवाले धर्मोंका भाव सहित निरूपण ही लाभ है या कहते हैं. 'आहुः' इस पदका तात्पर्य है यह प्रमाण है. यह केवल वाणीका ही लाभ है, किन्तु इससे पीछे पुरुषाको भी लाभ प्राप्त होता है.

उस(वाणी)के उपयोगकेलिए अन्य इन्द्रियाका भी व्यापार(क्रिया) करनेसे अपना वहां उपयोग होनेसे कीर्तन द्वारा सर्व इन्द्रियाकी तथा अपनी भी

सफलता, सार्थकता सिद्ध होती है.

अब श्रवण(सुनने)से श्रोत्रॄ(कानॄ)को भी यही लाभ मिलता है. 'च' पदसे यह बताया है कि श्रोत्रॄको लाभ मिलता है, वैसे जो पुरुष कानॄके अनुवर्त्ता हैं अर्थात् कर्ण द्वारा सुनते हैं उन पुरुषॄको भी यही लाभ मिलता है.

विद्वानॄने जो अमृतरूप भगवत्कथा प्रारम्भ की हो उसको ध्यानपूर्वक सुनना, यह कानॄका लाभ है. कानॄकेलिए विशेष कहते हैं कि वह कथा किस प्रकारकी हो जिसको श्रोत्र सुनें? इसपर कहते हैं कि कथाकर्ता विद्वान् शास्त्रतत्त्व जाननेवाला हो एवं प्रेमसे उस अमृतरूप भगवत् कथाको कहता हो ऐसी भगवत् कथा सुननी चाहिए, यदि कथाकर्ता शास्त्रतत्त्वज्ञ विद्वान् नहीं है. केवल पल्लवग्राही(अज्ञानी) पण्डित है तो वह सत्य तत्त्व न बताकर अन्यथा बतायेगा अतः ऐसी यदि कथा कोई करे तो वह नहीं सुननी चाहिये. वह अज्ञानी कथाकार जो कहेगा उसमॄ वस्तुतः भगवदीयत्वका अभाव होगा अतः ऐसी भगवत्कथाके श्रवणसे श्रोत्र व्यभिचारी ह्वगे. श्रोत्र व्यभिचारी न होवें इसलिए भगवत्सम्बन्धी पदार्थोंके श्रवणके वास्ते शास्त्रतत्त्वज्ञ विद्वान्, जो कुछ भगवदीय पदार्थों (लीलादि रहस्य)का वर्णन करते हैं वह श्रवण करना चाहिए. वे भी यदि अन्य विषय कहें तो उसको नहीं सुनना चाहिये क्यॄकि उस(अन्य विषय)से प्रयोजन नहीं है. इसको स्पष्ट करते हैं कि 'उपाकृतायां', जिस विषयकेलिए कथा प्रारम्भ की है वह ही अमृत रस पैदा करनेवाली और मृत्यु मिटानेवाली है. वह श्रवण भी दूरसे(बिना मन लगाए) नहीं करना चाहिए, श्रद्धापूर्वक गुरु या कथाकर्ताके सन्निधिमॄ प्रणिपात पूर्वक बैठकर सुननी चाहिए. यॄ श्रवण करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्त होगा. भगवद्गुणॄके सुननेमॄ ''द्रविड़-मण्डक न्याय''[१] नहीं करना चाहिए. इसी तरह गुण श्रवण करना चाहिए जैसे उनकी स्थिति अपने(श्रोताके चित्त)मॄ स्थिर रहे कभी भी उसका विस्मरण नहीं होवे. इस तरह जो श्रवण किया जावे तब कान और पुरुष भगवत्सम्बन्धी हो जावें नहीं तो श्रवण व्यर्थ हो जाय अर्थात् वह काल[२] तथा काकका उपयोगी बने।।३७।।

१.द्रविड़ देशमॄ 'मालपुवे' नहीं बनते हैं वहांका एक पुरुष मध्यप्रदेशमॄ गया. वहां उन्हॄ देखकर पूछने लगा कि ये कैसे खाये जाते हैं, तब उपहास(हंसी मजाक)से उसको किसीने कहा कि पीछेसे हाथको फिराके दो पैरॄके बीच मॄसे 'मालपुआ' मुखमॄ डाल कर खाया जाता है. यह उल्टा क्रम बताया है. प्रकाश.

२.जिस प्रकार काग(कौवे)की बोली कां-कां सुननेसे कुछ समझमृ न आनेसे सुनना और समय व्यर्थ है.

आभासार्थ: थोडा ही कहकर उपसंहार कैसे किया अथवा स्वार्थके लिए कहते हैं याृ कैसे कहा? भगवान्का माहात्म्य जानना चाहिए, पश्चात् उससे भक्ति होती है. भक्तिसे भगवत्सायुज्य प्राप्ति होती है, इस क्रमका त्यागकर वाणीकी शुद्धिकेलिए गुणगान इन्द्रियाृके लाभार्थ श्रवण और कीर्त्तन करना, याृ कैसे कहा? इस शंकाके निवारणार्थ यह श्लोक कहते हैं:

आत्मनोऽवसितो वत्स! महिमा कविनादिना।
संवत्सरसहस्रान्ते धिया योगविपक्वया ।।३८।।

श्लोकार्थ: हे वत्स! आत्माकी महिमा आदि कविने एक सहस्र संवत्सरके बाद योगसे परिपक्व हुई बुद्धिसे जानी है ।।३८ ।।

व्याख्या: आत्मा(भगवान् वासुदेव)की महिमा आदि कवि(ब्रह्मा)ने भी एक सहस्र वर्ष पर्यन्त योग तपस्या की जब वह योग और तप परिपक्व हुए तब उस शुद्ध परिपक्व बुद्धिसे क्या जाना? तब भी नहीं जाना जब ब्रह्माने सहस्र बहुत वर्ष(बहुत समय) तक तप करते हुए भी नहीं जाना तो(जिसकी कथा आगे कही जाएगी) उसे दूसरा कौन जान सकेगा इसलिए ही उस कथाको कहूंगा यह भाव है, अतः इन्द्रिय लाभ ही कहा, भगवद्गुणगानसे क्रमशः समग्र संघात(देहादि) स्वाधीन होता है अर्थात् भगवत्परायण हो जाता है और भगवदीय हो जाता है, जिससे वह सुखपूर्वक साक्षात् वैकुण्ठमृ भगवत्सेवा करनेमृ समर्थ होता है, याृ मैत्रेयजीका सिद्धान्त है. इस पक्षका निराकरण(खण्डन) कर जो अन्यथा कहेगा उसको आगे भ्रान्त कहकर निराकरण किया जाएगा.

'आत्मना' इस शब्दसे यह भाव प्रकट किया है कि वह दुर्लभ नहीं है, क्याृकि आत्मा स्वयं प्रकाश है, आत्मत्वके कारण भी प्रकाशित हो रहा है अथवा 'किम्' शब्दका अध्याहारकर अथवा काकुस्वरकी कल्पनाकर वैसे कहना चाहिए.

अथवा 'ब्रह्मणैव अवसितः', ब्रह्माने ही जाना, उसने जाना जिसका कारण उसको जाननेकेलिए तीन साधन थे १.पहले भगवान् आत्मापनसे प्रकटे २.ब्रह्मा स्वयं आदि कवि हैं क्याृकि वेद उसके भीतर हैं. इससे प्रमाण प्रमेय दोनाृ इस(ब्रह्मा)के सिद्ध हैं. सहस्र वर्ष तप तथा योग साधना करी, यह साधन है तब

फल प्राप्ति उचित है तो भी फल न मिला यह विचारणीय है ।।३८।।

आभासार्थ: ब्रह्माकी कथा कैसी भी हो दूसरे जो भगवान्‌की महिमाके ज्ञानकी प्राप्तिकेलिए प्रयत्न करते हैं और उस(महिमा)के द्वारा भक्तिकेलिए प्रार्थना करते हैं. उनको तो केवल भगवान्‌की मायाने मोहमू डाला है.

यद्यपि(हालांकि) वे दूसरूको मोहमू डालनेकेलिए यू कहते हैं किन्तु भगवान्‌की महती माया ऐसी प्रबल है जो उनको भी मोहमू डाल देती है यू निम्न श्लोकमू कहते हैं:

अतो भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी ।
यत् स्वयं चात्मवर्त्मात्मा न वेद किमुताऽपरे ।।३९।।

श्लोकार्थ: इस कारणसे भगवान्‌की माया, मायावालूको भी मोहमू डाल देती है, कारण कि स्वयं(जीव) आत्मा होते हुए भी अपना मार्ग नहीं जानता है तो दूसरे कैसे जानूगे ।।३९ ।।

व्याख्या: भगवान्‌की महिमा(माहात्म्य) कितनी है जिन्हूने यह जानना चाहा, उनको मोहमू पटका, यह ही भगवान्‌की माया है. यद्यपि वे संसारको व्यामोहमू डाल मोक्षकेलिए प्रवृत्त हुए तो भी उनको मोहमू डाल दिया. जो भगवान्‌के माहात्म्यको जाननेकेलिए प्रवृत्त हुए वे कैसे मोहित होते हैं? इसपर कहते हैं कि 'यत् स्वयं', यह आत्मा भगवान् अपने भी मार्गको स्वयं नहीं जानते हैं तो दूसरे कैसे जानूगे? कारण कि वह जब तक बनाके पूरा करता ही है तब तक वह अदृश्य हो जाता है. कोई भी पथिक, दूर जाने पर अतिक्रान्त(चल कर आए हुए) सर्वमार्गको नहीं देख सकता है तो उसने उस मार्गको अतिक्रान्तही नहीं किया है. बहुत चतुर पुरुष भी पूर्व दिवसमू जैसा कार्य करता है वैसा ही फिर करने या जाननेमू असमर्थ होता है अतः प्रतिक्षण अनेक ब्रह्माण्डूकी रचना करते हुए पहले जिस मार्गसे(प्रकारसे) सृष्टि की अब जब सृष्टि रचनामू तैयार होते हैं अर्थात् सृष्टि रचनाकेलिए तत्पर होते हैं तब उस मार्ग(प्रकार)को आप भी नहीं जानते हैं अतः अन्य प्रकारसे कर डालते हैं, यह उचित है.

दूसरे जो उनके सेवक, ब्रह्माण्डरूप उदुम्बर वृक्षमू मशक(मच्छर)की तरह रहनेवाले अपनी ही गति नहीं जान सकते हैं वे भगवद्‌गति कैसे जान सकूगे? उत्प्रेक्षा तो प्रमाण नहीं है अर्थात् मनकी कल्पनासे भगवन्मार्गका निर्णय प्रमाण नहीं है अथवा भगवन्माहात्म्यके ज्ञानार्थ प्रवृत्त पुरुषको यदि भगवन्मायामोह

करती है तो सत्पुरुषॄका मार्ग ही व्यर्थ हो जाता है, जो सत्परुष नहीं हैं उनको माया मोहमॄ डालती है यह प्रसिद्ध ही है. भगवन्माहात्म्यके जाननेकेलिए प्रवृत्ति(यत्न) करनेपर भी यदि माया मोहमॄ डाले तब तो प्रमाणॄको तिलाञ्जलि दी गई अर्थात् प्रमाण नष्ट हो गए, ऐसी शंका होनेपर कहते हैं कि "**स्वायोग्यम् इच्छन् पुरुषः पतत्येव न संशयः**", अपनी शक्तिसे जो वस्तु न मिलनेवाली है उसको प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला पुरुष गिरेगा ही, इसमॄ संशय नहीं है इस न्यायानुसार मायाका इसमॄ कौन सा दोष है? यॄ कहते हुए माहात्म्य जाननेवालेका स्वरूप बताते हैं ,'यत् स्वयं' जो स्वयं(जीव) आत्मा होते हुए भी, मैं आदिकल्पमें कौन था? यहां तक ऐसी दशाको क्यॄ पहुंचा हूं? इस प्रकार अपनी गतिको नहीं जानता है, जो सर्वज्ञ हैं वे भी तीन वा चार जन्म तक जानते हैं, परस्पर जान लॄगे यह तो दूसरी कथा है. शब्दसे ज्ञान हो जाएगा यह तो अन्धपरम्परा न्यायके तुल्य है, इसलिए वह पूर्ण प्रमाण नहीं है, इस कारणसे हमारा कहा हुआ मार्ग ही उचित है अतः वास्तविक अर्थ यही है, पहले जो कहा वह दूसरॄका मत है. विद्यमान वस्तुका अज्ञान, सर्वज्ञताका अभाव ही प्रतिपादन करता है. सन्देह रहित वेदमॄ भी सन्देह वचन हैं, जो नहीं जानता है यॄ कहा जावे तो उसको कौन जानता है? अतः जो कुछ अपनेलिए भगवत्कीर्तन करनेमॄ उपगोगी है उसको ही लेकर बार-बार गुणगान करते रहना ।।३९।।

आभासार्थः गुणगान भी अशक्य है क्यॄकि वह भी दूसरेकी(गुरुकी) अपेक्षा रखता है इसलिए भगवान्को ही प्रणाम करना चाहिए जिसमॄ किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं है, यॄ निम्न श्लोकमॄ कहते हैं:

यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह।
अहं चाऽन्य इमे देवाः तस्मै भगवते नमः।।४०।।

श्लोकार्थः मन सहित वाणी, अहंकार और अन्य देव न पहुंचकर लौट आते हैं उस भगवान्को नमस्कार है ।।४० ।।

व्याख्याः वाणी और मन जिस भगवान्को न पहुंचकर पीछे लौट आता है और अहङ्कार देव तथा दूसरे वे इन्द्रियॄके अधिष्ठाता देव भी उसको प्राप्त न करके ही लौट आते हैं. यहां वाणी वेदरूप समझनी चाहिए, उनकी भी भगवत्सस्बन्धवाली पूर्व स्थिति मन है. "**यतो वाचो निवर्तन्ते**" इस श्रुतिका भी यह तात्पर्य है कि वाणी जहांसे मन सहित लौट आती है, उसके बाद अहङ्कार

''**अहम् इत्येव आत्मानं वेद भगवान्, सो 'अहं'नामा अभवत्**''. भगवान्ने अपनेको 'अहं' इतना ही जाना वह 'अहं' 'अहङ्कार' शब्दसे प्रसिद्ध हुआ, यों वर्णन किया गया है, वह जगत्कर्ता स्वयं भी आत्माको नहीं जानता है और उसको जगत्की रचनामृ लगाये हुए तत्त्वरूप देव भी नहीं जानते हैं अत: भगवान्के माहात्म्यका ज्ञान दुर्लभ है उसकेलिए प्रयास न कर भगवान्को केवल नमन ही करना चाहिए. इसलिए कहा है ''तस्मै भगवते नमः'', उस भगवान्को नमस्कार है.

यादृशोऽसि हरे! कृष्ण! तादृशाय नमो नमः।
यादृशोऽस्मि हरे! कृष्ण! तादृशं मां हि पालय।।४०।।

हे हरे ! हे कृष्ण ! आप जैसे हैं वैसे आपको वांरवार नमस्कार है . हे हरे ! कृष्ण! मैं जैसा भी हूं वैसे मुझको पाल ।।४०।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके अध्याय ६ की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ७

विदुरजीके प्रश्न

हरेर् इन्द्रियवर्गस्य मनसः सर्ग उच्यते ।
सङ्कल्पेन विकल्पेन द्विधा तद् विनिरूप्यते ।।कारि.१।।

इस अध्यायमृ मन द्वारा हरिकी इन्द्रियाृका निरूपण है, वह निरूपण सङ्कल्प और विकल्पसे दो प्रकारका कहनेमृ आया है।।१।।

सङ्कल्पो निश्चयः प्रोक्तः स च सन्देहपूर्वकः ।
अन्यथा ज्ञानमेव स्यात् तदर्थं प्रथमो द्विधा ।।कारि.२।।
विकल्पो विविधः पक्षः ते प्रश्ना इह रूपिताः ।

सन्देहके अनन्तर जो निश्चय होता है उसको यहां सङ्कल्प कहा गया है. यदि याृ वैसा सङ्कल्प न होवे तो वह ज्ञान ही कहा जाय, इसलिए सङ्कल्प दो प्रकारका कहा है. विकल्पका तात्पर्य है अनेक प्रकारके पक्ष अर्थात् विचार. विविध विचारके प्रश्न यहां किये गए हैं।।२।।

अत्र सर्वाणि कार्याणि पृष्टानि भगवत्कृतिम् ।
ज्ञातुं सा मनसा भाव्या पूर्वं चाऽपि कृतौ मनः ।।कारि.३।।

कारिकार्थः यहां भगवत्कृतिको जाननेकेलिए सर्व कार्य पूछे गए हैं वह पहले मनसे विचारना चाहिए और फिर उसमृ(कृतिमृ) मनको लगाना चाहिए ।।३।।

[1](श्रीशुकः उवाच
एवं ब्रुवाणं मैत्रेयं द्वैपायनसुतो बुधः।
प्रीणयन्निव भारत्या विदुरः प्रत्यभाषत।।१।।)

श्लोकार्थः शुकदेवजीने कहा. इस प्रकार कहनेवाले मैत्रेयको द्वैपायनका ज्ञानी पुत्र विदुर वाणीसे मानो प्रसन्न करता हो वैसे कहने लगा।।१।।

गद्यार्थः इस प्रकार पूर्व ६ अध्यायाृके अन्तमृ ''उद्धृत्य पुष्पेभ्यः'' इस प्रकारके प्रश्नके उत्तरमृ कहा है कि अपनी बुद्धिसे जो भी सार ले सका उतना कहा. वहां यह कारण बताया है कि जब आत्मा भी अपना मार्ग नहीं जानता है, इस वचनसे भगवान्मृ अलौकिक सामर्थ्य है. यह बहुत करके इसको(मैत्रेयको) पसन्द नहीं है. इसी अभिप्राय(मैत्रेयके अभिप्राय)के कारण ही जीव एवं भगवान्मृ

सन्देह होनेसे दो अर्थ(विषय) पूछता है, उसमृ पहले भगवान्मृ चार सन्देह और जीवमृ दो सन्देह पूछता है ।।१।।

१. यह श्लोक क्षेपक(पीछे जोडा हुआ) सा दीखता है, क्यृकि आचार्यश्रीकी इसपर टीका ही नहीं है.

विदुरः उवाच

ब्रह्मन्! कथं भगवतः चिन्मात्रस्याऽविकारिणः ।
लीलया चाऽपि युज्येरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः।।१।।

श्लोकार्थः विदुरजीने कहा हे ब्रह्मन्! अविकारी और निर्गुण तथा केवल चेतनरूप भगवान्मृ लीलासे भी गुण तथा क्रियाआृका होना कैसे हो सकते हैं ।।१ ।।

व्याख्याः करणादि (इन्द्रियां, देवता और गोलकादि)का व्यापार (जानना, देखना, सुनना आदि) आपने एक प्रकारके ही कहे हैं, वे गुणातीत ही हैं यृा नहीं कहा जा सकता है, यदि कहो कि सगुण हैं तो कार्य और कारणकी विलक्षणता है. ब्रह्मन्! यह सम्बोधन इसलिए मैत्रेयजीको दिया है कि निश्चित ज्ञान होनेपर ब्रह्म भाव होता है, वह(ज्ञान) आपमृ निश्चयरूपसे है ही, किन्तु मैं ज्ञान प्राप्तिकेलिये ही पूछता हूं, उद्धत होकर नहीं पूछता हूं. इस सम्बोधनसे विदुरजीने अपनी नम्रता भी प्रकट की है.

'कथं' पद प्रश्नका प्रकार बताता है. 'भगवतः चिन्मात्रस्य', यहां 'भगवन्' शब्द यौगिक नहीं है, किन्तु रूढ़िसे ब्रह्मपर है और वह चेतन मात्र है. अतः इस स्वरूपमृ [१]धर्म, [२]शक्ति, [३]विशेष और [४]स्वरूपका अभाव है. वाच्य(अर्थ) और वाचक(शब्द)का भी सम्बन्ध नहीं और अवर्णनीय हैं. ऐसे चेतनमात्र जगत्कर्ता कैसे होगा? कर्तृत्व आदि धर्म तो विकारी होते हैं, अतः अविकारी भगवान्मृ प्रयोजन सम्बन्धी भी कोई सन्देह नहीं है और पूर्वपक्षका भी अभाव है, ऐसी दशामृ निर्गुणमृ गुण और क्रियाएं कैसे हो सकती हैं? इस प्रकार बीजमृ सन्देह है, क्यृकि कार्य, बीज और प्रयोजनके बिना नहीं होता है. इन दोनृामृसे जगत्मृ प्रयोजन तो भगवान्का कुछ भी नहीं है, स्वयं स्वतः परमानन्द हैं. "**लोकवत्तु लीला कैवल्यम्**" इस न्यायानुसार प्रयोजन न होते हुए भी लीलार्थ किया है. यदि यृा कहो तो लीला भी नहीं बन सकती है, यृा आगे कहृगे अथवा लीला होवे तो भी भगवान् जगत्का बीज है यह बन नहीं सकता है, क्यृकि जगत् और भगवान्मृ विलक्षणता है, जैसे

कि जगत् अचेतन(जड़) विकारी और नानारूप वाला है, भगवान् तो चेतनमात्र तथा अविकारी हैं, और विशेषमृ जगत् सगुण है और भगवान् निर्गुण हैं, इसी कारणसे कार्य और कारणमृ विलक्षणता है जिससे जगत् भगवान्का कार्य नहीं है.

यद्यपि(हालांकि) चिन्तामणिसे जो कुछ उत्पन्न होता है वह समस्त उससे विलक्षण ही है, तो भी पूर्वपक्षीके मतानुसार केवल चिन्तामणिसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है, यदि केवल उससे उत्पन्न होता हो तो सर्वदा ही पैदा होना चाहिये वह नहीं होता है किन्तु जब कोई कामनावाला मनमृ किसी कामनाकी जैसी-जैसी चिन्ता करता है घट वा पट आदिकी, वैसे मणिके सान्निध्यसे वे मनसे भावित(चाहे हुए) पदार्थ कार्यरूपमृ आते हैं, यह उसकी अलौकिक शक्ति है. भगवान्के यहां तो अन्यथा सान्निध्य होनेसे चिन्तामणिवत् कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती है, इसलिए कहा है 'चिन्मात्रस्य', कि वह केवल चेतन स्वरूप है।।१।।

१.'धर्म' अर्थात् स्वयं असत् जैसा होना (मानना). २.'शक्ति' अर्थात् कालादिरूप माया. ३.'विशेष' अर्थात् आकार आदि दूसरेसे भेद बतानेवाले खास गुण. ४.'स्वरूप' अर्थात् देह.

आभासार्थः इस प्रकार बीजभावको दूषितकर फलभावको प्राप्त लीलाको दूषित करते हैं:

क्रीडायाम् उद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषाऽन्यतः ।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदाऽन्यतः ।।२।।

श्लोकार्थः बालक कामना और अन्यसे क्रीडा करनेकी इच्छा करता है, जो स्वतः तृप्त है और सदैव अन्यसे निवृत्त है अर्थात् जिसको दूसरेसे किसी प्रकारका सम्बन्ध ही नहीं है उसको खेलनेकी इच्छा कैसे हुई होगी ।।२ ।।

व्याख्याः लीला किसे कहते हैं? इस प्रश्नके उत्तरमृ कहते हैं विलास करनेकी इच्छाको लीला कहते हैं. वह कृति, बिना प्रयोजनके की जाती है. ऐसी कृतिसे बाहर कार्य उत्पन्न नहीं होता है, यदि उत्पन्न भी हो जावे तो वह अभिप्रेत नहीं है. यह कृति(लीला होनेसे) उत्पन्न होनेमृ कर्ताको श्रम नहीं कराती है किन्तु अन्तःकरणमृ पूर्ण आनन्द होनेपर उसके उल्लाससे कार्यको उत्पन्न करनेके समान कोई क्रियाशक्ति उत्पन्न होती है जिसको 'लीला' कहते है. जैसे लोकमृ राजाको खेल करनेकी इच्छा होती है. इस प्रकारकी क्रिया होनी भी भगवान्मृ नहीं बनती है. उसमृ प्रयोजनके अभाव होनेपर भी कोई कारण है और वह कारण लोकसिद्ध

हो ऐसा कहना चाहिए क्यूंकि लोकन्यायसे लीलाका निरूपण करते हो और प्रसिद्ध है कि वह लीला बालक करते हैं, बालक भी तभी रमण करते हैं जब उनको मनमूं कामना होती है, नहीं तो सदैव क्रीड़ा करनेकी इच्छा होती रहे व सदा क्रीड़ा करते रहूं. उस कामनाका भी अवश्य कोई हेतु होगा? नहीं तो कामना सर्वदा होती रहे. उसका वर्णन करते हैं कि, बालक पहले क्रीड़ाका उद्यम करता है, वह उद्यम बालक तब करता है जब उसके मनमूं क्रीड़ाकी कामना उत्पन्न होती है, इस विषयके सम्बन्धकी वाक्य रचना इस प्रकार है. पहले बालकको वासनासे कामना उत्पन्न होती है. जैसा कि भगवती श्रुति "**काममयएव अयं पुरुषः**" कहती है कि यह पुरुष कामनासे पूर्ण है. वासनासे कामनाकी उत्पत्ति होनेके अनन्तर दूसरेके साथ खेलनेकी इच्छा करता है. क्यूंकि एक(अकेला) क्रीड़ा कर नहीं सकता है. अतः दूसरे बालकको निमित्त बनाकर खेलता है. यदि दूसरा बालक न होवे तो कामना होते हुए भी क्रीड़ा करनेकी इच्छा पूर्ण नहीं होती है. कामनाका आशय है कि क्रीडा करनेका ज्ञान(विचार) उत्पन्न होना, क्रीड़ा फलरूप है तथा साधनरूप भी है, अत: काम और प्रयत्न एक ही विषय हैं, किन्तु स्वर्ग आदिमूं यूं नहीं है. वहां साधन और फल पृथक् हैं. जैसाकि कामना स्वर्ग प्राप्तिकी होती है वह फल है और उसकी प्राप्तिकेलिये यज्ञ करनेकी कामना होती है, क्यूंकि यज्ञ साधन है. बिना साधन करनेके स्वर्गरूप फल प्राप्त नहीं होगा. इसलिये यहां पुनरुक्ति(दोहराने)का दोष नहीं है.

उसके बाद क्रीड़ाकेलिए उद्यम होता है अर्थात् क्रीड़ा करनेकेलिए तैयार होता है. कितनेक कहते हैं कि 'उद्यम' कामका ही विशेषण है. जो उद्यम कराता है वह उद्यम है, अर्थात् काम ही उद्यम कराता है, अतः काम ही उद्यम है. जिससे ही दूसरेके साथ खेलनेकी इच्छा होती है. यह पक्ष विचारणीय है. इस प्रकारका पक्ष(विचार) भगवान्मूं नहीं बन सकता है. जो स्वतः तृप्त है, उसको किसीकी भी कामना नहीं होती है. कामना उसको होती है जो अपूर्ण होता है अर्थात् जो तृप्त नहीं है, नहीं तो फल प्राप्त होते हुए भी काम होना चाहिए. जो सदैव तृप्त हैं, जो सबकेलिए स्वयं फलरूप हैं, जिसको सर्व फल प्राप्त ही हैं, उसको किसी प्रकारकी कामना नहीं होती है, यह लोकसिद्ध है. यदि प्रकार भेदसे ही भगवान्के कामकी तृप्ति होती है तो भगवान्को अतृप्त मानना पड़ेगा, यदि कहो कि भगवान् अपनेलिए ही करते हैं. इसलिए इस प्रकारकी तृप्ति दूषण नहीं है तो भगवान्का

आनन्द सीमित मानना पड़ेगा, जो अनुचित है. इसलिए तर्कसे भगवान्के कामका निरूपण करना अशक्य है. ''**सो अकामयत**'' यह श्रुति अन्य (जीव व सगुण ब्रह्म)केलिए है, न कि निर्गुण परब्रह्मकेलिए है. यदि काम नित्य है तो कार्य सदैव होना चाहिये. यदि कहो कि 'कार्य' उत्पन्न होनेवाली वस्तु है, तो उस समय उत्पन्न करनेवाला अन्य कोई न होनेसे उत्पत्ति नहीं हो सकती है. यदि कहो कि कालादि भगवान्के कामको जाग्रत करते हैं, तो ऐसा माननेसे भगवान्का कालादिसे सम्बन्ध मानना पड़ेगा, वह तो है ही नहीं. जैसाकि कहा है, ''निवृत्तस्य सदाऽन्यत इति''. सदा अन्यसम्बन्धसे निवृत्त है. अतः बीजके प्रयोजन(सम्बन्ध) न होनेसे कार्यपक्ष उचित नहीं है ।।२।।

आभासार्थ: यद्यपि मायासे यह सब हुआ है, इस सिद्धान्तके स्वीकार करनेसे पूर्व कहे हुए सर्व दूषणोंकी निवृत्ति हो जाती है, किन्तु वह सिद्धान्त स्वीकार करना भी अशक्य है, क्योंकि भगवान्का मायासे सम्बन्ध है, यों निरूपण करना अशक्य है, कारण कि माया अज्ञानरूप है, वह तब होती है जब ज्ञानका अभाव होवे. यहां भगवान् तो स्वयं ज्ञानरूप हैं, यों निम्न श्लोकमें कहते हैं:

अस्राक्षीद् भगवान् विश्वं गुणमय्यात्ममायया ।
तया संस्थापयत्येतद् भूयः प्रत्यपिधास्यति ।।३।।

श्लोकार्थ: भगवान्ने गुणोंवाली अपनी मायासे इस जगत्को रचा, उससे उनकी स्थापना(रक्षा) करते हैं और फिर लय भी इससे ही करेंगे ।।३ ।।

व्याख्या: मायाको चैतन्यके सम्बन्धवाली जो मानता है उसका यह प्रश्न है. भगवान्ने गुणोंमें पूर्ण अपनी मायासे यह विश्व बनाया, उससे ही इसका पालन करते हैं और फिर लय भी उससे ही करेंगे ।।३।।

आभासार्थ: इस प्रकार भगवान्ने विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मायासे की है. इस मतको कहकर अब निम्न श्लोकमें कहते हैं कि भगवान् पूर्ण ज्ञान स्वरूप होनेसे मायासे सम्बन्धवाले हो नहीं सकते हैं:

देशतः कालतो योऽसौ अवस्थातः स्वतोऽन्यतः ।
अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताऽजया कथम् ?।।४।।

श्लोकार्थ: जिस आत्माका देशसे, कालसे, अवस्थासे, अपनेसे अथवा दूसरेसे नाश नहीं हो सकता है, उसका मायासे सम्बन्ध कैसे होगा ? ।।४ ।।

व्याख्या: ज्ञानका नाश पांच प्रकारसे हो सकता है. भगवान्का तो इन

पांच प्रकारसे भी ज्ञान, नाश नहीं हो सकता है, क्यूंकि भगवान् ज्ञानस्वरूप हैं जिससे वे पांच, इनके ज्ञानका नाश नहीं कर सकते हैं, अतः ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माका मायासे सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

१.इस तरह जो ज्ञानके नाशक पांच प्रकारके हैं, उनमूसे किसीका ज्ञान, देश सीमित होनेसे नाश होता है अर्थात् उसका ज्ञान अन्यत्र काम नहीं देता है. जैसा कि घड़ेका ज्ञान घड़ेसे परिच्छिन्न(सीमित) होनेसे पट(वस्त्र)को जान नहीं सकता है. कारण कि ज्ञान घट(देश) सीमित है.

२.कालसे भी ज्ञानका नाश होता है, क्यूंकि कालान्तरमूं वह ज्ञान विस्मृत(भूल) हो जाता है.

३.अवस्थासे भी ज्ञानका नाश होता है. जैसे कि स्वप्नावस्थामूं जाग्रतावस्थाका ज्ञान नहीं रहता है.

४.ज्ञानका स्वतः भी नाश हो जाता है, कारण कि अनासक्तिसे उत्पन्न ज्ञानके संस्कार स्थिर नहीं होते हैं, जिससे उसका स्वतः नाश हो जाता है.

५.दूसरेसे भी ज्ञानका नाश हो जाता है, जैसा कि विरोधी गुणूंके उत्पन्न होनेसे पहले गुणूंका ज्ञान नष्ट हो जाता है.

भगवान्के ज्ञानको ये पांच ही दोष स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं, कारण कि भगवान्को सर्व विषयूंका ज्ञान है, जिससे वह देशसे परिच्छिन्न(सीमित) नहीं हो सकता है. भगवान्का ज्ञान नित्य है, अतः कालसे परिच्छिन्न न होनेसे कालान्तरमूं नाश नहीं हो सकता है. भगवान्मूं अवस्थाका अभाव है, जिससे अवस्थासे भी ज्ञानका नाश नहीं, अविकारी होनेसे भगवान्का ज्ञान स्वत: भी नष्ट नहीं होता है. भगवान्मूं विरोधी गुणूंका प्रादुर्भाव न होनेसे उनका ज्ञान दूसरे विरोधी गुणूंसे नष्ट नहीं होता है. अतः भगवान् माया व प्रकृतिसे सम्बन्धित नहीं हो सकते हैं, इस कारणसे स्वतः वा माया सम्बन्धसे भगवान् जगत्की रचना करते हैं, यह पक्ष बन नहीं सकता है ।।४।।

आभासार्थ: किन्तु जीव भी भगवान् ही हैं, यूं आपने निरूपण किया है. यदि यूं है(जीव भगवान् हैं) तो उसकेलिए यदि जगत्की रचना की है तो उसमूं जीवका हित न हो, ये छः दोष होते हैं, जिसका वर्णन निम्न श्लोकमूं कहते हैं:

भगवान् एक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः।
अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा जन्मभिः कुतः?।।५।।

श्लोकार्थः यह एक ही भगवान् जो सकल क्षेत्रॄ(देहॄ)मॄ रहते हैं, वैसे वा दुर्भगत्व अथवा जन्मॄसे दुःख कैसे होगा? ।।५।।

व्याख्याः एक ही भगवान् सर्व देहॄमॄ रहे हुए हैं अथवा (सर्व देहॄमॄ रहा हुआ है), एक ही है, ऐसेको दुर्भगत्व अथवा जन्मॄसे क्लेश कैसे होगा? अर्थात् नहीं होगा. क्लेशका होना अनुभवसे सिद्ध ही है . यदि दुःख अज्ञानसे होता है, यॄ स्वीकार किया जावे तो भी वह(अज्ञानका सम्बन्ध) ही दोष आता है. भगवान् बार-बार जन्म लेते हैं, यॄ सुननेमॄ आता है. इससे भगवान् जीवके समान हैं, ऐसा मानना भी अनुचित है और जगत्के कर्ता हैं, यह भी युक्त नहीं है ।।५।।

आभासार्थः इस प्रकारके अर्थ(विषय)मॄ मेरा मन खेद पाता है. यह इस श्लोकमॄ कहते हैं:

एतस्मिन् मे मनो विद्वन् खिद्यते ज्ञानसङ्कटे ।
तन्नः पराणुद विभो! कश्मलं मानसं महत् ।।६।।

श्लोकार्थः हे विद्वन्! इस प्रकारके ज्ञानसंकटमॄ(ज्ञान विषयक शंकाओॄ की निवृत्ति न होनेसे) मेरा मन खेद पा रहा है, अतः इस मेरे महान् मानसीके क्लेशका नाश कीजिए, आप इस क्लेशको मिटानेमॄ समर्थ हैं ।।६।।

व्याख्याः 'ज्ञान सङ्कट'का तात्पर्य है कि केवल शब्दसे जो ज्ञान होता है वह समझनेमॄ नहीं आता, जिससे मनमॄ खेद हो रहा है, समझनेमॄ क्यॄ नहीं आता है? क्यॄकि अनेक प्रकारके तर्क हैं, जिनका ज्ञान नहीं है, जिससे ज्ञान बढ़ नहीं सकता है. यह तर्कका अभाव ही ज्ञानके समझनेमॄ सङ्कट है अथवा तर्कादि अभावसे अन्यथा ज्ञान होना सङ्कट है. इस विषयके निर्णय करनेमॄ प्रवृत्तमन, तर्काभाव और प्रसाराणाभावसे खेदको प्राप्त होता है, हमारे मनमॄ वर्तमान उस खेदको तर्कोंसे दूर करो. यदि कहो कि यह खेद भले ही होता रहे. इसपर कहता है कि यह खेद सह्य नहीं है, क्यॄकि यह महान् मनका खेद है. ऐसे उस महान् खेदको महत्पुरुषॄको दूर ही करना चाहिए, जो दूर न किया जायेगा तो आगे कहा हुआ ज्ञान और जो अब कहोगे वह ज्ञान इस दुष्ट मनमॄ न रह सकेगा. अतः जो विषय निरूपण करना है उसका ज्ञान हो जावे तदर्थ इस संकटको दूर करिए ।।६।।

प्रकाशः इन छः श्लोकॄमॄ सिद्ध किये अर्थको कारिकाओॄ द्वारा कहते हैं:

ऐश्वर्यं प्रथमे त्यक्तं द्वितीये वीर्यमेव च ।
यशःश्रियौ तथा द्वाभ्यां वैराग्यं ज्ञानम् अन्त्ययोः।।कारि.१।।

स्वयुक्त्या भ्रमसम्पत्या भगवत्वं निराकृतम् ।
ततोऽत्र भगवद्वादः सर्गेऽपि विनिराकृतः।।कारि.२।।
तस्मिन् निराकृते प्रश्नो न पूरित इति स्थितम् ।
अतस्तस्योत्तरं वाच्यं स्वोक्तार्थस्थापनाय हि ।।कारि.३।। ।।६।।

कारिकार्थः प्रथम श्लोकमॄ ऐश्वर्यका त्याग किया, दूसरे श्लोकमॄ वीर्यका त्याग किया, वैसे ही ३ -४ इन श्लोकोंसे यश और श्रीका त्याग किया, ५ -६ इन दो अन्तिम श्लोकॄसे वैराग्य और ज्ञानका त्याग किया ।।१ ।।

कारिकार्थः विदुरको अपने कल्पित तर्कोंसे भ्रम उत्पन्न हो गया जिससे भगवत्त्वका भी खण्डन किया. इससे यहां सृष्टि प्रकरणमॄ भी भगवद्वादका विशेष प्रकारसे खण्डन हो गया ।।२ ।।

कारिकार्थः इस प्रकार खण्डन होते हुए भी प्रश्नका उत्तर पूर्णतया न मिला[१] ऐसी स्थिति होनेपर अपने कहे हुए अर्थको सिद्ध करनेकेलिए, इसका वास्तविक उत्तर कहना ही चाहिए ।।३ ।।

१.विदुरने ६ श्लोकॄमॄ अपनेको ज्ञान नहीं है यॄ कहा, ५श्लोकॄमॄ भगवान् सर्व देहॄमॄ रहते हैं जिससे विदुरके देहमॄ भी भगवान् रहते हैं. अतः इन(भगवान्)को भी ज्ञान नहीं है ऐसा भाव प्रकट होता है इस प्रकार ज्ञानका त्याग हुआ.'प्रकाश'.

आभासार्थः जिसको किसीकी भी अपेक्षा(आवश्यकता) नहीं है वैसे मैत्रेयजीने, यह उपदेश दिया कि चित्तकी शुद्धिकेलिए जो मैंने कहा उसका बार-बार रटन करते रहो, अनन्तर विदुरने पूर्वपक्ष किया, जिसका उत्तर मैत्रेयजी दॄगे कि नहीं, इस सन्देहका निवारण करनेकेलिए शुकदेवजीको निम्न श्लोकमॄ मैत्रेयजी उत्तर दॄगे इस कथनका हेतु सहित प्रतिपादन करते हैं:

श्रीशुकः उवाच
स इत्थं चोदितः क्षत्त्रा तत्त्वजिज्ञासुना मुनिः ।
प्रत्याह भगवच्चित्तः स्मयन्निव गतस्मयः ।।७।।

श्लोकार्थः श्रीशुकदेवजीने कहा तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले संयमी (विदुरजी)ने इस प्रकार मुनि(मैत्रेयजी)को जब प्रेरणा की तब भगवान्मॄ स्थिर चित्तवाले गर्वरहित, मैत्रेयजी जिनको किसी प्रकार भी विदुरजीके प्रश्नॄ (पूर्वपक्ष) से आश्चर्य न हुआ है वैसे वे(मैत्रेयजी) मुस्कुराते हुए उत्तर देने लगे ।।७ ।।

व्याख्याः विदुरजी प्रेरक हुए, क्यॄकि एक तो भगवदीय थे दूसरी

भगवदाज्ञा भी प्रेरकत्वमॄ सहायक हो गई और मैत्रेयजी भी भगवदीय थे, अतः उसमॄ भगवदाज्ञाने उत्तर देनेकी इच्छा प्रकट की. 'क्षत्रा' पदसे यह सूचित किया है कि विदुरजी निपुण होनेसे उनमॄ स्वतः भी प्रेरकत्व था एवं विदुरजी तत्त्व जाननेकी इच्छावाले थे न कि ऊपर-ऊपरकी बातॄ जानना चाहते थे. अतः ऐसे तत्त्व जिज्ञासुको तत्त्वोपदेश करना ही चाहिए और विशेषता यह है कि मैत्रेयजी मुनि होनेसे निश्चित् तत्त्वको जानते हैं एवं भावी अर्थके भी ज्ञाता हैं.

'भगवच्चित्तः' पद देनेका आशय यह है कि, भगवदाज्ञाका पूर्णत: पालन तब होगा जब दोषॄका भी समाधान किया जायेगा. अतः मैत्रेयजी भगवदाज्ञाके पूर्णतया पालनकेलिए दोषॄका भी समाधान करॄगे अथवा 'भगवचित्तः' पदसे यह बताया है कि भगवान् मैत्रेयजीके चित्तमॄ निर्धारित तत्त्वका बोध करावॄ(करायॄगे) अथवा मैत्रेयजीको कुछ उत्तर दॄगे वह पहले भगवान्की प्रार्थनाकर पीछे दॄगे. 'स्मयन्निव' कहनेका भाव यह है कि इतने समय तक भारत आदिशास्त्र सुने, समझे फिर भी ऐसे प्रश्न? इसलिए उत्तर देनेसे प्रथम मानो मुस्कराते हुए कहने लगे. 'इव'का भाव है. यह मुस्कराहट भगवान्के मायारूप होनेसे मोहक है, मैत्रेयजी गर्वरहित हैं, अत: यह गूढ़रीतिसे कहॄगे क्योंकि विदुरजी तत्त्व सुननेके अधिकारी नहीं हैं इसलिए अज्ञानके कारण फिर प्रश्न करॄ तो मौन धारण करना पड़ेगा, इस विषयका समाधान निबन्धमॄ स्पष्ट है. अतः यहां वे कारिकाएं देकर उस अर्थको कहते हैं:

गुणातीतात् सृष्टिकथा सर्वथा नोपपद्यते।
कार्यकारणवैजात्याद् लोकहेतोर् अभावतः।।कारि.१।।

कारिकार्थ: कार्य(जगत्) और कारण(ब्रह्म) दोनॄ विलक्षण(पृथक् प्रकारके) हैं और लोक समान हेतु(काम)का भी अभाव है, अतः गुणातीत (निर्गुण) ब्रह्म सृष्टिकी उत्पत्ति सर्वथा नहीं बनती है।।१।।

निरूपाधिकरूपे हि सन्देहद्वयम् ईरितम्।
सोपाधित्वे परीहारः तदेव न भवेद् इति।।कारि.२।।
तृतीयो ब्रह्मणः सिद्धो जीवेऽप्येवम् अभेदतः।
मायासम्बन्धकार्ये हि परिहार्ये तयोः क्रमात्।।कारि.३।।

कारिकार्थ: इस प्रकार निरूपाधिकरूप(निर्गुण) ब्रह्मसे जगत् होनेमॄ दो सन्देह विदुरने कहे हैं, उन सन्देहॄका परिहार विदुरने ब्रह्मको सोपाधिक(उपाधि

सहित) कहकर किया है अर्थात् विदुरका कहना है कि सगुण(मायिक) ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति माननेसे ये सन्देह नहीं रहते हैं. इसपर सिद्धान्ती कहता है कि ब्रह्म सोपाधिक(मायिक) हो नहीं सकता है, मायिक माननेसे ब्रह्ममृ यह तीसरा दोष सिद्ध होता है जिस दोषका परिहार हो नहीं सकता है ।।२-३।।

प्रथमस्य परीहारः षष्ठ्या नित्यतयोदितः ।
भगवत्वाविरोधित्वं प्रकृत्यैव च सूचितम् ।।कारि.४।।

कारिकार्थ: जीवका ब्रह्मसे अभेद है अतः उसमृ भी वहां सन्देह होता है. इस सन्देहका अर्थात् ब्रह्म तथा जीव स्वरूपमृ मायाके सम्बन्ध और मायाके कार्यका क्रमशः परिहार करना ही है, प्रथम सन्देहका निरास आठवृ श्लोकमृ छठी विभक्तिसे याृ कहकर किया है कि मायाका ब्रह्मसे नित्य सम्बन्ध है ।।४ ।।

असमासात् प्रधानत्वं तेन नोपाधिसम्भवः ।
द्वितीयस्य परीहारे विरोधात् कार्यबाधनम् ।।कारि.५।।

कारिकार्थ: पांचवी कारिकामृ यदि मायाका भगवान्से नित्य सम्बन्ध माना जाएगा तो भगवान्के गुणातीतत्वकी हानि होगी, इस शंकाका परिहार करते हुए कहते हैं कि यहां 'भगवान्' पद देनेसे ही कहा है कि नित्य सम्बन्ध होते हुए भी गुणातीतत्वका विरोध नहीं होता है, क्याृकि षष्ठीसे सम्बन्ध दिखाकर यह सिद्ध किया है कि प्रकृतिकी महत्ता नहीं है. एवं समास न करनेसे भगवान्की मुख्यता दिखाई है, तथा इससे यह भी सूचित किया है कि माया भगवान्का गुण नहीं है, किन्तु आज्ञानुसार कार्य करनेवाली एक दासी है, जैसे दासी पृथक् रहकर आज्ञानुवर्त्तिनी हो सर्व कार्य करती है, वैसे माया भी करती है अतः माया किसी प्रकार भगवान्की उपाधि नहीं है. जैसे आकाशस्थ सूर्यका दूरसे ही अनेक वर्ण दर्पण, जलादिसे सम्बन्ध किरणृ द्वारा नाना प्रकारका प्रकाश होता है, वैसे ही ब्रह्मका भी मायासे दूरसे ही नित्य सम्बन्ध रहनेसे शुद्धब्रह्म द्वारा माया सम्बन्ध स्वविलक्षण जगत् उत्पन्न होता है, जिससे शुद्धब्रह्म ही जगत्का उपादान होते हुए भी अविकारी रहता है, अतः ब्रह्म मायिक नहीं है इत्यादिका भी परिहार हो गया ।।५।।

अब दूसरे सन्देह(ब्रह्मविषयक कर्तृत्व सन्देह और जीव विषयक दुर्भगत्व आदि सन्देह)का कैसे परिहार होगा? जिनका उत्तर 'द्वितीयस्य परिहारे' आदि कारिका द्वारा देते हैं :

विरोधमात्रम् आहोस्विद् आद्ये सेयं दृशिर् यतः ।

द्वितीये भूषणं तस्या विरोधो न तु दूषणम् ।।कारि.६।।
विरुद्धकार्यसम्बन्धस् तत्कृतस्तेन वर्ण्यते ।
विरोधोऽपि प्रतीत्यैव न वस्तुनियतो बृहत् ।।कारि.७।।

कारिकार्थ: दूसरे सन्देहका निरास करते हुए पूछते हैं कि विरोधके कारण कार्य नहीं होता है? अथवा केवल विरोध ही है? प्रथम पक्ष(कार्य नहीं होता) याॅ कहना वृथा है, क्याॅकि वह दुर्भगत्वादि कार्य तो प्रत्यक्ष देखनेमॅ आ रहा है. दूसरा पक्ष केवल विरोध है तो वह मायाका भूषण है, न कि दूषण है ।।६ ।।

कारिकार्थ: इस कारणसे मायाकृत विरुद्ध कार्योंके सम्बन्धका वर्णन नहीं किया जाता है, यह विरोध भी केवल प्रतीति मात्र है, वस्तु अर्थात् जीवमॅ नहीं है, क्याॅकि वह बृहत्(अक्षरब्रह्मस्वरूप) है ।।७ ।।

ऐसे निबन्धमॅ ७ कारिकाओंसे विदुरके सन्देहोंका निराकरण किया:

अवतरणिका: इसी तरह दोनोंका आशय निरूपणकर विशेष प्रकारसे स्पष्टता न करते हुए कहते हैं कि जब अन्तमॅ 'ब्रह्म' पदसे ही सिद्ध हो जानेमॅ ही आत्मवाद सिद्धान्तकी रीतिसे मैत्रेयजीने विदुरके प्रश्नोंका समाधान क्याॅ नहीं किया? ऐसी आकांक्षामॅ उसका तात्पर्य 'अत्र' आदिसे कहते हैं:

आभासार्थ: इस विषयके पूर्वपक्षका समाधान ब्रह्मवादमॅ स्पष्टरीतिसे "**दृश्यतेतु**"(ब्रह्म.सू.२ ।१ ।६)मॅ इस अधिकरण द्वारा किया गया है. भगवान् जो कुछ करते हैं वह अविकारी रहते हुए ही करते हैं, क्याॅकि भगवत्स्वरूप ऐसी ही शक्तिवाला है, यह श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध ही है, श्रुतिके अनुसार जैसे हैं ऐसा अंगीकार करनेसे सर्व प्रकार समाधान हो जाता है. इस कारणसे भगवान्के सम्बन्धमॅ मायादिकी कल्पना नहीं करनी चाहिए.

यदि माया द्वारा अनुपपत्तिका परिहार किया जाता है, वह भी स्वरूपसे ही किया जाता है याॅ करनेसे ही श्रोतार्थता अर्थात् श्रोतसिद्धान्तकी सार्थकता होती है, याॅ न माना जावेगा तो सिद्धान्त अप्रामाणिक होगा, क्याॅकि वह सिद्धान्त अपना कपोल कल्पित(मनघडन्त) है, याॅ कहा जाएगा.

श्रुतिसिद्ध ब्रह्मवाद जो द्विज नहीं हैं, उसको कभी भी नहीं कहना चाहिए, क्याॅकि "**दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः**", ब्राह्मणवर्ण देवका है. "**असुर्यः शूद्रः**", शूद्र आसुरी है. "**मायेत्यसुराः**", माया असुर है. अतः ब्रह्मवाद श्रवणके योग्य द्विजके सिवाय नहीं हैं. प्रारम्भ करनेके समय भी मैत्रेयजीने कहा है कि तुम्हॅ योगमायाके

सम्बन्धवाली लीलाएं कहूंगा. इसलिए यहां भी विदुरके प्रश्नका समाधान मायासे ही करते हैं : ''सेयं भगवतो माया'' इति.

मैत्रेयः उवाच

सेयं भगवतो माया यद् नयेन विरुद्ध्यते ।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यम् उत बन्धनम् ।।८।।

श्लोकार्थः मैत्रेयजी कहते हैं यह वही भगवान्की माया है जिससे विमुक्त ईश्वरका कृपणत्व तथा बन्धन होता है, यह कार्य न्यायसे विरुद्ध है ।।८ ।।

कार्यकारणवैजात्यं मायययैव समाहितम् ।
क्षणमध्ये तया सर्वम् अन्यथैवाऽन्यथा भवेत् ।
तादृश्येव हि सा शक्तिः स्वीकर्तव्याऽन्यथा न सा ।।कारि.१।।
क्रीडासृष्टिस्तथा ज्ञानं ज्ञानेऽप्यज्ञानसम्भवः ।
अभेदेऽपि यथा जीवः तथा मायैव सा तथा ।।कारि.२।।

कारिकार्थः कार्य तथा कारण दोनू विलक्षण है इस शंकाका समाधान मायासे ही किया गया है, कारण कि मायामू ही शक्ति है जो एक क्षणमू ही सर्वको जुदे-जुदे प्रकारमू बदल देती है[१]. यह माया शक्ति ऐसी ही शक्तिमती है यू स्वीकार करना चाहिए, वह दूसरे प्रकारकी नहीं है ।।१ ।।

कारिकार्थः यदि माया ऐसी न मानी जाएगी तो क्रीडार्थ रची हुई सृष्टि[२] तथा ज्ञान और ज्ञानमू अज्ञान होना नहीं बनेगा, अभेदमू अर्थात् जीव और ब्रह्म एक ही हैं यू होनेपर भी जैसे, वैसे ही माया भी[३] समझनी ।।२ ।।

१.जैसे सूर्यकी किरणूका सम्बन्ध विविध रंगवाले दर्पणूसे जब होता है तब प्रकाश क्षणमू बदल जाता है वैसे भगवदंशूका मायाके साथ सम्बन्ध होनेपर कार्य जुदे जुदे प्रकारसे हो जाते हैं.

२.कामना न होते हुए भी भगवान्से क्रीडार्थ सृष्टि उत्पन्न हो जाती है जैसे लोह चुम्बककी स्वाभाविक शक्तिसे लोहमू स्वतः भ्रमण उत्पन्न होता है.

३.जीव ब्रह्मका ही रूपान्तर होते हुए भी ब्रह्मसे विरुद्ध अज्ञत्वादि धर्मवाला है वैसे माया भी है अतः मायाके स्वरूप तथा स्वभाव बलसे ही विरोधूका समाधान होता है. 'प्रकाश'.

व्याख्या: यह भगवान्की माया वही है, जिसको हमने जगत्का कारण कहा है. हे विदुर! तुमने भी अपने वाक्यूमू यू ही कहा है, अतः हमने जो निरूपण

किया वह ही तुमने उसके विरुद्ध धर्मके निरूपणसे कहा है, इसलिए इस विषयमृ कुछ समाधान करनेकी आवश्यकता नहीं है क्यृकि वह न्यायशास्त्रसे विरुद्ध जाती है, वह विरोध तुमने ही निरूपण किया है, इस कारणसे हम तुमको समझावृ ऐसी आवश्यकता नहीं है, कारण कि यह ही सिद्धान्त है वह पूर्वपक्षकी दृष्टिसे कहा है. अब विरोधको स्पष्टता करते हुए कहते हैं कि 'ईश्वरयेति' यह जीव ईश्वर ही है, जिसके प्रमाण ''**तत्त्वमसि**'', ''**अयम् आत्माब्रह्म**'', ''**विज्ञानमय**'' आदि श्रुतियां हैं. इसलिये ही सर्वसमर्थ संसारसे विमुक्त ईश्वरका 'दैन्य' बिना विचारके मांगना ऐश्वर्यसे विरुद्ध है और उसका बन्धन, विमुक्त विरोधी है ।।२।।

आभासार्थ: मायाका स्वरूप इस प्रकारका कैसे होगा? यदि ऐसा स्वरूप माना जायेगा तो प्रमाण अप्रमाण हो जाएंगे तथा सत्पुरुषृका मार्ग रुक जाएगा यृ कहना सत्य है, यृ ही है किन्तु वह माया जैसे हृदयसे निकल जाय वैसा उपाय बताऊंगा. उसका जाना ही मुख्य समाधान है, उसके नष्ट होनेपर फिर कोई भी विरोध(सन्देह) नहीं रहेगा. इसलिए विरोधृके समाधानकेलिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए किन्तु मायाके निराकरण(नष्ट) करनेकेलिए प्रयत्न करना चाहिए, माया नष्ट होनेपर भगवत्साक्षात्कार होगा, जिससे सर्व सन्देह स्वतः मिट जाएंगे. इस प्रकार रूपान्तरमृ ज्ञानका उपदेश मिला हुआ समझमृ आजायेगा, तब स्वयं ब्रह्मवाद समझमृ आजायेगा, अथवा असुरत्व जानेसे शूद्रत्व भी कपूर बन उड जायेगा. उसके जानेपर स्वतः ज्ञान हो जायेगा अथवा मैं उपदेश देकर समझाऊंगा. मायादिके ऐसे रूप हैं. यृ निद्रादि दृष्टान्तसे निम्न श्लोकमृ समझाते हैं:

यदर्थेन विनाऽमुष्य पुंस आत्मविपर्ययः ।
प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः ।।९।।

श्लोकार्थ: जिस कारणसे इसे पासमृ देखनेवाले पुरुषको स्वप्नमृ बिना बन्धन आदिके भी बन्धन मालूम होता है वह अपना विपरीतपन है इसी प्रकार अपना कटा हुआ शिर आदि देखनेमृ आता है ।।९ ।।

व्याख्या: जिस कारणसे इस पुरुष जीवको बिना बन्धन आदिके अपने शरीरका विपरीतत्त्व(उल्टापन प्रतीत मालूम) होता है परन्तु केवल ऐसी प्रतीति ही होती है वास्तवमृ विपरीतत्त्व है नहीं, क्यृकि यह समीपमृ 'द्रष्टा'(देखनेवाला) है, न कि यह द्रश्य(जो देखा जाय) है. वहां उस समय कोई दूसरा द्रश्य पदार्थ है ही नहीं फिर यह पुरुष तो व्यापक पूर्णरीतिसे भीतरसे जाननेवाला है. दूसरे सब तो

परिच्छिन्न(सीमावाला) बाहिर जाननेवाले हैं. जैसे दर्पणमृ देखनेके समय वह आत्मा(शरीर) उलटा(वाम अंग दक्षिण और दक्षिण अंग वाम) देखनेमृ आता है. वैसे ही मायाके सान्निध्य होनेसे आत्मा बाहिरका तथा परिछिन्न दीखता है, यृा अन्यथा(उल्टा) देखनेमृ माया ही कारण है, इस विषयको अन्यदृष्टान्तसे समझाते हैं कि जैसे स्वप्नमृ कोई देखता है कि मेरा शिर कट गया है ऐसा उसे प्रतीत होता है किन्तु द्रष्टाके शिरका कटना बन नहीं सकता है. यदि शिर कट गया तो फिर देखा नहीं जाता है क्यृाकि नेत्र तो शिरमृ हैं, ऐसी केवल प्रतीति होती है, यह अर्थ परस्पर विरुद्ध है और इसमृ कोई तर्क नहीं है, इस तरह यहां भी मायाके सम्बन्धसे ऐसा भासता है ।।९।।

आभासार्थ: शंका यह आत्मा मायामृ प्रवेश करता है. जिससे आत्माके गुण मायामृ आते हैं यह उचित है, किन्तु मायाके धर्म, आत्मामृ प्रवेश नहीं कर सकते हैं, क्यृाकि आत्मामृ माया प्रवेश नहीं कर सकती है जैसा कि ''तमसः परस्तात्'' श्रुति कहती है, आत्मा तमसे परे है, इस कारणसे बन्धादि मायाके धर्म आत्मामृ कैसे ? इस शंकाका निम्न श्लोकमृ उत्तर देते हैं:

यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस् तत्कृतो गुणः ।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुः आत्मनोऽनात्मनो गुणः।।१०।।

श्लोकार्थ: जैसे जलमृ कम्पादि जलकृत गुण जलमृ ही हैं न कि चन्द्रमामृ कम्पादि है किन्तु चन्द्रमृ कम्पनकी केवल असत् प्रतीति होती है वैसे ही दुष्टात्मामृ अनात्माका गुण न होते हुए भी दीखता(भासता) है ।।१० ।।

व्याख्या: माना कि आत्मामृ माया प्रवेश नहीं करती है किन्तु आत्मा ही मायामृ प्रवेश करती है, तो भी प्रवेशके अनन्तर उसके(मायाके) धर्मोंसे आत्मा सम्बन्धित होती है, जब तक प्रवेश नहीं हुआ है तब तक मायाके धर्मोंसे सम्बन्धित नहीं होती है, जैसे जलमृ प्रतिबिम्बित चन्द्रमामृ जो कम्पन दीखता है वह जलका कम्पन है, न कि चन्द्रमाके प्रतिबिम्बका, प्रतिबिम्बमृ तो जलकम्पन द्वारा प्रतीति मात्र होती है, वास्तवमृ उसमृ कम्पन नहीं है, ऐसे ही आत्मामृ धर्म न होते हुए भी मायाके सम्बन्धसे प्रतीति मात्र होते हैं. वह 'दृश्यते'से कहते हैं. असत्पनमृ कारण 'द्रष्टुः', पदसे कहा है. 'आत्मा' शब्दसे यह विलक्षणता निरूपित की है. अब माया निरूपित विलक्षणता 'अनात्मनो गुणः' पदसे कहते हैं, प्रकृति और देह आदि जड़के दृश्यत्त्वादि गुण आत्मामृ न होते हुए भी दीखते हैं,

यह मायानिरूपित विलक्षणता है ।। १०।।

आभासार्थ: मायामृ जो सम्बन्ध है वह प्रतीतिसे है. उसका यह सम्बन्ध भी न रहे तदर्थ उपाय कहते हैं :

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह ।।११।।

श्लोकार्थ: वह सम्बन्ध निवृत्ति गुणसे तथा वासुदेवकी कृपासे एवं भगवान्के भक्तियोगसे ही इस जन्ममृ धीरे-धीरे तिरोहित हो जाता है ।।११ ।।

व्याख्या: मैत्रेयजी विदुरजीको इस श्लोकमृ मायाका सम्बन्ध कैसे छूटेगा, वह बताते हैं, जैसे त्रिदोष(वात, पित्त और कफ)के बढ़ जानेसे मृत्यु होती है, वैसे ही मायाके सम्बन्धका इस ही शरीरमृ नाश तब होता है जब पुरुष तीन धर्मोंको धारण करता है. वे तीन धर्म कौनसे हैं? वे बताते हैं: १.निवृत्ति धर्मका पालन करना, न कि केवल निवृत्ति करनी, यदि निवृत्ति धर्मका पालनकर केवल निवृत्ति करली तो इससे भगवत्कृपा नहीं होगी, अतः भगवत्कृपा सम्पादनकेलिए निवृत्तिधर्म अवश्य पालने चाहिए, जिसकी स्पष्टता कारिकाओृ द्वारा करते हैं:

विधानेन परित्यागः पुनस्त्यक्त्वा परिग्रहः।
एकाकित्वं तीर्थसेवा मौनं कृष्णानुचिन्तनम् ।।कारि.१।।
कालादिप्राप्तदुःखस्य सहनं चाऽप्रतिक्रिया।
दयासन्तोषात्मजया मुख्या धर्मा निवृत्तितः ।।कारि.२।।

कारिकार्थ: पहले शास्त्रानुसार त्याग करना चाहिए, अनन्तर निम्न गुणृका स्वीकार करना अर्थात् ये गुण पालने, एकाकी(अकेला) रहना, तीर्थ सेवा(तीर्थोंका दर्शन एवं वहां रहना), २. मौन धारण करना, ३. श्रीकृष्णका चिन्तन करना, ४. कालादिसे प्राप्त दुःखृको सहना, ५. उनकी प्रतिक्रिया नहीं करनी, ६. दया, ७. संतोष, ८.अन्तःकरणपर काबू. निवृत्ति अवस्थाके ये मुख्य धर्म हैं, जिनका पालन अवश्य करना चाहिए ।।१-२ ।।

व्याख्या: फिर भगवत्कृपा सम्पादन करनी चाहिए, उपरोक्त धर्म पालनसे जब अन्तःकरण शुद्ध हो, सत्त्वरूप होता है तब भगवत्कृपा होती है. बादमृ कृपा सम्पादित होनेपर भगवद्भक्तियोग सिद्ध होता है. भक्ति भगवत्सम्बन्धिनी होनेसे साधनरूपा होती है. 'योग' पद देनेका आशय है कि निरन्तर भक्ति करते ही रहना चाहिए, सदैव श्रवणादि बिना भगवत्कृपाके नहीं हो सकता है इसलिए भक्ति न

कहकर 'भक्तियोग' कहा है. इस प्रकार इन तीन गुणॄके धारणसे मायाका सम्बन्ध धीरे–धीरे इसही जन्ममॄ तिरोहित हो जाता है. 'शनैः' पद देनेका आशय है जैसे जैसे साधन होते जायॄगे वैसे वैसे मायाका सम्बन्ध छूटता जायेगा ।।११।।

आभासार्थ: इस श्लोकमॄ बिना देरीके(शीघ्र) ही सर्व प्रकारके क्लेशॄके नाशका उपाय कहते हैं:

यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्टात्मनि परे हरौ ।
विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः ।।१२।।

श्लोकार्थ: जब इन्द्रियां अपने विषयॄसे स्वतः ही विराम पाती हैं, तब हरि आत्मामॄ द्रष्टा बनते हैं, उस समय सुषुप्ति अवस्थामॄ जैसे दुःख नष्ट हो जाते हैं वैसे ही सर्व प्रकारके दुःख दूर हो जाते हैं ।।१२ ।।

व्याख्या: जब ही सब इन्द्रियॄकी स्वतः ही अपने विषयॄसे निवृत्ति हो जाती है तब भिन्न प्रकारसे आत्मामॄ द्रष्टा होता है अर्थात् आत्मा द्रष्टापनसे स्फुरित होती है और प्रकृति आदिका नियामकपनसे स्फुरता है[१] और मैं स्वयं ही हरि हूं, ऐसी स्फूर्ति होने लगती है, तब अविद्या आदि सर्व प्रकारके क्लेश लुप्त हो जाते हैं, वे पंचम स्कन्धमॄ भवाटवी प्रसंगमॄ वर्णन किये जायॄगे, विषयॄसे निवृत्ति होना असम्भव है जिसका दृष्टान्त देकर निराकरण करते हैं 'संसुप्तस्येव कृत्स्नशः' सुषुप्ति अवस्थामॄ आत्माके साथ ऐक्यको प्राप्त होनेवालेके जैसे सर्व क्लेश कट जाते हैं वैसे निवृत्ति होते ही सर्व अविद्यादि दोष नष्ट हो जाते हैं तथा "**यथा स्त्रिया सम्परिष्वक्तः एवमेव अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेन आत्मना सम्परिष्वक्तः शेते**" जैसे लोकमॄ स्त्रीके साथ आलिङ्गन कर मनुष्य आनन्दमॄ सोते हैं वैसे यह शारीर आत्मा (जीव) सुषुप्ति अवस्थामॄ प्राज्ञात्मासे ऐक्य प्राप्तकर सोता है उस समय सर्व क्लेश भूल जाता है. 'यदा' इस पदसे यह सूचित किया है कि इस साधनकी सिद्धि कब होगी इसकेलिए काल नियत(मुकर्रर) नहीं किया है ।।१२।।

१.प्रकृति आदिके नियमॄको भी बसमॄ रखनेवाला अपनेको मानता है.

आभासार्थ: अतः फल प्राप्तिका निश्चित हेतु निम्न श्लोकमॄ कहते हैं:

अशेष–सङ्क्लेश–शमं विधत्ते गुणानुवाद–श्रवणं मुरारेः ।
कुतः पुनस् तच्चरणारविन्द–परागसेवा–रतिरात्मलब्धा ।।१३।।

श्लोकार्थ: मुरारि भगवान्के गुणानुवादॄका श्रवण, सकल क्लेशॄका नाश करता है तो अपनेसे प्राप्त की हुई प्रभुके चरणारविन्दकी रजकी सेवामॄ

रति(प्रीति) उनका नाश करे इसमॄ कहना ही क्या है ।।१३ ।।

व्याख्या: भगवन्माहात्म्य जतानेवाला, गुणॄके कीर्तनपूर्वक जो श्रवण किया जाता है, वह सकल क्लेशॄका शमन करता है, गुणानुवादका श्रवण और क्लेशॄका शमन दोनॄका परस्पर कारण कार्यभाव ऐसा है जैसा दाह और अग्निका कार्य कारणभाव है न कि घट दण्ड जैसा है, अतः जैसे अग्नि कारण होनेपर ही दाह(जलना) कार्य होता है वैसे ही गुणानुवाद श्रवणरूप कारण होनेपर ही अशेष क्लेश नाशरूप कार्य होता है, इसलिए जब तक सकल अविद्यादि दोषॄ(क्लेशॄ) का सम्पूर्ण नाश न हो जाय तब तक गुणानुवाद श्रवण करते ही रहना चाहिए, इससे एक बार श्रवणसे सर्व क्लेशॄका अभाव नहीं हुआ. इस प्रकारका विरोध नहीं मानना चाहिए, क्यॄकि यह श्रवणरूप कारण नियत कारणत्वसे कहा गया है इसलिए दृष्टान्त भी अग्नि और दाहका दिया है. जब तक क्लेश नष्ट नहीं हुए हैं तब तक श्रवण करते ही रहना चाहिए, इसमॄ यह शङ्का उपस्थित होती है कि यदि बीचमॄ विघ्न पड़ जावे, श्रवण न हो सके तो कार्य कैसे होगा? इसके उत्तरमॄ 'मुरारि' भगवन्नाम देकर बताया है कि जिसके गुण श्रवण किये जाते हैं वह मुरारि है, जिससे विघ्न स्वतः नष्ट हो जायॄगे.

जब श्रवण ही क्लेशॄका नाश करता है तो भगवान्के चरणारविन्दकी रति, इनका नाश करेगी इसमॄ कहना ही क्या है? यह उत्तरार्धसे कहते है कि 'पुनः' कहना चाहिए यॄ न कहकर 'कुतः पुनः' कहा. 'कुतः' कहनेका भाव प्रकट करते हैं कि रतिको सिद्ध करनेवाली श्रवणदशामॄ ही क्लेश निवृत्त हो गये तो फिर 'रति'को कौन निवृत्त करेगा? अतः रति तो स्थिर ही है. 'चरणारविन्द' पदसे यह सूचित किया है कि यह उपाय भक्तिमार्गीय है. पूर्व निरूपित चरणारविन्दके रजः कण, गंगामॄ तथा भगवदीयॄके शरीरमॄ रहते हैं इसलिये वहां सेवामॄ रति करनी चाहिए अर्थात् उनकी सेवा करनी चाहिए अथवा मथुरादि स्थित भगवत्स्वरूपॄके चरणारविन्दके रजकी सेवा करनी चाहिए, चरणसेवा मकरन्द(रस) है, भजनानन्द स्वतः पुरुषार्थरूप है. उससे सम्बन्धवाली सेवामॄ जो रति(प्रीति) है वह भी आप(खुद)ने ही प्राप्त की हो वा अचानक प्राप्त हुई हो अथवा अन्तःकरणमॄ स्वत: उत्पन्न हुई हो.

सेवा स्वतः पुरुषार्थरूप है उसमॄ स्वभावसे जो रुचि होती है वह सर्व ही क्लेशको दूर फ़ेक देती है, इसी तरह कर्ममार्गके अनुसार, ज्ञानमार्गके अनुसार

और भक्तिमार्गके अनुसार तीन साधन बताये ।।१३।।

आभासार्थ: मायाकी निवृत्ति होनेपर ही सर्व सन्देहॄकी स्वतः निवृत्ति हो जाएगी यॄ मैत्रेयका उपदेश सुनकर भगवान्मॄ रति ही साधन है इसका स्मरण होते ही रति उत्पन्न हुई जिससे स्वतः(अपने आप) ही विदुरके संशय निवृत हो गए, उसका कहा हुआ फल हुआ विदुरके अपने हृदयमॄसे संशय मिट गए वह निम्न श्लोकमॄ कहता है :

विदुरः उवाच

संच्छिन्नः संशयो मह्यं तव सूक्तासिना विभो! ।

उभयत्राऽपि भगवन् मनो मे सम्प्रधावति ।।१४।।

श्लोकार्थ: विदुरजीने कहा कि है सर्व समर्थ! मेरे संशयॄके नाशार्थ जो आपने सूक्तिरूप असि(तलवार) कार्यरूपमॄ ली उससे मेरे संशय कट गए, हे भगवन्! मेरा मन दोनॄ तरफ भगवान्के स्वातन्त्र्य एवं जीवपारतन्त्र्य आदिमॄ दौडता रहता है ।।१४ ।।

व्याख्या: जो इस प्रकार नहीं हुआ हो अर्थात् संशय नष्ट नहीं हुआ हो तो गुरुकथित शास्त्र(उपदेश) द्वारा सन्देहाभाव न बने अर्थात् मेरे सन्देह काटने केलिये जो आपने उत्तमवाक्य(उपदेश)रूप खड्ग(तलवार) तैयार की वह सफल हुई अर्थात् उपदेशसे संशय कट गये, न कि युक्ति(तर्क)से सन्देह छुड़ाये. आपके वचन खड्गरूप हैं, वह खड्ग ही साधनरूप बनी अतः इसके बाद तर्कके देनेकी आवश्यकता नही है, भगवान्की मायाके अंशका बलरूपमॄ स्वीकारकर वह जहां भी बुद्धिको ले जाता है वहां ही बुद्धि बिना रुकावटके चली जाती है, जैसे धनुषमॄ योजित शर(लगा हुआ बाण) जाता है, वह अर्थ उत्तरार्धसे कहते हैं कि, भगवान्की स्वतन्त्रतामॄ और जीवकी परतन्त्रतामॄ एवं भगवान् जगत्का बीज है तथा जगत्की रचनाके प्रयोजन सम्बन्धमॄ अथवा ज्ञान एवं मायाके सम्बन्ध होनेके विषयमॄ जो संशय थे वे टूट(नष्ट हो) गये इस कारणसे दोनॄ तरफ मेरा मन अब बिना तर्क एवं विघ्नके पहुंच सकता है अर्थात् इन विषयॄको समझ सकता हूं. मैत्रेयजीको 'भगवान्' विशेषण देनेका यह तात्पर्य है कि इन(मैत्रेयजी)मॄ मेरे(विदुरके) मनमॄ ज्ञान उत्पन्न करनेकी शक्ति है ।।१४।।

आभासार्थ: उपरोक्त प्रश्न सम्बन्धी ही संशय नष्ट नहीं हुए हैं किन्तु अन्यत्र सर्वत्र ही जो कार्य सम्बन्धी शंकाएं हैं वे सब नष्ट हो गई हैं ये निम्न

श्लोकमृ कहते हैं :

साध्वेतद् व्याहृतं विद्वन् आत्ममायायनं हरेः ।
आभात्यपार्थं निर्मूलं विश्वमूलं न यद् बहिः ।।१५।।

श्लोकार्थ: हे विद्वन्! हरि सम्बन्धी जीवृको मोहमृ डालनेवाली मायाका रचा हुआ यह निर्मूल जगत् निरर्थक भास रहा है, यृ जो आपने कहा वह सत्य है जो विश्वका वास्तविक मूल है वह तो इन बाहरके पदार्थोंमृ नहीं है ।।१५ ।।

व्याख्या: मायाका ज्ञान करानेवाला वचन जो आपने वर्णन किया वैसा ही ठीक है. 'विद्वन्' विशेषणसे यह सिद्ध किया कि इस सम्बन्धमृ आपको पूर्ण अनुभव है, न कि केवल शास्त्रदृष्टिके अनुसार है. आपने क्या निरूपण किया? इस आकांक्षापर कहते हैं 'आत्ममायायनं हरेः', हरिके सम्बन्धी जो जीव हैं उनको मोहमृ डालनेवाली माया, जिसका पहले चार श्लोकृमृ वर्णन किया है. उस मायाका स्थान विषयाकार ब्रह्म, जो जड़त्वसे अथवा जीव तथा जड़ तरीकेसे स्फुरित होता है, वह झूठा बिना अर्थवाला है ऐसे जगत्का माया ही स्थान है अर्थात् मायाकी बनाई हुई यह अन्तरा सृष्टि तो व्यर्थ ही भास रही है, वास्तविक वस्तुको दूर कर, विषय रहित जो ज्ञान हो रहा है. वह ज्ञान मायावृत होनेसे जो नहीं है वह भी दिखा देता है. यदि यृ है तो वह सर्वदा भासता रहे, यदि सर्वदा भासे तो मोक्ष ही नहीं होवे, इस प्रकार शङ्का(पूर्वपक्ष)कर उत्तर दिया जाता है कि 'निर्मूलम्', इस अन्तरा सृष्टिका मायाके सिवाय कोई मूल नहीं है, केवल मध्यमृ ही भासती है, जब तलस्पर्श किया जायेगा तब सर्वत्र ब्रह्मका ही भान होने लगेगा और यह मायिक अन्तरासृष्टि स्वतः अदृश्य हो जायेगी. इस विषयको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, जैसे सीपमृ रजत(चांदी)की प्रतीति होती है किन्तु वह सत्य नहीं है क्यृकि जब पूर्ण विचार किया जाता है तब सीप ही दीखती है. मध्यमृ हुआ वह रजतका भ्रम निवृत्त हो जाता है, वैसे ही यहां भी जब अन्तरासृष्टिकी निवृत्ति हो जाती है तब सर्वब्रह्म रूप दीखनेमृ आता है जैसा कि इस मन्त्रमृ "**न तं विदाथ य इदं जजान अन्यद् युष्माकम् अन्तरं भवाति**"(ऋग्वेद १०।८२।७) कहा है. भावार्थ: जिसने यह उत्पन्न किया है उसको तुम नही जानते हो, क्यृकि तुम्हारे भीतर अन्य भास रहा है, वेदसे जगत्, भगवान् और भगवान्का कर्तापन तीनृ सत्यसिद्ध हैं. इस बने हुए ब्रह्मस्वरूप जगत्की ब्रह्मसे प्रतीति न होकर जो मध्यमृ अन्यथाप्रतीति हो रही है वह व्यामोहिका मायाका कार्य है. कार्य रूप जगत्, कारणरूप ब्रह्म और कृति तीन ही

अविकारी हैं. 'युष्माकं' पद देनेका यही आशय है कि सबको ऐसा अनुभव नहीं होता है फिर जो प्रमेयाध्याय(ब्रह्मसूत्र अध्याय २)मॄ पूर्वपक्ष द्वारा कार्य और कारण के अविरोधमॄ विलक्षणपनका समर्थन किया गया है, अतः "**न विलक्षणत्वात्**" इस वेद प्रमाणानुसार जड़ जगत्का, चेतन ब्रह्म उपादान कारण कैसे बनेगा? अर्थात् नहीं बन सकता है इसलिए जड़ जगत्को अविकारी नहीं कहा जा सकता है, तथा "**अस्य तथात्वं च शब्दात्**" एवं "**विज्ञातं च अविज्ञातं च**", इन श्रुतियॊंसे जगत्को जड़ तथा चेतन और जड़ दोनॊं प्रकारका माना है.[१]

वादीकी बुद्धिके अनुसार अर्थात् वादी ब्रह्मवादका अधिकारी नहीं है अतः उसको ब्रह्मवाद सिद्धान्तानुसार कहना मैत्रेयजीको उचित न लगा, इसलिए परोक्षरूपसे 'दृश्यते' इस सूत्रसे शङ्का(पूर्वपक्ष)का निराकरण किया गया है, हालांकि जगत् ब्रह्मसे विलक्षण(पृथक प्रकारका) देखनेमॆ आता है, किन्तु वास्तविक बुद्धि(सात्त्विक बुद्धि) होनेपर विचार किया जायेगा तो मालूम हो जायेगा कि जुदे प्रकारका जगत् नहीं है किन्तु ब्रह्मरूप ही है.

श्रुति तो पूर्वकाण्डकी तरह तल(तात्पर्य) ज्ञानकेलिये लोकप्रसिद्ध अर्थका ही अनुवाद करती है, जैसे "**दहरं वै सा पराभ्याम्**", इस पूर्वकाण्डकी श्रुतिमॆ लौकिक दोहनेके[२] कार्यका अनुवाद है.

इसलिए ही "**सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्**", सत्य और असत्य रूपसे भासमान जगत् वस्तुतः सत्य ही सिद्ध हुआ, यॊं यह श्रुति जानती है. ऐसा(सत्य ब्रह्मरूप) जगत् भी इसको(विदुरको) भगवान्के ध्यान करनेसे स्फुरित हुआ, इसलिए इसने इस स्फूर्तिका अनुवाद ही किया है, अथवा मायावादीकी तरह केवल मध्यस्थका कहा हुआ अनुवाद है.

किन्तु जो विश्वका मूल है वह बाहरके विषयॊंमॆ(पदार्थोंमॆ) नहीं है क्यॊंकि भगवान् मायातीत हैं, किन्तु बुद्धिसे उत्पन्न जो मायारूप विषयता है वह ही मध्यमॆ स्फुरित होती है[३]. इस कारणसे इस शास्त्रमॆ दो ही सुखी हैं १.जो ज्ञानी हैं और २.जो सङ्कट रहित हैं, वे दो निम्न श्लोकमॆ कहते हैं ।।१५।।

१.चेतन ब्रह्म, जड़ जगत्का उपादान कारण नहीं है, क्यॊंकि लोकमॆ कार्य और कारण एक ही प्रकारके होते हैं. जैसे घटरूप कार्य और मृतिकारूप उपादान कारण एकही प्रकारके हैं वैसे ही वस्त्र आदि भी. इसलिए जड़ जगत्का चेतन ब्रह्म उपादान कारण मानना तर्क विरुद्ध है. यह सिद्धान्त तर्कविरुद्ध होनेसे वेद भी इसका समर्थन नहीं कर

सकता है. प्रकाश

यदि कहो कि तर्कका आधार प्रत्यक्षपर है और प्रत्यक्षमृ भ्रम भी हो सकता है इसलिये हम तर्कको प्रमाणरूप नहीं मानते हैं. इसपर कहा जाता है कि वेद भी जगत्को ''विज्ञातं च अविज्ञातं'', श्रुतिमृ चेनन तथा जड़ मानता है, अतः ऐसे जगत्का ज्ञानरूप ब्रह्म उपादान कैसे बनेगा?

२.पाठभेद – देहानुवादः वा देशानुवादः नित्यम्. ३.यह अन्य मत कहा है.

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।

तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ।।१६।।

श्लोकार्थः जो अत्यन्त मूर्ख हैं और जो पूर्ण ज्ञानी हैं, ये दो ही लोकमृ सुखी रहते हैं, एवं जो न मूढ हैं और न पूर्ण ज्ञानी हैं वह मध्यमृ लटका हुआ दुःख भोगता है ।।१६ ।।

व्याख्याः जिसने ज्ञान प्राप्तिकेलिये थोड़ी भी प्रवृत्ति नहीं की है, वह लौकिककी तरहसे रहते हुए भी मायाको मिटानेकेलिये प्रयत्न करता रहता है. उसपर जब भगवत्कृपा होती है तब उसकी माया निवृत्त हो जाती है, अनन्तर सबको ही सन्देह रहित जान लेता है, अथवा सद्गुरुकी प्राप्ति होनेसे उस गुरु द्वारा भगवत्कृपा होते ही वह व्यामोहिका मायाको त्यागकर बुद्धिसे ऊपर जो वस्तु आत्मस्वरूप है, उसमृ स्थित हो जाता है, अर्थात् पहले ही अनर्थ(मायके) निवृत्त हो जानेसे सुखका भोग करता है.

मध्यमृ स्थित अर्थात् ज्ञान एवं भक्ति थोड़ी है, जिसका वह निर्णय नहीं कर सकता है कि मैं कौनसे मार्गका आश्रय करूं? कभी भक्ति, कभी ज्ञानको अपनाता है. वह दो नौकामृ अपने पांव रखनेवालेके समान दुःखी होता है. यहां लौकिक मूढ़ लिया जावे तो दोनृको समान सुख है यृ कहनेमृ विरोध आता है, फिर मूढ़ लोगृको तो आनन्द होता ही नहीं है ।।१६।।

आभासार्थः इसी तरह शास्त्रार्थका निरूपणकर अपनेको कुछ लाभ हुआ और कुछ न हुआ यृ दोनृको निम्न श्लोकमृ कहता हैः

अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्याऽप्यनात्मनः ।

तां चाऽपि युष्मच्चरण–सेवयाऽहं पराणुदे ।।१७।।

यह जगत् जड देखनेमृ आता है किन्तु यह स्थिति वास्तविक नहीं है, यह निश्चयकर आपके चरणृकी सेवासे इस दृश्यको भी नष्ट करूंगा ।।१७।।

व्याख्या: यह स्वरूप जो प्रतीयमान हो रहा है वह वास्तविक स्थितिवाला नहीं है ऐसा शास्त्रने सूचित किया है. ''**आत्मैव इदं सर्वम्**'', इस श्रुतिने कहा है कि अनात्मा जगत् वास्तविक नहीं है किन्तु ब्रह्मका ही वास्तविक सद्रूप सिद्ध है, अनन्तर इसकी जड़रूपसे जो प्रतीति हो रही है. विषय(पदार्थ) समझनेसे, जो दुःख होता था वह दूर हुआ. शेष रही हुई प्रतीति भी आप गुरुके चरणोंकी सेवासे मिटा दूंगा! हालांकि गुरु अपने आप उपदेश नहीं देते हैं, तो भी मैं सेवारूप धर्मसे अथवा सेवाके बाद प्राप्त उपदेशसे, तात्पर्यको प्राप्तकर मायासे होनेवाली प्रतीतिको भी दूर कर दूंगा. आधी प्रतीति तो ज्ञानमार्गके अनुसरणसे निवृत्त हो गई भासती है, नहीं तो भगवच्चरणोंकी सेवासे ही उस सम्पूर्णको दूरकर दूंगा. 'अहं' पदसे यों करनेमें अपना अधिकार दिखाया है, कारण कि ऐसी ही भगवदाज्ञा है नहीं तो भक्तिमार्गानुसार कर्त्तव्य(सेवादि)से ही उसको नष्ट करूंगा और अधिकार फिर प्राप्त करना चाहिये ।।१७।।

आभासार्थ: भगवन्मार्गमें भी गुरुसेवा, भक्तिकी प्राप्ति करानेमें उपयोगी होती है यों निम्न श्लोकमें कहते हैं:

यत् सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः ।
रतिरासो भवेत् तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः ।।१८।।

श्लोकार्थ: जिनकी सेवासे मधुदैत्यके द्वेषी, कूटकी तरह स्थिर अर्थात् विकारादि क्रियासे रहित भगवान्के चरणोंमें व्यसनोंको नाश करनेवाला तीव्र रतिरास होता है ।।१८ ।।

व्याख्या: भगवान्के तीन विशेषण देनेका आशय है कि कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों ही मार्गोंका गुरुसेवा करनेमें विरोध नहीं है, यदि इन श्रेय करनेवाले तीनों ही मार्गोंका विरोध होवे तो गुरुसेवा न बन सके, जिससे भगवान्में भक्ति उत्पन्न ही न होगी. 'भगवन्' नाम देनेसे यह बताया है कि प्रभु भक्तिमार्गका अनुसरण करनेवाले हैं. 'कूटस्थस्य' पदसे प्रभु ज्ञानमार्गानुसारी हैं, यों बताया. मधु(मधुदैत्य)के द्वेषी विशेषणसे बताया कि प्रभु कर्ममार्गानुसारी हैं. जैसे मधुमक्षिका सब पुष्पोंका रस चूस, फिर मुखसे वमन करती हैं तब वह रस 'मधु' (शहद) बनता है, वैसे ही भगवान्ने सकल देवरूप पुष्पोंसे उनका रस अर्थात् बल ग्रहणकर उस बलमें दैत्योंसे उनका स्वभाव डलवाकर वह बल बाहर प्रकट किया तब वह बल, धर्मोंका विरोधी ब्रह्मघातक दैत्य 'मधु' नामसे प्रकटा. कैटभ तो

केवल ज्ञानांशका विरोधी था, इसी कारणसे कपिलने भगवान्का नाम 'कैटभार्दन' कहा है. वैसे भगवान्के चरणाृमृ रतिरास अर्थात् रतिके विलास हो. विलास अर्थात् 'रास'(रससमूह) पदसे चरणाृके वशीकरणका सूचन किया है. 'रास' पदकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इन्द्रियाृके सर्वप्रकारके विषयाृका जो आनन्द प्राप्त करनेकेलिये विलाससे उत्पन्न रससमूह वह 'रास' है. 'पादयोः' पद अवतरित(अवतारी) भगवान्के अभिप्रायसे कहा है. 'तीव्र' पदसे यह बताया है कि इससे लौकिक व्यामोह नष्ट होता है, क्याृकि यह शीघ्र ही तल(तात्पर्य)का स्पर्श कराता है अर्थात् जल्दी ही पूर्ण भाव समझा देता है. दूसरे मध्यके दुःख तो आनुषङ्गिक(प्रासङ्गिक) हैं, जिससे वे स्वतः नष्ट हो जाते हैं. इसलिए 'व्यसनार्दनः' विशेषण दिया है, लौकिक विचित्र व्यसनाृको नाश करता है, अतः व्यसनाृकी निवृत्ति रासका आनुषङ्गिक फल है, अतः ज्ञान और भक्ति दोनाृको प्राप्त करानेवाली गुरु सेवा सर्वका हित करनेवाली है ।। १८ ।।

आभासार्थः यदि याृ है तो सब, गुरुसेवा क्याृ नहीं करते हैं? इस शंकापर निम्न श्लोक कहते हैं :

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु ।
यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्दनः ।।१९।।

श्लोकार्थः जहां देवाृके देव जनार्दन भगवान्की नित्य सेवा हो रही है अर्थात् जो भगवान्की गुणगानादि सर्व प्रकारकी सेवा नित्य कर रहे हैं वैसे वैकुण्ठ(भगवान)के पास पहुंच जानेका मार्ग बतानेवालाृ(गुरुआृ)की सेवा थोडे तपवालाृको मिलनी कठिन है ।।१९ ।।

व्याख्याः जिन्हाृने अल्प तपस्या की है उनको वैकुण्ठ(भगवान्)के मार्गको बतानेवाले सद्गुरुआृकी सेवा प्राप्त होना दुर्लभ है. दुःख,(परिश्रम)से प्राप्त होती है. इसलिए 'सेवा' पद एक वचन दिया है. भगवद्भक्ताृका माहात्म्य बतानेकेलिये 'वैकुण्ठवर्त्मसु' पद दिया है. व्यापिवैकुण्ठ भगवान्के वे(गुरु) मार्ग श्रुत हैं, मार्ग बतानेवाले हैं, अतः उनके बताये मार्गपर जो चलता है वह भगवान्को प्राप्त कर सकता है, वे ही भगवत्प्राप्तिके मार्गरूप हैं. भगवद्भक्ताृके पास सदैव(नित्य ही) भगवद्गुणगानादि होता रहता है. इससे यह सूचित किया है कि भगवत्प्राप्तिकी कामनावाले वहां नित्य क्रमपूर्वक जाते हैं, भगवान्के गुण वहां(सत्संगमृ) पुष्पाृकी गंधवत् आ जाते हैं, अतएव गुणाृका वहां गान होता है,

भगवान्के गुणोंका नाम वे करते हैं, जिनके हृदयमें स्थित हैं एवं वहां ही प्रफुल्लित हुए हैं. गुणगानसे जिनको नित्य अधिक उल्लास होता है वे ही मार्गके निकट पहुंचे हुए समझने चाहिये. नित्य उल्लास कहनेका अभिप्राय है कि जैसे वायु, पुष्पको उड़ाकर दूर ले जाती है वैसे श्रवण गुणगानको दूर न लेजाकर वहां(सत्संग तथा हृदयमें ही) स्थिर करता है.

किन्तु, वह जनार्दन भगवान् देवोंके देव होनेसे सब देवोंसे श्रेष्ठ हैं, इसलिए देवमार्ग एवं यज्ञकी तुलनामें इनका मार्ग सुन्दर है. विशेषमें ये जनार्दन होनेसे अविद्याका नाशकर ज्ञान प्रकट करते हैं, अत: अचेतन(जड़ या अज्ञान)के निवर्तक ज्ञानमार्गसे भी भगवद्गुणगान करनेवालोंकी सेवा उत्तम है ।।१९।।

आभासार्थ: इसी तरह पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष दोनोंका निरूपण हुआ जानकर, अन्य विशेष भगवद्गुणोंको जाननेकेलिए पूछता है :

सृष्ट्वाऽग्रे महदादीनि सविकाराण्यनुक्रमात् ।
तेभ्यो विराजम् उद्धृत्य तमनु प्राविशद् विभुः ।।२०।।
यम् आहुर् आद्यं पुरुषं सहस्राङ्घ्र्यूरुबाहुकम् ।
यत्र विश्व इमे लोकाः सविकाशं समासते ।।२१।।

श्लोकार्थ: प्रथम विकार सहित महत् तत्त्व आदि क्रमशः उत्पन्नकर उनसे, विराट्को बाहर निकाल, उसमें आप समर्थ प्रभु प्रविष्ट हुए, जिसके सहस्र चरण, सहस्र उरु और सहस्र भुजाएं हैं, वे आद्यपुरुष कहलाए, जिसमें ये विश्व तथा लोक(प्राणी) विशाल भूमिमें सुख पूर्वक रहते हैं ।।२०-२१ ।।

व्याख्या: इस विषयमें प्रारम्भमें जो कुछ दो(पोने तीन) श्लोकोंसे कहा था उसका फिर अनुवाद करते हैं अर्थात् उसे दोहराते हैं, यदि यों न करें तो कहा हुआ भूल जानेसे आगे जो कहना हो वह न कहा जा सके, क्योंकि वह समझमें न आयेगा. अतः निर्धार(निश्चित) किया हुआ विषय थोड़ेमें ही कहा जाता है, महदादि २३ तत्त्व, उनके विकार और अवान्तर भेद, तथा सात्त्विक आदि भेद और आध्यात्मिक आदिभेद और उनकी क्रमानुसार सृष्टि, फिर उनसे विराट्को बाहिर निकालना, कारण कि पुरुष उत्तम अंश है, अनन्तर उसमें प्रवेश करना. इस प्रकार फिर कहनेका आशय है कि जो प्रथम निरूपण किया है उसकी स्पष्टताकर समझाना, उस विभुकी सामर्थ्यरूपसे प्रवेश हुए बिना ब्रह्माण्डमें जो कार्य होने चाहिए वे न हो सकते ।।२०।।

भगवत्सहित विराट्का नाम 'आद्य पुरुष' है, अपने आदि जो पुरुष हैं उन सबसे वह आद्य(मूल पुरुष) है, हालांकि आगेके अध्यायमॄ प्रचलन(घूमना फिरना) रूपसे स्पष्ट वर्णन नहीं किया है तो भी पुरुषका यह रूप ही होनेसे उस गुण धर्मपनसे अनुवाद किया है, अपनेको(विदुरको) विषय सहित पूर्ण ज्ञान होवे तदर्थ भगवत्कृपासे अन्य धर्मों(गुणॄ)की भी स्फूर्ति हुई है, हालांकि ये गुरु मैत्रयने नहीं बनाये तो भी, गुरुने जो ज्ञान दिया उससे ही वे स्फुरित हुए हैं, अत: फिर जिस पुरुषमॄ ये विश्व अर्थात् सर्व प्राणीमात्र विशाल भूमिमॄ सुखपूर्वक रहते हैं ।।२१।।

आभासार्थ: और विशेष:

यस्मिन् दशविध: प्राण: सेन्द्रियार्थेन्द्रियस्त्रिवृत् ।
त्वयेरिता यतो वर्णा: तद्विभूतीर्वदस्व न: ।।२२।।

श्लोकार्थ: जिसमॄ इन्द्रियां, इन्द्रियॄके अर्थ और दशविध प्राण रहते हैं ये तीन प्रकारके कहे हैं, जिसमॄसे वर्ण भी उत्पन्न हुए(ऐसे) आपने कहे हैं अब उसकी विभूति हमको कहो ।।२२ ।।

व्याख्या: जिस पुरुषमॄ दश प्रकारके प्राणॄका निरूपण किया हुआ है, यॄ इन्द्रियां और इन्द्रियॄका अर्थ(विषय) और प्राणॄकी त्रिविधता कही है, जिससे वर्णोंकी उत्पत्तिका होना भी आपने कहा. इस प्रकार कहे हुएका अनुवाद कर(दोहराकर) विशेष पूछता है:

यह भगवान्का चरित्र और भगवद् रूप तब हो सकता है जब कि यह विभूति होवे, भगवान्के असाधारण गुणॄमॄ विभूति भी एक गुण है, कथापक्षमॄ भी आगे जो कहे जायॄगे. ब्रह्मा आदि, उनका विसर्गत्व विवक्षित(इच्छित) नहीं है किन्तु विभूतिपन ही है, इससे विभूति सहित सर्ग निरूपण किया हुआ है. धर्म आदि सहित विसर्ग तो आगे कहा जाएगा. व्यष्टियॄमॄ भी समष्टि-व्यष्टि(समूह-व्यक्ति) भेदकी कल्पना की जाती है. जैसे व्यष्टियॄमॄ ब्रह्मा व्यष्टियोंका समूह है और प्रजा व्यष्टियां हैं ।।२२।।

आभासार्थ: प्रजाका कर्तापन कदाचित् न होगा तो इसलिए प्रथम ही उसके ज्ञानार्थ प्रजा सम्बन्धी प्रश्न करते हैं:

यत्र पुत्रैश्च पौत्रैश्च नप्तृभि: सह गोत्रजै: ।
प्रजा विचित्राकृतय: आसन् याभि: इदं ततम् ।।२३।।

श्लोकार्थ: विभूतियॄमॄ पुत्र, पौत्र और परपोते तथा गोत्रवाले आदि

विचित्र(जुदी-जुदी) आकृतिवाली प्रजाएं उत्पन्न हुईं, जिनसे यह जगत् व्याप्त हो गया(भर गया) ।।२३ ।।

व्याख्या: विभूतिके ज्ञानार्थ सर्वत्र चार भेद कहने चाहिये. 'नप्तृ' पदसे परपोते तथा दौहित्र समझने, एवं 'पुत्र' शब्दसे पुत्री भी समझनी क्यूंकि 'पुत्र' शब्दमूं एकवद्भाव है, इसी तरह 'पौत्र' शब्दसे पौत्री भी जान लेनी, इस प्रकारका अर्थ(भाव) 'नप्ता' पदसे सूचित होता है. 'गोत्रज' पदसे दूरके कुटुम्बी समझने चाहिये ।।२३।।

प्रजापतीनां स पतिः चक्लृपे कान् प्रजापतीन् ।
सर्गांश्चैवाऽनुसर्गांश्च मनून् मन्वन्तराणि च।।२४।।

श्लोकार्थ: प्रजापतियूंके उस पतिने कौनसे प्रजापति, सर्ग और अनुसर्गोंको तथा मनुओ एवं मन्वन्तरूंको उत्पन्न किया ।।२४ ।।

व्याख्या: 'सर्ग' पदसे कारणपदार्थोंकी उत्पत्ति कही है. 'अनुसर्ग' पदसे कार्य पदार्थोंकी उत्पत्ति कही है. मनु १४ हैं और मन्वन्तर ६ प्रकारके हैं ।।२४।।

एतेषामपि वंशांश्च वंश्यानुचरितानि च ।
उपर्यधश्च ये लोका भूमेर्मित्रात्मजासते ।।२५।।

श्लोकार्थ: हे मित्रके आत्मज! इनके भी जो वंश और वंशोंके अनुचरित्र भूमिके ऊपर एवं नीचे जो लोक हैं ।।२५ ।।

व्याख्या: इन मनुओके वंशमूं उत्पन्नूंके वंशकी वृद्धिके कारणरूप चरित्र, 'च' पदसे अन्य चरित्र भी, भूमिके ऊपर स्वर्ग आदि लोक कितने हैं और भूमिके नीचे कितने हैं? वे उत्पत्तिसे ही स्थिर हैं. मित्रात्मज! सम्बोधनसे यह बताया है कि आप धैर्यवान् हो, जिससे बहुत प्रश्नूंके होनेसे आपको क्षोभ नहीं होता है ।।२५।।

तेषां संस्थां प्रमाणं च भूर्लोकस्य च वर्णय ।
तिर्यङ्-मानुष-देवानां सरीसृब्-मृग-पक्षिणाम् ।।
वद नः सर्गसंव्यूहं गार्भस्वेदाण्डजोद्भिदाम् ।।२६।।

श्लोकार्थ: उनके तथा भू-लोककी स्थिति एवं प्रमाणका भी वर्णन करो, क्षुद्रजन्तु, मनुष्य, देव, सर्प, पशु, पक्षीकी उत्पत्तिका एवं गर्भसे, पसीनेसे, अण्डूसे तथा बीजके अंकुरूसे उत्पन्न होनेवाले आदि सर्ग समूहका वर्णनकर हमको बताओ ।।२६ ।।

व्याख्या: उन लोगोंकी व्यवहार पद्धति(मर्यादा) कैसी है? एवं प्रमाण (परिमाण या नाप) किस प्रकारका है? 'च' पदसे वहांके निवासियोंकी व्यवस्था कैसी है वह भी कहिये, यह प्रश्न ऊपरके और नीचेके, दोनों लोकोंकेलिये हैं.

अब मुख्य पृथ्वी लोककी संख्या(मर्यादा) और प्रमाण(परिमाण) पूछते हैं. 'च' पदसे अवान्तर भेदोंको भी पूछा है.

'तिर्यङ्' पदसे क्षुद्र जन्तु, सरीसृप,(रेंगनेवाले, जैसे सर्पादि) मृग पक्षी आदि भी एवं तामसादि भी द्वितीय कक्षामें जो गिने जाते हैं, इस प्रकारके सर्गोंके समूह, कितने हैं कहां कैसे उत्पन्न हुए? चतुर्विधभूतोंके जो भेद हैं वह भी कहिये जैसे कि १.'गार्भ'. गर्भसे उत्पन्न होने वाले. 'जरायुज' 'जरायु' शब्दसे गर्भ कहा जाता है. २.पसीनेसे उत्पन्न मद्रुण वा मशकादि. ३.'अण्डजः' अण्डेसे उत्पन्न पतंग आदि. 'उद्भिज्ज' वृक्ष आदि, 'स्वेदज'(पसीनेसे पैदा होनेवाले), ही मानकर विदुर 'स्वेदादि' शब्दसे उनसे उत्पन्नोंके विषयमें प्रश्न करते हैं ।।२६।।

गुणावतारैर्विश्वस्य सर्गस्थित्यप्ययाश्रयम्।
सृजतः श्रीनिवासस्य व्याचक्ष्वोदारविक्रमम्।।२७।।

श्लोकार्थ: गुणावतारों द्वारा विश्वकी उत्पत्ति स्थिति और लय करनेवाले लक्ष्मीके धाम(भगवान्)के उन उदार पराक्रमोंको कहिए, जो उनने सृष्टिकी रचना करते हुए किये हैं ।।२७।।

वर्णाश्रमविभागांश्च रूपशीलस्वभावतः।
ऋषीणां जन्मकर्माणि वेदस्य च विकर्षणम्।।२८।।

श्लोकार्थ: रूप, शील और स्वभावानुसार, वर्ग और आश्रमोंके विभाग तथा ऋषियोंके जन्म प्रकार एवं कर्म और वेदके विभाग बताइए।।२८।।

व्याख्या: ब्रह्मा, विष्णु और महादेवसे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय, उत्पत्ति आदिका आश्रय, कृति(क्रिया) वा भाव जो(भगवान्) हैं उसके पराक्रम कहिये, एवं ब्रह्मानन्दपूर्ण मूल कारण विष्णु हैं वह 'श्रीनिवास' पदसे सूचित किया है. उसने विश्व रचकर जो जो उदार पराक्रम(अवतार चरित्र आदि) किये उनका वर्णन कीजिये.

प्रकीर्ण इन प्रश्नोंका भगवान्की विभूतियोंके भेद जाननेकेलिये कीर्तन करना.

वर्णोंके और आश्रमोंके चार-चार प्रकारके भेद इन आठोंके(वर्ण ४ और

आश्रम ४-८) रूप, शील और स्वभाव जुदे-जुदे समझाकर कहिये, रूपका तात्पर्य आकारसे है, शीलसे आचार, स्वभावसे उनके अन्तःकरणके धर्म पूछे हैं. 'ऋषि' पदसे भृगु आदिकी उत्पत्तिका प्रकार, उनके कर्म, मन्त्रद्रष्टापन, वेदका विकर्षण अर्थात् वेदके विभाग(ये सर्व क्रमशः स्पष्टकर कहिये) ।।२७-२८।।

यज्ञस्य च वितानानि योगस्य च पथः प्रभो ।
नैष्कर्म्यस्य च सांख्यस्य तन्त्रं भागवतं स्मृतम्।।२९।।

श्लोकार्थः हे प्रभो ! यज्ञके प्रकारूके भेद, योगके मार्ग, निवृत्तिमार्ग, सांख्यशास्त्र, स्मृतियाूमृ प्रमाण माना गया भगवत्तन्त्र अर्थात् वैष्णवतन्त्र ।।२९ ।।

व्याख्याः सप्तदश यज्ञाूके प्रकार भेद, 'च' शब्दसे क्रतु एवं सत्राूमृ जो भेद हैं वह. योगके मार्गोंको. 'च' पदसे उन(योगमार्गों)के अङ्गके भेद. प्रभो! यह सम्बोधन देनेसे यह सूचित किया है कि मैत्रेयजीको सर्व ज्ञान है, 'नैष्कर्म्य' अर्थात् निवृत्तिमार्ग. 'साङ्ख्यस्य तन्त्रं' अर्थात् साङ्ख्यशास्त्र. 'भगवत् तन्त्र' अर्थात् वैष्णव तन्त्र. 'स्मृतं' पदसे यह सूचित किया है कि तन्त्ररूप स्मृतियाूमृ यह ही प्रमाण है याू कहा है ।।२९।।

पाषण्डपथवैषम्यं प्रतिलोमनिवेशनम् ।
जीवस्य गतयो याश्च यावतीर्गुणकर्मजाः।।३०।।

श्लोकार्थः पाषण्डीमार्गोंकी विषमता, प्रतिलोमाूकी उत्पत्ति अथवा उनका शास्त्रोपयोग, जीवकी गतियां, गुण और कर्मोंसे जितनी तथा जैसी हुई हैं ।।३० ।।

व्याख्याः सकल शास्त्राूमृ जो पाषण्डीमार्गोंसे विषमता(भेद) है वह कहना चाहिये, प्रतिलोम अर्थात् चांडाल आदिकी उत्पत्ति और उनकेलिये शास्त्रका उपयोग कहिये, स्वरूपसे, प्रकारसे, गुणसे और कर्मसे जीवकी गतियां अर्थात् जन्म लेनेके प्रकार कहिये ।।३०।।

धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तान्यविरोधतः ।
वार्तायादण्डनीतेश्च श्रुतस्य च विधिं पृथक् ।।३१।।

श्लोकार्थः अन्य पुरुषार्थसे विरोध न आवे इसी प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थोंके साधनाूकी वार्ताका, दण्डनीतिका और वेदाध्ययनके प्रकार पृथक्-पृथक्(कहिए)।।३१।।

व्याख्याः अन्य पुरुषार्थसे जैसे विरोध न आवे वैसे चाराू(धर्म, अर्थ,

काम और मोक्ष) पुरुषार्थके साधन बतलाइये. 'वार्ता' अर्थात् आजीविकाके अधिकारी भेदसे नव प्रकार हैं वे कहिये, इसी प्रकार दण्डनीतिके अर्थात् राजधर्मोंकी विधि(प्रकार-नमूने) कहिये. वेदाध्ययनका प्रकार और 'च'से उनके अंगोंके अध्ययनके प्रकार अथवा अर्थज्ञानके प्रकार, पृथक्-पृथक् अधिकारी भेदसे स्पष्ट कहिये ।।३१।।

श्राद्धस्य च विधिं ब्रह्मन् पितणां सर्गमेव च।
ग्रहनक्षत्रताराणां कालावयवसंस्थितिम्।।३२।।

श्लोकार्थ: हे ब्रह्मन्! श्राद्धकी विधि, पितरोंकी सृष्टि, ग्रह, नक्षत्र और तारागण, ज्योतिश्चक्रमें संस्थिति(कहिए) ।।३२।।

व्याख्या: श्राद्ध करनेकी विधि(प्रकार) और पितरोंकी सृष्टि भी कहिये, बुध आदि ग्रह. अश्विनी आदि नक्षत्र और तारागणका कालके अवयवरूप ज्योतिश्चक्रमें जैसी स्थिति है वह सम्पूर्ण रीतिसे कहिये ।।३२।।

दानस्य तपसो वापि यच्चेष्टापूर्तयोः फलम्।
प्रवासस्थस्य यो धर्मो यश्च पुंस उतापदि।।३३।।

श्लोकार्थ: दानका, तपस्याका और यज्ञ तथा पूर्त्त(कूप धर्मशालादि) आदिका फल, ये सब तथा परदेशमें जानेपर जो धर्म पालन किया जाय, वह और आपत्कालमें पुरुषको जिस तरह धर्मका पालन करना चाहिए वह भी कहो ।।३३।।

व्याख्या: दान आदिका फल और उनके करनेका विधान भी कहिये, मूल श्लोकमें 'वाऽपि' पद देनेका तात्पर्य यह है कि इन दानादिके फल एवं विधानके भेदोंमें जो भेद आपको मान्य हों वे ही कहिये.

'यज्ञ' जो अग्निमें होम प्रकारसे होते हैं वे सर्व, तथा 'पूर्त' अर्थात् कूप धर्मशाला आदि बनाने, 'प्रवासस्थ' परदेशमें जानेवालेके 'धर्म' वे ही हैं जो आपने पूर्व कहे हैं अथवा उसमें कुछ संकोच(कमी) करना पड़ता है और आपत् समयमें पुरुषका जो धर्म हो वह भी कहिये ।।३३।।

येन वा भगवांस्तुष्येद् धर्मयोनिः जनार्दनः।
संप्रसीदति वा येषाम् एतद् आख्याहि मेऽनघ!।।३४।।

श्लोकार्थ: हे निष्पाप! जिस कर्मसे धर्मयोनि जनार्दन भगवान् प्रसन्न होवें और जिन अधिकारियोंपर प्रसन्न होते हैं वह मुझे बताइए ।।३४।।

व्याख्या: जिस कर्मसे अथवा जिस तरह धर्मकर्ता, अविद्यानाश कर ज्ञानदाता भगवान् प्रसन्न होते हैं(होवें) उनकी(भगवान्की) प्रसन्नताका कारण उनका सन्तोषगुण है, सम्यक् प्रकारसे प्रसन्न होते हैं तब सन्तोषसे वरदान आदि देनेकेलिए तैयार होते हैं और जिन अधिकारियॄपर प्रसन्न होते हैं वे अधिकारी भी कहिये. अनघ! यह सम्बोधन देकर विदुरने यह स्पष्टता की है कि आप(मैत्रय) भगवान्के अभिप्रायको जानते हैं क्यॄकि आप निष्पाप हैं. निष्पापी ही भगवदभिप्रायको जान सकता है ।।३४।।

आभासार्थ: जो मैंने नहीं पूछा हो वह भी कृपाकर कहिए यॄ इस श्लोकमॄ कहता है:

अनुव्रतानां शिष्याणां पुत्राणां च द्विजोत्तम!।
अनापृष्टमपि ब्रूयु: गुरवो दीनवत्सला:।।३५।।

श्लोकार्थ: हे द्विजोत्तम! गुरुकी इच्छानुसार चलनेवाले शिष्यॄको और पुत्रॄको, दीनवत्सल गुरुजन, बिना पूछे हुए विषय भी समझाकर कहते हैं।।३५।।

व्याख्या: बालक गूढ़ विषयके प्रश्न करना नहीं जानते हैं, गुरुकी इच्छानुसार चलनेवाले शिष्यॄ को, जिन्हॄने गुरुआॄकी आधीनता स्वीकार की है अर्थात् गुरु जो कुछ कहे, उसे सत्य समझ उसकी खुशामत करनेवाले तथा ज्ञान प्राप्तिकी इच्छावाले ऐसे शिष्यॄको(उपदेश करना आवश्यक है). 'पुत्राणां' (पुत्रॄको), पद दृष्टांतरूपमॄ दिया है, जैसे पुत्रॄके, बिना पूछे पिता कहता (समझाता) है वैसे गुरु भी. द्विजोत्तम! सम्बोधनसे यह सूचित किया है कि आप जैसे पित्रादिसे शिक्षित होनेसे द्विजोत्तम बने हैं, इसी प्रकार मुझे शिक्षा दीजिये, बिना पूछा हुआ भी कहिये, यॄ कहनेसे सदाचार प्रमाण है, वह भी न बलसे किन्तु दयासे, इसलिये कहा है कि गुरु, दीनवत्सल है ।।३५।।

आभासार्थ: प्रलयको पृथक् पूछते हैं, जिसका वर्णन करते हैं :

तत्त्वानां भगवन् एषां कतिधा प्रतिसंक्रम:।
तत्रेमं क उपासीरन् क उस्विद् अनुशेरते।।३६।।

श्लोकार्थ: हे भगवान्! इन तत्त्वॄका कितने प्रकारसे प्रलय होता है? वहां इनकी कौन उपासना करते हैं और कौन लयको प्राप्त करते हैं।।३६।।

व्याख्या: इन तत्त्वॄका प्रलय कितने प्रकारसे होता है यह कहिये, क्यॄकि शास्त्रॄमॄ चार प्रकार आदि भेद बहुत तरहसे सिद्ध किये हैं. किञ्च प्रलयमॄ इन

भगवान्‌की उपासना कौन करते हैं और कौन लीन हो जाते हैं ।।३६।।

पुरुषस्य च संस्थानं स्वरूपं वाऽपरस्य च ।
ज्ञानं च नैगमं यत्तद् गुरुशिष्यप्रयोजनम् ।।३७।।

श्लोकार्थ: पुरुष और अन्यका नाश एवं स्वरूप कहिए. वेदमूं कहा हुआ ज्ञान तथा गुरु और शिष्य होनेका प्रयोजन भी कहिए ।।३७ ।।

व्याख्या: जीव और देह तत्त्वाूंके मध्य(जीव और देह तत्त्वाूंमूंसे) विराट् पुरुषका और 'च' पदसे कहे हुए अन्याूंका भी नाश तथा स्वरूप बताइए, दूसरे 'च' शब्द कहनेका भाव यह है कि स्पष्ट स्थिति भी विशेष प्रकारसे कहिए, तीन भेदवाली व्यष्टियाूंका ज्ञान भी कहना चाहिये. 'च' पदसे पूछा कि वैराग्य और वेदमूं कहा हुआ ज्ञान भी कहिये और गुरु तथा शिष्यकी आवश्यकताका प्रयोजन भी बताइये ।।३७।।

निमित्तानि च तस्येह प्रोक्तान्यनघ सूरिभिः ।
स्वतो ज्ञानं कुतः पुंसां भक्तिर्वैराग्यमेव च ।।३८।।

श्लोकार्थ: हे पापरहित! उस ज्ञानके साधन भी कहिए, जो ज्ञानियाूंने कहा है और उसकी प्राप्तिके कारण कहो एवं यह भी बताइए पुरुषाूंको स्वतः ज्ञान, भक्ति और वैराग्य किस प्रकार प्राप्त होता है ।।३८ ।।

व्याख्या: उस ज्ञान प्राप्तिके साधन कहिए, जिन साधनाूंसे यह देहमूं ही ज्ञान प्राप्त हो जावे तथा इस प्रकारसे ज्ञान प्राप्त होगा वह प्रकार भी बताइए और ज्ञानमूं जो-जो बाधाएं आती हैं वे भी कहिए. परम्परासे प्राप्त अर्थात् जिनको ज्ञानियाूंने कहा वे भी कहिए. दूसरे जो पक्षपाती होते हैं, तथा गुरुके अभावमूं स्वतः ज्ञान कैसे होता है, वह उपाय भी कहना चाहिए, इसी तरह भक्ति और वैराग्य भी स्वतः किस प्रकार प्राप्त होता है, जिसका भी उपाय कहिए ।३८।।

आभासार्थ: ये पदार्थ(प्रश्न) उपयोगी नहीं हैं. इस प्रकारके प्रश्न क्याूं करते हैं? इस शंकाका उत्तर निम्न श्लोकमूं कहते हैं:

एतान् मे पृच्छतः प्रश्नान् हरेः कर्मविधित्सया ।
ब्रूहि मेऽज्ञस्य मित्रत्वाद् अजया नष्टचक्षुषः ।।३९।।

श्लोकार्थ: मायावी नष्ट ज्ञानवाले अज्ञानी मैंने जो, कर्मोंको हृदयमूं स्थापन करनेकेलिए प्रश्न किये हैं उनका उत्तर दीजिए, क्याूंकि आप मेरे मित्र हैं ।।३९ ।।

व्याख्या: इन प्रश्नृका(जो मैंने किए हैं उनका) उत्तर मेरेलिए कहिए क्यृकि मैंने ये प्रश्न, भगवान्के कर्मोंको हृदयमृ चिन्तन करने एवं धारण करनेके लिए ही किए हैं. 'मे अज्ञस्य मित्रत्वात्' यह वाक्य पृथक्, हालांकि आप सबके मित्र हैं तो भी आपकी मैत्री उनके उपयोगमृ नहीं आ सकती है इसलिए आप मेरे लिए ही मित्र बनिए, कारण कि मायासे मेरे ज्ञान नेत्र नष्ट(बन्द) हो गये हैं अर्थात् इस विषयको मैं देख नही सकता हूं, अतः मित्रपनसे ज्ञान नेत्र दीजिये यों सम्बन्ध है. मोहिनी मायासे मेरा ज्ञान नष्ट हो गया है यृ कहनेसे विदुरने अपनी दीनता प्रकट की है ।।३९।।

आभासार्थ: सर्व दानृसे ज्ञानका दान उत्तम है क्यृकि ज्ञानसे जीवका भय मिट जाता है यृ फलकी उत्तमतासे ज्ञानकी स्तुति है, यृ कहनेकेलिए निम्न श्लोकमृ कहते हैं:

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चाऽनघ!।
जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि ।।४०।।

श्लोकार्थ: हे निष्पाप! सकल वेद, यज्ञ, तपस्या और ज्ञानसे जीवको अभय देनेवालेकी एक कलाके समान भी नहीं हैं ।।४० ।।

व्याख्या: 'सर्वे' पदका भावार्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पढ़े हुए वेद और पढ़ाये हुए वेद एवं किए हुए यज्ञ और कराए हुए यज्ञ, तपस्या और दान, 'च' पदसे यम-नियम बताए हैं. अनघ! यह सम्बोधन देनेका आशय है कि इस श्लोकमृ जो कुछ कहा है उसमृ मैत्रेयजीकी सम्मति है, जीवको अभय देनेवाले ज्ञानकी कलासे भी जो फल मिलता है वह फल वे उपर्युक्त सब दान मिलाकर भी नहीं दे सकते हैं ।।४०।।

आभासार्थ: इस प्रकार अनेक तरहके प्रश्नृके उत्तर देनेमृ मैत्रेयजीकी सम्मत्ति है वा नहीं? इस प्रकारके सन्देह होनेपर श्रीशुकदेवजी निम्न श्लोकमृ कहते हैं कि ये सर्व प्रश्न भगवच्चरित्र पर हैं अतः मैत्रेयजीको महान् हर्ष हुआ जिससे वह उत्तर दृगे :

श्रीशुकः उवाच
स इत्थम् आपृष्टपुराणकल्पः कुरुप्रधानेन मुनिप्रधानः।
प्रवृद्धहर्षो भगवत्कथायां सञ्चोदितः तं प्रहसन्निवाह ।।४१।।

श्लोकार्थ: श्रीशुकदेवजीने कहा कि कौरव मुख्य(विदुर)ने सकल प्रश्न जो किए हैं वे समग्र पुराणसे कुछ न्यून हैं, उनसे मुनियृमृ मुख्य मैत्रेयजीका हर्ष बढ

गया, उस हर्षने मुनिको भगवत्कथा करनेकी सम्यक्(पूरी तरहसे) प्रेरणा की, जिससे मुस्कराते हुए अर्थात् मुखसे अपनी प्रसन्नता प्रकट करते उसको(विदुरको) उत्तर देने लगे ।।४१ ।।

व्याख्या: विदुरजीने ऐसे एवं इसी प्रकारके प्रश्न किये हैं जिनके उत्तर, केवल किसी कथा वा प्रकरणसे नहीं दिये जा सकते किन्तु उनके उत्तरार्थ एक पुराण ही बनाना पड़ेगा. 'कुरु प्रधान' तथा 'मुनि प्रधान' पदसे श्रोता एवं वक्ताकी उत्कर्षता(श्रेष्ठता) प्रकट की है. मैत्रेयजीको हर्षकी वृद्धि इसलिए हुई कि अब मुझे भगवत्कथाके आनन्द पानेका अवसर मिला है, यह 'भगवत्कथायां संचोदितः' पदसे बताया है. सम्पूर्ण परिकर सहित प्रश्न करनेसे पूर्ण प्रेरणा की है. 'प्रहसन्निव' मानो मुस्कराते हुए पदसे मुख द्वारा अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे हैं अथवा पुराण कहनेका प्रसंग प्राप्त हुआ है. जिससे विदुरका अभिनन्दन करते हुए उत्तर देने लगे एवं भगवान्के सङ्कल्प-विकल्पात्मक मनका निरूपण किया ।।४१।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके अध्याय ७ की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.